"शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन"

डॉ० उमेश प्रसाद सिंह

"शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन"

डॉ० उमेश प्रसाद सिंह

शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्य
एक परिशीलन

लेखक
डॉ० उमेश प्रसाद सिंह
वरिष्ठ प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५

१९९९

कला प्रकाशन
बी० ३३/३३ ए-१, न्यू साकेत कालोनी,
बी०एच०यू०, वाराणसी-२२१००५

प्रकाशक :

कला प्रकाशन
बी. 33/33-ए-1, न्यू साकेत कालोनी
बी.एच.यू., वाराणसी- 2210 05

प्रथम संस्करण - 1999
ISBN - 87566 - 02-7

© लेखक द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य- रुपया 325-00 (रुपया : तीन सौ पचीस मात्र)

कम्प्यूटर अक्षर संरचना :

सरिता कम्प्यूटर्स
डी० ५६/४८ ए, औरंगाबाद, वाराणसी
फोन नं० ३५९५२१

मुद्रक :

इम्प्रेशन ग्राफिक्स प्राइवेट लिमिटेड
बी0 58 इन्द्रानगर, चितईपुर, वाराणसी

पुरोवाक्

प्रारम्भ में वेद एक ही था तथा उसका अध्ययन-अध्यापन श्रवण-परम्परा द्वारा प्रचलित था। इसीलिए वेद को श्रुति भी कहा जाता है। श्रुति का अर्थ है सुनकर याद रखना। वस्तुतः अध्यापन करते समय आचार्य पहले वेद मन्त्रों का आगे-आगे उच्चारण करता था तत्पश्चात् शिष्य गुरु का अनुकरण करते हुए उसी प्रकार उच्चारण करके वेद मन्त्रों को याद करते थे तथा अभ्यास द्वारा उन्हें पुष्ट करते थे। धीरे-धीरे कालक्रमानुसार लोगों की भौतिक सुखों में आसक्ति बढ़ने के कारण उनकी स्मरण करने की बौद्धिक शक्ति का क्रमशः ह्रास होता चला गया। कुछ समय के पश्चात् एक व्यक्ति को सम्पूर्ण वेद स्मरण रखना असम्भव सा हो गया। अतएव महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने एक ही वेद को चार भागों में विभक्त कर दिया— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद और उन्हें क्रमशः अपने चार शिष्यों पैल, वैशम्पायन, जैमिनी एवं सुमन्त को पढ़ाया। इस प्रकार एक ही वेद को चार विभागोंमें अध्ययनाध्यापन करने की परम्परा प्रचलित हुई। इस प्रकार शिष्य परम्परा के कारण ये वेद के चार विभाग भी शाखाओं तथा प्रशाखाओं में विभक्त हो गए।

उत्तरोत्तर भौतिक सुखों के प्रति आसक्ति में वृद्धि होने के कारण लोगों की स्मरण करने की बौद्धिक क्षमता का ह्रास होना क्रमशः चलता ही रहा। अतः वेद के चारों विभागों के यथावत सुरक्षित रखने के लिए वैदिक आचार्यों के मन में चिन्ता समाहित हुई। अतएव उनकी यथावत सुरक्षा हेतु आचार्यों ने विविध प्रकार के नियमों को निश्चित कर विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया। ये प्रणीत ग्रन्थ वेद के उपकारक होने के कारण वेदाङ्ग के नाम से अभिहित हुए। वे ये हैं— शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष। इसी क्रम में मन्त्रानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, सूक्तानुक्रमणी, आर्षानुक्रमणी इत्यादि ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ। यहाँ तक कि वेदों के एक-एक अक्षर को गिनकर लिख दिया गया।

वेदाङ्गों की प्रणयन-परम्परा के अन्तर्गत संहिताओं के बाह्य स्वरूप की सुरक्षा हेतु प्रातिशाख्य ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इसमें वैदिक भाषा में प्रयुक्त वर्णों, उनकी उच्चारण प्रक्रिया, संयोग के स्थलों पर होने वाले उच्चारण वैशिष्ट्य मन्त्रों में प्रयुक्त सन्धि, मन्त्रों के पदों के सम्यक् अवबोध के लिए पदपाठ तथा मन्त्रों के संहिता तथा पद— दोनों का एक साथ बोध कराने वाले क्रमपाठ के विषय में समुचित विधान किया गया है। इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों के बाह्य स्वरूप की सुरक्षा के लिए प्रातिशाख्य

की उपयोगिता स्वतः सिद्ध है। वैदिक ध्वनि-विज्ञान-विषयक सम्पूर्ण तथ्य इसमें समाहित हैं।

'शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखं भवमिति प्रातिशाख्यम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर कतिपय वैदिक विद्वान् प्रातिशाख्य का सम्बन्ध विशेष से स्वीकारते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार प्रातिशाख्यों की संख्या उतनी ही होनी चाहिए जितनी वेदों की शाखाएँ हैं। किन्तु कुछ विद्वान् 'प्रतिशाखम्' का अर्थ चरण विशेष मानकर प्रातिशाख्य का सम्बन्ध चरण विशेष से मानते है।

सम्प्रति उपलब्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थ ये हैं— ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य, चतुरध्यायिका, ऋक्तन्त्र, अथर्ववेदप्रातिशाख्य। ऋग्वेद-प्रातिशाख्य ऋग्वेद से, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य कृष्णयजुर्वेद से, शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य शुक्लयजुर्वेद से, चतुरध्यायिका तथा अथर्ववेद प्रातिशाख्य अथर्ववेद से एवम् ऋक्तन्त्र सामवेद से सम्बन्धित है।

सूत्र-शैली में उपनिबद्ध होने के कारण प्रातिशाख्य ग्रन्थों में प्रतिपादित तथ्यों का सम्यक् अवबोध अत्यन्त कठिन तथा श्रमसाध्य है। किन्तु ये तथ्य वैदिक संहिताओं के ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक, उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण हैं। इसी कारण इन ग्रन्थों पर कार्य करने की मेरी अभिरुचि हुई। परिणामस्वरूप शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य एक परिशीलन नाम से शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्खलन मानव स्वभाव है। अतः मैं अपने को परिपूर्ण नहीं समझता। अस्तु ग्रन्थ में हुई त्रुटियों के लिए वैदिक विद्वानों के सुझाव के लिए मैं आभारी रहूँगा जिससे अगले संस्करण में संशोधन किया जा सके।

इस ग्रन्थ की पूर्णता के लिए जिन विद्वानों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है उनके प्रति मैं आजीवन सदा ऋणी रहूँगा। अस्तु

डॉ॰ उमेश प्रसाद सिंह

संस्कृत-विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
निर्जला एकादशी सन् १९९९ ई॰

विषय-सूची

भूमिका : १-३०

वेद का महत्त्व १, वैदिक संहिता ग्रन्थ १, संहिताओं की संख्या २, वेदों की शाखाएँ २, यजुर्वेद की महनीयता ३, यजुर्वेद के सम्प्रदाय ४, यजुर्वेद के शुक्लत्व एवं कृष्णत्व का कारण ५, शुक्ल यर्जुवेद की शाखाएँ ६, प्रातिशाख्यों का उद्भव ७, प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति ८, प्रातिशाख्य ग्रन्थों का काल १०, प्रातिशाख्य की पर्यायवाची संज्ञा ११, प्रातिशाख्य ग्रन्थों की संख्या ११, प्रातिशाख्यों का प्रयोजन १२, प्रातिशाख्यों के विषयवस्तु १३, प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त परिचय १४, ऋग्वेदप्रातिशाख्य १४, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १५, वाजसनेयि प्रातिशाख्य १६, चतुरध्यायिका १६, अथर्ववेद प्रातिशाख्य १६, ऋक्तन्त्र १७, प्रातिशाख्यों का पौर्वापर्य १७, वाजसनेयि प्रातिशाख्य १९, वाजसनेयि प्रातिशाख्य के मुख्य विषय २०, वाजसनेयि प्रातिशाख्य के निर्माण में अपनाई गई पद्धति २२, वाजसनेयि प्रातिशाख्य की विशेषताएँ २३, सूत्रकार कात्यायन और उनकी रचनाएँ २४, वासजनेयि प्रातिशाख्य की टीकाएँ २७, भाष्यकार उवट और उनकी कृतियाँ २७, उवट का काल २८, भाष्यकार अनन्त और उनकी कृतियाँ २९, अनन्त भट्ट का काल २९।

प्रथम अध्याय : संज्ञा परिभाषा प्रकरण ३१-५२

उपधा ३२, नति ३२, सवर्ण ३२, सिम् ३२, सन्ध्याक्षर ३३, भावी ३३, व्यञ्जन ३३, संयोग ३४, जित् ३४, मुत् ३४, धि ३४, सोष्म ३५, ह्रस्व ३६, दीर्घ ३६, प्लुत ३६, अणु ३७, परमाणु ३७, अनुनासिक ३७, प्रगृह्य ३८, अक्षर ३८, उदात्त ३९, अनुदात्त ३९, स्वरित ३९, लोप ४०, आम्रेडित ४०, स्थितोपालित ४०, अपृक्त ४१, संहिता ४१, असंहित ४१, संहित ४२, रिफित् ४२, पद ४४, स्वर ४४, अन्तःस्था ऊष्म ४४, वा०प्रा० में विहित परिभाषाएँ ४४, वर्ण निर्देशक ४४,

ग्रहण निर्देश ४६, विभक्ति निर्देश ४६, स्थान निर्देश ४८, यथासन्न नियम ४८, यथासंख्य नियम ४८, सन्निकृष्ट नियम ४९, उत्तर नियम ५०, बलवन्नियम ५०, आद्यन्तवद्भाव ५१।

द्वितीय अध्याय : वर्ण समाम्नाय प्रकरण ५३-६४

वर्ण समाम्नाय ५३, वर्ण समाम्नाय का उपदेश ५३, वर्णों की संख्या ५३, वा०प्रा० में स्वीकृत वर्णसमाम्नाय ५४, वर्णमाला का दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजन ५४, वर्णों के दो श्रेणियों में विभाजन का आधार ५५, स्वर और व्यञ्जन वर्णों का बलाबल ५५, आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों का मत एवम् उसकी समीक्षा ५७, स्वर ५८, स्वरों का विभाजन ५८, व्यञ्जन ५९, व्यञ्जनों का विभाजन ५९, स्पर्श ५९, अन्तःस्थ ६०, ऊष्म ६१, अयोगवाह ६१, जिह्वामूलीय ६१, उपध्मानीय ६२, अनुस्वार ६२, विसर्जनीय ६३, नासिक्य ६३, यम ६४, सारांश ६४।

तृतीय अध्याय : वर्णोच्चारण प्रकरण वैदिक शुद्ध उच्चारण की परम्परा ६५-१०२

उच्चारणावयवों का परिचय ६७, फेफड़े ६७, स्वरयन्त्र तथा श्वाँस नलिका ६७, मुख ६८, जिह्वा ६८, तालु ६८, ओष्ठ ६९, दन्त ६९, वर्णोच्चारण में वायु की उपादेयता ६९, वर्णोच्चारण में प्रयत्न ७०, बाह्य प्रयत्न ७१, आभ्यन्तर प्रयत्न ७१, आभ्यन्तर प्रयत्न के प्रकार ७२, संवृत ७२, विवृत ७२, अस्पृष्ट ७२, स्पृष्ट ७२, ईषत्स्पृष्ट ७३, अर्धस्पृष्ट ७३, आभ्यन्तर प्रयत्न का प्रयोजन ७४, वर्णों के उच्चारण में स्थान तथा करण ७४, स्वर वर्णों के उच्चारण में स्थान तथा करण ७५, व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण स्थान तथा करण ७८, अन्तःस्था वर्णों का उच्चारण स्थान तथा करण ७९, ऊष्म वर्णों का उच्चारण स्थान तथा करण ८०, अयोगवाह वर्णों का उच्चारण स्थान तथा करण ८१, उच्चारण स्थान के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण ८३, करण के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण ८५, वर्णों के उच्चारण में काल ८६, मात्रा निरूपण ८७, उच्चारण काल

के आधार पर स्वरों का विभाजन ८७, ह्रस्व ८७, दीर्घ ८७, प्लुत ८८, व्यञ्जनों का उच्चारण काल ८८, कतिपय वर्णों के स्वरूप पर विशेष विचार ८९, ऋ और ऌ का स्वरूप ८९, सन्ध्यक्षरों का स्वरूप ८९, अनुस्वार का स्वरूप ९०, संयोगविषयक उच्चारण वैशिष्ट्य ९१, द्वित्व ९१, यम का स्वरूप ९५, यम का ध्वनि वैज्ञानिक आधार ९५, यम का उच्चारण स्थान ९६, यमों की संख्या ९६, यमापत्ति दोष ९७, स्फोटन ९७, स्वरभक्ति ९८, अभिविधान ९८, अक्षर का स्वरूप ९८, अक्षर का आधार ९९, अक्षर के प्रायोगिक भेद १००, गुरु १००, लघु १०१, अक्षर विभाजन के नियम १०१।

चतुर्थ अध्याय : सन्धि प्रकरण १०३-१५६

प्रकृति विकृति भाव विचार १०३, संहिता का लक्षण १०५, संधि और संस्कार १०५, संधि के प्रकार १०५, संधिविषयक परिभाषा १०६, पदान्तीयवर्ण १०७, लोप-सन्धि १०९, आगम ११२, ऋ ऌ सदृश श्रुति का आगम ११२, ककार एवं तकार का आगम ११३, चकार का आगम ११३, रेफ का आगम ११३, शकार का आगम ११३, षकार का आगम ११३, सकार का आगम ११४, वर्ण विकार ११५, स्वर वर्णों के विकार ११५, एकीभाव ११५, सवर्ण दीर्घ विधान ११५, एकार ओकार विधान ११६, ऐकार औरकार विधान ११६, आ एवम् आर् विधान ११७, अन्तःस्थीभाव ११७, अयादिभावविकार ११७, अभिविधान (पूर्वरूप) ११८, पूर्वपद मूलक अभिनिधान ११९, उत्तरपद मूलक अभिनिधान १२०, द्विपदमूलक अभिनिधान १२१, यज्ञप्रकरणमूलक अभि-विधान १२१, सङ्क्रमपाठमूलक अभिविधान १२२, ह्रस्वभाव १२३, दीर्घभाव १२३, सांहितिक दीर्घ विधान १२४, स्वरमूलक दीर्घ भाव १२८, यज्ञप्रकरणमूलक दीर्घ भाव १२९, दीर्घ का निपातन १२९, दीर्घभाव के अपवाद १२९, व्यञ्जन वर्णों के विकार १३०, प्रथम स्पर्श का द्वितीय स्पर्शमात्र१३०, प्रथम स्पर्श वर्ण का तृतीय स्पर्श भाव १३०, अपञ्चमस्पर्श का प्रथम स्पर्शभाव १३१,

अपञ्चम स्पर्श का पञ्चम स्पर्श १ ३ १, जकार का यकार भाव १ ३ १, ट वर्ग के विकार १ ३ १, तवर्ग के विकार १ ३ २, नकार और मकार के विकार १ ३ २, उपधानुनासिकता सहित नकार के विकार १ ३ ३, उपधानुनासिकतारहित विकार १ ३ ५, नकार का लोप १ ३ ५, नकार विकार के अपवाद १ ३ ६, उपधानुनामिकता सहित मकार के विकार १ ३ ७, उपधानुनासिकतारहित मकार के विकार १ ३ ८, मकार का सानुनातिक अन्तःस्थभाव १ ३ ८, मकार का स्पर्शीय परपञ्चमभाव १ ३ ८, मकार का प्रकृतिभाव १ ३ ९, ऊष्म वर्णों के विकार १ ३ ९, वा०प्रा० में मूर्धन्यभाव का विधान १ ४ ०, नकार का मूर्धन्यभाव १ ४ ०, निपातन से नकार का मूर्धन्य भाव १ ४ ०, नकार मूर्धन्यभाव के अपवाद १ ४ १, सकार का मूर्धन्यभाव १ ४ २, निपातन से सकार का मूर्धन्यभाव १ ४ ५, सकार के मूर्धन्यभाव का अपवाद १ ४ ५, तकार और थकार का मूर्धन्यभाव १ ४ ६, विसर्जनीय के विकार १ ४ ६, ओकारभाव १ ४ ७, विसर्जनीयका यकार भाव १ ४ ८, विसर्जनीय का रेफ भाव १ ४ ८, विसर्जनीय का शकारभाव १ ४ ९, विसर्जनीय का षकार भाव १ ४ ९, विसर्जनीय का सकारभाव १ ५ ०, विसर्जनीय का पर सवर्णभाव १ ५ ३, विसर्जनीय का अविकार भाव १ ५ ३, विसर्जनीय का जिह्वामूलीय एवम् उपध्मानीय भाव १ ५ ३, विसर्जनीय का प्रकृतिभाव १ ५ ३, विसर्जनीय का लोपभाव १ ५ ३, प्रकृतिभव १ ५ ५, प्रगृह्यसंज्ञा १ ५ ५, प्रकृतिभावसन्धि के नियम १ ५ ५, प्रकृतिभाव का अवपाद १ ५ ६।

पञ्चम अध्याय : स्वर-प्रकरण १५७-२०९

स्वरों की महत्ता १ ५ ७, स्वर परिचय १ ५ ८, स्वर शब्द का अर्थ १ ५ ९, वा०प्रा० में स्वरविषयक विधान १ ६ ०, स्वरसंख्या १ ६ ०, सप्तस्वर १ ६ ०, तीन स्वर १ ६ १, दो स्वर १ ६ २, एक स्वर १ ६ २, उदात्तादिस्वरों का परिचय १ ६ ४, उदात्त १ ६ ४, अनुदात्त १ ६ ५, स्वरित १ ६ ७, स्वरित के भेद १ ६ ८, सन्धिज स्वरित १ ६ ९, अभिनिहित स्वरित १ ७ ०, क्षैप्रस्वरित १ ७ ०, प्रश्लिष्ट स्वरित १ ७ १,

असन्धिज (जाल) सवरित १७२, सामान्य स्वरित १७३, तैरोव्यञ्जनस्वरित १७५, तैरोविरामस्वरित १७६, पादवृतत्त स्वरित १७७, ताथाभाव्यस्वरित १७७, स्वरित स्वर का उच्चारण प्रयत्न १७८, कम्प १७९, प्रचय १८०, उदात्त और प्रचय १८१, स्वरित एवं प्रचय १८२, स्वरों की सन्धि १८२, उदात्त सन्धि १८३, स्वरित सन्धि १८४, अनुदात्त सन्धि, १८४, शुक्ल यजुर्वेद में स्वराङ्कन पद्धति १८५, स्वरों का हाथ से प्रदर्शन १८६, स्वर की दृष्टि से पदों के भेद १८७, सर्वोदात्त पद १८८, आद्युदात्त पद १८८, पदमूलक आद्युदात्त १८८, उत्तरपद मूलक आद्युदात्तपद १९०, पदस्वरूपमूलक आद्युदात्त १९१, पदस्वरूपमूलक एवम् अर्थप्रतिबन्धित आद्युदात्त १९१, अन्तोदात्तपद १९४, पूर्वपदमूलक अन्तोदात्त १९४, उत्तरपदमूलक अन्तोदात्त १९५, पूर्वोत्तरपदमूलक अन्तोदात्त १९६, अर्थप्रति- बन्धित अन्तोदात्त १९६, द्वयुदात्तपद १९७, त्र्युदात्तपद १९८, सर्वानुदात्तपद १९८, पूर्वपदमूलक अनुदात्त १९८, अर्थप्रतिबन्धित अनुदात्त २००, विशेषप्रदीप अनुदात्त २०१, विधान परिशेषमूलक अनुदात्त २०१, आख्यातपदानुदात्त २०२, उपसर्गपदानुदात्त २०६, उपसर्ग का प्रकृतिस्वर २०७, निपात पदानुदात्त २०९।

षष्ठ अध्याय : पदपाठ-प्रकरण २१०-२२६

इतिकरण २१०, अवग्रह २१२, अवग्रह के स्थल २१२, अवग्रह के अपवाद अथवा निषेध २१७, संक्रम २२०, संक्रम के स्थल २२०, कतिपय विशिष्ट पदों का स्वरूप २२३।

सप्तम अध्याय : क्रमपाठ-प्रकरण २२७-२३१

क्रमपाठ का प्रयोजन २२७, क्रमपाठ के निर्माण के नियम २२७, क्रमपाठ में स्थितोपस्थित २२८, क्रमपाठ में इति के साथ सन्धि २३०।

भूमिका

वेद का महत्त्व

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद सृष्टि क्रम की प्रथण वाणी है।[१] इस चराचर विश्व का धारण एवं पोषण भी शाश्वत् वेद शब्दराशि के द्वारा ही होता है।[२] इस वैज्ञानिक युग में भी समस्त भूभाग के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही माने गये है। मानव जाति के इतिहास के ज्ञान के लिए, भारतीय संस्कृति को समझने के लिए एवं भाषा-विज्ञान के तथ्यों को सुलझाने के लिए वेदों का अध्ययन एवं परिशीलन अत्यन्त आवश्यक है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ होने के कारण विश्व की समस्त संस्कृतियों का उद्गम स्थल वेदों को ही माना जा सकता है। अतएव मानव-जाति के इतिहास, संस्कृति एवं भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए वेदों का अध्ययन एवं परिशीलन आवश्यक है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के उद्गम स्थल वेद सतत् व्याख्यात होने पर भी रहस्यमय है, और अपनी ज्ञान-गरिमा के कारण आदरणीय हैं। अतः वेदों के मौलिक सिद्धान्तों एवं तथ्यों के ज्ञान के लिए वेदानुशीलन विशेष उपयोगी है।

वैदिक संहिता-ग्रन्थ

सामान्यतया वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र और ब्राह्मण—इन दोनों के लिए किया गया है।[३] किन्तु मन्त्ररूप वैदिक शब्दराशि का मुख्य सङ्कलन संहिता के नाम से पुराकाल से व्यवहृत होता आया है। वेद के ब्राह्मण भाग में मन्त्र भाग की व्याख्या ही प्रस्तुत की गयी है। आचार्य भट्ट भास्कर के मतानुसार कर्म तथा कर्म में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों के व्याख्यान ग्रन्थ को ही ब्राह्मण कहा गया है।[४]

---

१. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१८।। —— वाणीयं वेदसंज्ञिता।
भयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता।।--श्रीमद्भागवत ११।१४।३

२. विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये।----।।---मनुस्मृति १२।९९

३. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।--आप०परि० ३१

४. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मत्राणां च व्याख्यानग्रन्थः। तै० सं० १।५।१ पर भाष्य।

संहिताओं की संख्या

भारतीय वाङ्मय में यह बतलाया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ऋग्यजुः साम अथर्वात्मक शब्द वेद एकत्र संकलित था। मन्त्रों के याज्ञिक प्रयोग को दृष्टि में रखते हुए महर्षि व्यास ने ब्रह्म-परम्परा से प्राप्त एकात्मक वेद का चार मन्त्र संहिताओं में विभाजन कर दिया। इन चार विभाजनों में हौत्र कर्म के उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओं का संकलन ऋग्वेद के नाम से, यज्ञ के आध्वर्यव कर्म के उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओं का संकलन यजुर्वेद के नाम से, औद्गात्र कर्म के उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओं का संकलन सामवेद के नाम से एवं शान्तिक पौष्टिक अभिलाषाओं के उपयोगी मन्त्र एवं क्रियाओं का संकलन अथर्ववेद के नाम से किया। सम्प्रति वर्तमान वेद शब्दराशि का वैवस्वत मन्वन्तर में कृष्ण द्वैपायन महर्षि[३] व्यास द्वारा यह २८वां विभाजन है। पौराणिक मान्यता के अनुसार इकहत्तर चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक चतुर्युगी के अन्तर्गत द्वापर युग की समाप्ति में विशिष्ट तपः सम्पन्न महर्षि के द्वारा एकात्मक वेद का चार विभाजन अनवरत होता रहता है।[१] यह विभाजन कलियुग के लिए होता है और कलियुग के अन्त तक ही रहता है। सम्प्रति मन्वन्तरों में सप्तम वैवस्वत नामक मन्वन्तर का यह २८वां कलियुग है। इसके पर्व २७ कलियुग एवं २७ ही वेद विभाजक वेदव्यास हो चुके हैं।[२] वेदों का यह २८वां विभाजन महर्षि पाराशर के पुत्र कृष्ण द्वैपायन के द्वारा किया गया है।[३] वेदों का विभाजन करने के कारण ही उस महर्षि को वेद व्यास भी कहते हैं।

वेदों की शाखायें

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने वेद का चार विभाग करके उसे अपने चार शिष्यों को पढ़ाया। उनमें से पैल नामक ऋषि को ऋग्वेद, वैश्म्पायन नामक ऋषि को यजुर्वेद जैमिनि नामक ऋषि को सामवेद एवं सुमन्त नामक ऋषि को अथर्ववेद पढ़ाया।[४] श्रीमद्भागवत के अनुसार

---

१. चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरान्ते महर्षिभिः।
वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन्हृदिस्थाच्युतचोदिताः।। —भा० १२।६।४६-४७

२. द्र० ब्रह्माण्डपुराण २।३५।११६-१२४
द्र० वायुपुराण २३वां अध्याय।

३. अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन्भगवाँल्लोकभावनः।
पराशरात्सत्यवत्यामंशाशकलया विभुः।
अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम्। — भा० १२।६।४६-४९

४. तत्रग्विद्धरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।। — भा० १।४।२१

वेद का यह चार विभाजन भी कालान्तर में मानव की धारणा शक्ति, बुद्धि आदि की ह्रासोन्मुखता के कारण जब दुर्ग्राह्य होने लगा तब पैल, वैशम्पायन आदि व्यास के शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने वेद को कई शाखाओं में विभक्त कर दिया।[1] इस प्रकार के विभाजन से प्रत्येक वैदिक शाखा का साम्प्रतिक मानव-ग्राह्य रूप बन गया। प्रत्येक शाखा अपने में पूर्ण है, उसे अन्य किसी भी शाखा की अपेक्षा नहीं है।[2] शाखाएं इस प्रकार किसी वेद का एक भाग नहीं है क्योंकि प्रत्येक शाखा किसी अन्य शाखा की अपेक्षा नहीं रखती तथा निरपेक्ष होकर स्वोपदिष्ट कर्मों का पूर्ण विधान करती हैं, अतएव एक शाखा का अध्ययन ही उस वेद का पूरा अध्ययन माना जाता है।[3] महाभाष्यकार के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखाएं, यजुर्वेद की १०१ शाखाएं, सामवेद की १००० शाखाएं तथा अथर्ववेद की ९ शाखाएं हैं[4]। आज समस्त शाखाएं उपलब्ध नहीं हैं। इनमें से अधिकांश शाखाएं विनष्ट हो गई है। आजकल निम्नलिखित शाखाओं की संहितायें प्राप्त हैः यथा— ऋग्वेद में २ शाकल, शांखायन।[5] यजुर्वेद (शुक्ल) में २- काण्व, माध्यन्दिन। यजुर्वेद (कृष्ण) में ४- तैत्तिरीय, मैत्रायणी कठ और कपिष्ठल कठ (अंशतः उपलब्ध)। सामवेद में ३-कौथुम, जैमिनीय, राणायनीय। अथर्ववेद २ में शौनक, पैप्पलाद (अंशतः उपलब्ध)

यजुर्वेद की महनीयता

निरुक्तकार यास्क के मतानुसार यजुष् शब्द यज् धातु से निष्पन्न होता है। यज्ञ के स्वरूप का जिससे निर्माण होता है वह यजुर्वेद है।[6] आचार्य सायण के मतानुसार यजुर्वेद आधार की स्थानीय भित्ति है, ऋग्वेद, सामवेद उस पर आश्रित चित्र स्थानीय हैं। अतएवं

---

१. त एव ऋषयों वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन्।
त एव वेदादुर्मेधे धार्यन्ते पुरुषैर्यथा।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपण वत्सलः ।।-भा० १।४।२३-२४

२. नात्र शाखा-शब्दो वेदावयववाची भवितुमर्हति सर्वासामपि शाखानां शाखान्तरनिरपेक्ष्येण यावदपेक्षितार्थावबोधकत्वात्।-का० श्रौ० भू पृ०१२।

३. अतएव च एकशाखाध्ययनेनैव एकस्य वेदस्य समग्राध्ययनम्।
—का०श्रौ०भू०पृ०१२।

४. एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाथर्वणो वेदः।-- म० भा० पस्पशाह्निक।।

५. यह शाखा राजस्थान पुरातत्त्व शोध संस्थान जयपुर से उपलब्ध हुई है।

६. यजुर्यजेत। नि० ७।१२---यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।---ऋ० १०।७१।११

यज्ञ प्रक्रिया में यजुर्वेद की प्रधानता है।[१] दूसरे शब्दों में यह बतलाया गया है कि यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ शरीर का निर्माण होता है, और तब उस पर ऋग्वेद से क्रियमाण कार्य कटक कुण्डलादि आभूषणवत् सुशोभित होते हैं तथा सामवेदीय गायन मुक्तादि की शोभा करते हैं।[२] इस प्रकार यज्ञ स्वरूप निर्माण की दृष्टि से यजुर्वेद का स्थान सर्वोपरि है। यजुर्वेद में उन याज्ञिक मन्त्रों का जो प्रायः गद्यात्मक हैं और जिनमें अक्षरों की संख्या नियत नहीं है। अतएव प्राचीन आचार्यों ने यजुर्वेद का लक्षण स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि ऋग्-गीतिर्वर्जित्वेन प्रश्लिष्टपठितमन्त्राः यजूँषि (ऋ०भा०भू० ३८ पृ०) शेषे यजुः शब्दः (जै०सू०२।१।३७)।

प्राच्य एतिहासिक विचारधारा के अनुसार भारतीय धर्म के इतिहास में यजुर्वेद के प्राकट्य से नया युग आरम्भ होता है। अतएव याज्ञिक उपासना के रूप में विकसित होने वाले प्राचीन भारतीय धर्म की दृष्टि से यजुर्वेद अन्य वेदों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिष्ठाशाली सिद्ध होता है।

यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय

यज्ञ को मूर्त्त स्वरूप प्रदान करने वाले यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं—[३] (१) ब्रह्मसम्प्रदाय (२) आदित्यसम्प्रदाय।

(१) ब्रह्मसम्प्रदाय

अन्य वेदों की तरह यजुर्वेद भी महर्षि कृष्ण द्वैपायन को ब्रह्मा की परम्परा से प्राप्त हुआ था। इस ब्रह्म परम्परा से प्राप्त यजुर्वेद की महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने अपने शिष्य वैशम्पायन को पढ़ाया था। वैशम्पायन द्वारा अधीत यजुर्वेद (८६ शाखाओं का एकत्रित वाङ्मय) कृष्ण यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः; चित्रस्थानीयावितरौ,
तस्मात्कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्। तै०भू० पृ०७।।

२. जातदेहे भवत्यस्य कटकादिविभूषणम्।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा।।
यजुर्यजति यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणाम्।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः।।

— सा० भू० १२-१३ श्लो० पृ०६३।

३. स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी। शाबर-भाष्य १।१।३०
यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति। --च० व्यू०२।।

(२) आदित्यसम्प्रदाय

महर्षि याज्ञवल्क्य ने जो यजुर्वेद (कृष्णयजुर्वेद से इतर १५ शाखाओं का एकत्रित वाङ्मय) भगवान् आदित्य से पढ़ा था वह शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है। आदित्य से प्राप्त होने के कारण शुक्लयजुर्वेद आदित्यसम्प्रदाय का है।

यजुर्वेद के शुक्लत्व एवं कृष्णत्व का कारण

यजुर्वेद के शुक्ल एवं कृष्ण होने के विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेक स्थलों में मिलता है जिसका सारांश यह है कि किसी कारण वश क्रुद्ध हुए गुरुवैशम्पायन ने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य को यह आदेश दिया कि मुझसे अधीत वेद-विद्या को तुरन्त वापस कर दो। गुरु वैशम्पायन के शाप के डर से शिष्य याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुषों का वमन कर दिया। गुरु के आदेश से अन्य शिष्यों ने उसे तित्तिर का रूप धारण करके उन यजुषों को ग्रहण किया। इस प्रकार तित्तिर रूप में ग्रहण किया गया यजुर्वेद तैत्तिरीय (कृष्णयजुर्वेद) नाम से प्रसिद्ध हुआ। आदित्य को प्रसन्न करके याज्ञवल्क्य ने सूर्य से शुक्लयजुर्वेद को प्राप्त किया। इस प्रकार आदित्य से प्राप्त होने के कारण यह शुक्ल यजुर्वेद कहलाया। वैशम्पायन ऋषि द्वारा अध्यापित यजुर्वेद में कृष्णत्व के निम्न कारण है।

१. बुद्धि-मालिन्य

आचार्य सायण ने काण्वभाष्यभूमिका में कृष्णत्व का कारण ग्रहण-कर्त्ता शिष्यों की बुद्धि-मलिनता बतलाया है क्योंकि इसमें आध्वर्यव और हौत्र-कर्म का अव्यवस्था से उपदेश किया गया है।[१]

२. मन्त्र-ब्राह्मणों का संकीर्ण पठन

कृष्णयजुर्वेद की प्रायः समस्त शाखाओं के संहिताग्रन्थों में ब्राह्मण भाग का समावेश बीच-बीच में पर्याप्त रूपेण है। इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेद के ब्राह्मण भाग में मन्त्र भाग का समावेश भी पर्याप्त रूपेण है। अन्य वेदों तथा शुक्लयजुर्वेद में भी मन्त्र और ब्राह्मण भाग स्पष्ट रूप से अलग-अलग हैं। अतः मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदभाग की सम्मिश्रित उपलब्धि कृष्णयजुर्वेद कहलाता है।[२]

३. उपाकर्म में कृष्णपक्ष का ग्रहण

उपाकर्म का कार्य वेदाध्यायियों के लिए प्रतिवर्ष श्रावणशुक्ल पूर्णिमा के दिन करने का विधान है। तैत्तिरीयों द्वारा उपाकर्म में भाद्रपद कृष्णपक्षीय प्रतिपदायुक्त पूर्णिमा का ग्रहण

१. द्र० का० भू० पृ० १०३, ९-१०२ श्लोक।

२. द्र० वै० वा० इ० १।१९६ पृ०।

किया जाता है। अतः उपाकर्म दिन के निर्णय में कृष्णपक्ष को प्रमुखता देने के कारण तैत्तिरीय कृष्णयजुः कहलाते हैं।[1]

शुक्लयजुर्वेद की शाखाएँ

श्रीमद्भागवत आदि पुराणों के अनुसार याज्ञवाल्क्य ने शुक्लयजुर्वेद को १५ शाखाओं में विभक्त करके पन्द्रह शिष्यों को पढ़ाया।[2] भविष्य में इन्हीं शिष्यों के नाम से पन्द्रह शाखाओं का नाम पड़ा। सायणाचार्य के अनुसार १५ शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं (१) काण्व (२) माध्यन्दिन (३) शापेय (४) तापायनीय (५) कापाल (६) पौण्ड्रवत्स (७) आवटिक (८) परमावटिक (९) पाराशर्य (१०) वैधेय (११) वैनेय (१२) औधेय (१३) गालब (१४) बैजब (१५) कात्यायनीय। इनमें सम्प्रति काण्व एवं माध्यन्दिन ये दो शाखाएं ही उपलब्ध हैं।

काण्व शाखा

बौधायन पुत्र[3] कण्वमहर्षि के द्वारा जिस शाखा का प्रचार-प्रसार किया गया वह काण्व शाखा है। कण्व याज्ञवल्क्य के प्रथम शिष्य थे, अतः इस शाखा को प्रथम शाखा भी कहते हैं।[4] इस शाखा की संहिता में ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक तथा २०८६ मंत्र है। माध्यन्दिन संहिता की अपेक्षा इसमें १११ मंत्र अधिक हैं। इस शाखा का ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथ-ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है किन्तु इसमें १०४ अध्याय हैं। इस शाखा का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद या ईशावास्योपनिषद् कहा जाता है तथा शतपथब्राह्मण के चौदहवें काण्ड के अन्तर्गत बृहदारण्यक भाग को बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। ये अपने दार्शनिक विचार गाम्भीर्य के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस समय इस शाखा के कतिपय कुल बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, तामिलनाडु, आन्ध्र, कर्णाटक में है। काण्व संहिता पर आचार्य सायण ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा है। इस शाखा के अनुयायी माध्यन्दिनियों द्वारा परिगृहीत

---

१. यजूँष्ययातयामानि मुनये दात्प्रसादितः।
यजुर्भिरकारोच्छाखां दश पञ्च स तैर्विभुः।।
जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः।
— भा० १२।६।७३-७४

२. काण्व भा० भू० पृ० १०४, च० व्यू० २ खण्ड, वायु० पु० ६१ अध्याय।

३. बौधायनपितृत्वाच्च प्रशिष्यत्वाद् बृहस्पतेः।
शिष्यत्वाद्याज्ञवाल्क्यस्य कण्वो भून्महतो महान्।।
— आदित्य पुराण (द्र० सातवलेकर काण्व सं० भूमिका पृ० १४)

४. जगृहुवजिसयस्ता काण्वमाध्यन्दिनादयः। -भा० १२।६।७४

शिक्षा, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, प्रातिशाख्य, छन्दः सूत्र ग्रन्थों को ही अपनाते हैं।[1]

२. माध्यन्दिन-शाखा

माध्यन्दिन महर्षि के द्वारा जिस शाखा का प्रचार-प्रसार किया गया वह माध्यन्दिन शाखा है। इस शाखा में कतिपय वर्णों के उच्चारण की विलक्षणता है साथ ही हस्त द्वारा स्वरों के प्रदर्शन में भी इसकी प्रमुख विशेषता है। उच्चारण सम्बन्धी मात्राकाल में विलम्बित वृत्ति होने के कारण इस शाखा के पाठ को दीर्घ पाठ कहा जाता है।[2] इस संहिता में ४० अध्याय, पूर्व एवं उत्तर विंशतिरूप का विभाग, ३०३ अनुवाक तथा १९७५ मंत्र हैं। इस संहिता में काण्वसंहिता से १११ मंत्र कम हैं। माध्यन्दिनशाखा का ब्राह्मण भी शतपथब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें सौ अध्याय है। इस शाखा के संहिता के अन्तर्गत चालीसवें अध्याय को ईशोपनिषद् या ईशावास्योपनिषद् तथा शतपथब्राह्मण के चतुर्दश काण्डान्तर्गत बृहदारण्यक अंश को बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं। उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत के सभी प्रान्तों में इस शाखा के बहुसंख्यक अनुयायी उपलब्ध होते हैं। शुक्लयजुर्वेदीय वाङ्मय के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थ माध्यन्दिन शाखा को ही मूल मानकर विरचित हैं।[3] माध्यन्दिनसंहिता पर सर्वाधिक प्रसिद्ध दो भाष्य उपलब्ध हैं। आचार्य उवट का भाष्य अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण, मौलिक एवं ओजस्वी है। इसके बाद आचार्य महीधर के भाष्य का स्थान है।

प्रातिशाख्यों का उद्भव

प्राचीनकाल में वेदों के कण्ठस्थ धारण की परम्परा थी एवं प्रतिदिन अधीत वेद का कण्ठस्थ पारायण ब्रह्मयज्ञ रूप से नियमित किया जाता था।[4] आश्रम-व्यवस्था की शिथिलता, शास्त्रोक्त नियम-पालन में प्रमाद एवं मानव-जीवन की बहिमुर्खता के परिणामस्वरूप वैदिक मंत्रों का संरक्षण तथा उसके अभ्यास में ह्रास होने लगा। ऐसी स्थिति में आचार्यों ने पवित्र वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण में वर्ण, पद, सन्धि, स्वर, मात्रा आदि के विशिष्ट नियमों को पाठ सुरक्षा के लिए ग्रन्थों के रूप में उल्लिखित कर देना आवश्यक समझा। इसकी

---

१. पञ्चदशसु शाखासु एकमेव कात्यायनसूत्रम् एकं च प्रातिशाख्यं श्रौतस्मार्तादिसूत्रवत् (वा०प्र०१।१ पर अनन्त।)

२. द्र० माध्यन्दिनीयवेदस्य दीर्घपाठशब्दविचारः।
— लेख सारस्वती सुषमा वाराणसी के वर्ष २६ अंक २ (संवत् २०२०)।

३. समग्रोदाहरणलाभेन च माध्यन्दिनीय शाखीयमेवेदं प्रातिशाख्यमिति गम्यते। — (वा०प्रा० १।१ पर अनन्त।)

४. अहरहः स्वाध्यायमधीसे। — (श०ब्रा० ११।५।६।३)

पूर्ति के लिए प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों का उद्भव हुआ। परिणाम-स्वरूप प्रत्येक चरणों एवं उनके अन्तर्गत शाखाओं के लिए उस सम्प्रदाय के अधिकारी मान्य आचार्यों ने विभिन्न प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना की।

प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति

वा० प्रा० १।१ पर भाष्य करते हुए भाष्यकार अनन्त ने प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई है कि प्रतिशाख (प्रत्येक शाखा के लक्ष्य से) होने वाला ग्रन्थ प्रातिशाख्य है।[१] इस व्युत्पत्ति के आधार पर कुछ आधुनिक विचारक संभावना करते हैं कि कभी उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ रहे होंगे जितनी वेदों की शाखायें थी।[२]

प्रातिशाख्यों के विषय में निरुक्तकार यास्क का मत है कि पदों को ही मूल मानकर समस्त चरणों के प्रातिशाख्य ग्रन्थ अपना विधान करते हैं।[३] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रातिशाख्यों की रचना वेद के चरणों के आधार पर हुई है, शाखाओं के आधार पर नहीं। शाखा एवं चरण एक दूसरे के पयार्यवाची नहीं है। चरण शाखाओं का समूह है। चरण का ही अवान्तर विभाग शाखा है। यह तथ्य लगभग १२वीं शताब्दी के भोज वर्मा के ताम्र के लेख जमदग्नि प्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने[४] (अर्थात् जमदग्नि प्रवर, वाजसनेय चरण यजुर्वेद कण्वशाखाध्यायी के लिए) से सुस्पष्ट होता है।

भाष्यकार अनन्त जिन्होंने प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति बतलाई है, उन्होंने भी यह सिद्ध किया है कि काण्वादि पन्द्रह शाखाओं में एक ही प्रातिशाख्य है।[५] ये कण्वादि पन्द्रह शाखाएं वाजसनेय चरण के अन्तर्गत हैं– यह तथ्य पूर्व उद्धृत ताम्रलेख से स्पष्ट है। भट्ट कुमारिल ने भी तन्त्रवार्तिक ५।१।३ में प्रातिशाख्यों का प्रत्येक चरण से सम्बन्ध बतलाया है।[६] तै० प्रा० भाष्यकर्ता गोपाल यज्वा का मत है कि एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की अनेक शाखाओं के साथ होता है। जैसे ऋ० प्रा० का सम्बन्ध ऋग्वेद का शाकल एवं

---

१. शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखवम्। प्रतिशाखं भंमिति प्रातिशाख्यम्। (वा०प्रा० १।१ पर अनन्त)

२. डॉ० सूर्यकान्तः ऋृ० तं० पृ० २, अ० प्रा० पृ० ३०, ऋ० परि० पृ० १२।

३. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। – (नि० १।।

४. Inseriptions of bengal, Volume iii Published by the Varndra Research Society, Rajasthan, 1929, p. 21.

५. तस्मात्सिद्धं काण्वादिपञ्चदशशाखासु एकमेव प्रातिशाख्यमिति। –वा०प्रा० १।१ पर अनन्त, सूत्रकारस्य बहुशाखोपरि तन्त्रेण प्रवृत्तत्वात्। – वा०प्रा०१।१२२ पर अनन्त।

६. धर्मशास्त्राणां गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्य लक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते।

वाष्कल दोनों शाखाओं के साथ है। उन्होंने यह भी कहा है कि तै० प्रा० में उद्धृत जो उदाहरण तै० सं० में नहीं मिलते हैं वे अवश्य ही उन शाखाओं के हैं जो आज अनुपलब्ध हैं।[१]

कुछ आधुनिक विद्वानों का भी मत है कि एक प्रातिशाख्य का अनेक शाखाओं से सम्बन्ध हैं।[२] पंडित युधिष्ठिर मीमांसक प्रतिशाख शब्द को चरणवाची मानते हैं एवं प्रातिशाख्य की व्युत्पत्ति शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम् प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम् की है।[३] प्रत्येक शाखा के लिए पृथक प्रातिशाख्य मानने पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वेदों की जिन ११३० शाखाओं के अस्तित्व को बतलाया है उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ होने चाहिए। वेदों की शाखाओं के नष्ट होने की भाँति यदि प्रातिशाख्यों की भी अनुपलब्धि मानी जाय अथवा विजातीय शासनकाल में भारतीय वाङ्मय के विनाश की भाँति इन (प्रातिशाख्यों) का भी नष्ट होना मान लिया जाय तब भी कतिपय संहिता-ब्राह्मण सूत्र ग्रन्थों की तरह दो चार अन्य शाखाओं के भी प्रातिशाख्य ग्रन्थ मिलने चाहिए थे अथवा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में संकेतिक होने चाहिए थे किन्तु सुसंगठित रूप से कुछ उपलब्ध प्रातिशाख्यों की ही चर्चा सामने आती है।

यहाँ यह सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि जब प्रत्येक शाखा का प्रातिशाख्य नहीं उपलब्ध होता तो अनन्त तथा गोपाल यज्वा आदि भाष्यकारों ने अनेक शाखाओं के लिए एक प्रातिशाख्य के रचना का विचार प्रस्तुत किया है, तब अनन्त द्वारा दी हुई प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्ति किस प्रकार समन्वित हो सकती है? इसका समाधान यह किया गया है कि पाणिनीय १।४।९० के अनुसार प्रति शब्द का लक्षण, इत्थं भूताख्यान भाग और वीप्सा अर्थों में प्रयोग की व्यवस्था है।[४] वीप्सा अर्थ मान लेने पर प्रत्येक शाखा के प्रातिशाख्य ग्रन्थ की संभावना होती है। यदि लक्षण अर्थ में प्रति शब्द माना जाय तो प्रत्येक शाखा के लिए प्रातिशाख्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अपितु प्रतिवृक्षं विद्योतते विद्युत् आदि उदाहरणों में जिस प्रकार विद्युत के एक रहने पर भी उसका सम्बन्ध वृक्ष के साथ है, उसी प्रकार एक प्रातिशाख्य का स्वचरणान्तर्गत अनेक शाखाओं के साथ सम्बन्ध माना जा सकता

---

१. वीत्युपबन्धस्य व्यावर्त्य शाखान्तरे। नन्वेवमनेकशाखाविषयत्वे प्रातिशाख्यमिति ग्रन्थस्य आख्या विरुद्ध्यते। नैतदस्ति। द्वित्रिशाखाविषयत्वेऽपि तद्साधारणतया उपपत्तेः। तथा बह्वृचानां शाकलवाष्कलात्मकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम्। एवमुतरत्रापि द्रष्टव्यम्।

२. S. Varma Critical Studies in the Phonetic Observation of Indian Grammarians, p. 12. बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०२९९।

३. द्र० संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग २पृ० २८५-८६।

४. लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः।

है। इसी सम्बन्ध को तत्वबोधिनीकार ने लक्ष्य-लक्षण भाव से स्पष्ट किया है।[१] परिमुखादि गण (पा० ४।३।५९) में पठित प्रतिशाख शब्द से भावार्थ में ष्यञ् लगाकर प्रातिशाख्य शब्द की निष्पत्ति होती है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों का काल

भारतीय आचार्यों की इतिहास में रुचि नहीं थी। ग्रन्थकारों का उद्देश्य ज्ञान वृद्धि करना था इसके अतिरिक्त अन्य सभी बातें गौण थीं। आत्मख्यापन से ये लोग बहुत दूर रहते थे। यही कारण है कि पूर्ववर्ती अधिकांश ग्रन्थकारों ने अपने विषय में तथा अपने समय के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है।

प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी उपर्युक्त तथ्यों के अपवाद नहीं है। तै० प्रा० इत्यादि प्रातिशाख्य ग्रन्थों के निर्माताओं के नाम ही ज्ञात नहीं हैं। शौनक इत्यादि जिन प्रातिशाख्यकारों के नाम मिलते है उनके विषय में यह सन्देह बना रहता है कि वे उस प्रातिशाख्य के रचयिता हैं अथवा उपदेशक हैं। प्रातिशाख्यों के काल के सम्बन्ध में भी यही बात है। किसी भी प्रातिशाख्य ग्रन्थ के निश्चित काल का पता नहीं चलता।

प्रातिशाख्यों के काल के विषय में अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने बड़ा विचार किया है तथापि बहुत मतभेद है। विचार का मुख्य विषय यह है कि प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना पाणिनि से पूर्व में हुई है अथवा बाद में। इस प्रश्न के समाधान हेतु विद्वानों ने प्रातिशाख्य ग्रन्थों एवं पाणिनि अष्टध्यायी में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों, इन ग्रन्थों की रचना शैली तथा इन ग्रन्थों में उल्लिखित आचार्यों के नामों इत्यादि से सहायता ली है। लाइबिज, मैक्समूलर, वेबर, रॉथ इत्यादि पाश्चात्य विद्वान् प्रातिशाख्य ग्रन्थों को पाणिनि से पूर्व का मानते हैं। किन्तु गोल्डस्टूकर ने उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहा है कि सभी प्रातिशाख्य ग्रन्थ पाणिनि के बाद के हैं। पाणिनि का समय लगभग ५००ई० पू० है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों से प्रातिशाख्य सूत्रों की तुलना करने पर कुछ विचारकों ने यह कहा है कि ऋ० प्रा०, वा० प्रा०, चतुरध्यायिका एवं ऋक्तंत्र पाणिनि से पहले के हैं। अथर्ववेद प्रातिशाख्य निस्संदेह पाणिनि से बाद का है। इस प्रकार अथर्ववेद प्रातिशाख्य से अतिरिक्त समस्त प्रातिशाख्य ग्रन्थों की निम्नतम सीमा पाणिनि का समय है।[२]

---

१. लक्षणे वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। -सि० कौ० १।४।९०
वृक्षसम्बन्धि द्योतनमर्थः, सम्बन्धश्च लक्ष्यलक्षणभाव इति प्रत्यादयो द्योतयन्ति।
— त० बो० १।४।९०

२. (क) डॉ० रामगोपाल वैदिकव्याकरण, पृ० ७।
(ख) Dr. Surya Kant : Atharva Pratisakhya, p. 64.

प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना की उच्चतम सीमा यास्क का समय है, क्योंकि ऋ० प्रा० १७।४२ में यास्क के नाम का उल्लेख मिलता है।[१] इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋ० प्रा० यास्क के बाद की रचना है। अधिकांश विद्वान् यास्क का समय ७०० ई० पू० मानते हैं। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने पार्षद् (प्रातिशाख्य) के प्रवचन का काल विक्रम से तीन सहस्र वर्ष पूर्व का भी संभावित किया है।[२]

प्रातिशाख्य की पर्यायवाची संज्ञा

प्रातिशाख्यों के लिए 'पार्षद' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। निरुक्तकार यास्क ने प्रातिशाख्यों के लिए 'पार्षद' शब्द का प्रयोग किया है। ऋ० प्रा० पर भाष्य करते हुए उवट ने भी प्रत्येक पटल की व्याख्यान्त पुष्पिका में पार्षद संज्ञा का ही प्रयोग किया है। विष्णुमित्र ने भी ऋ० प्रा० के लिए पार्षद शब्द का ही प्रयोग किया है।[३] परिषद का अर्थ सभा अथवा गोष्ठी है। प्राचीनकाल में ऐसी परिषदें संगठित रहती थी, जिनमें ध्वनि विज्ञान और व्याकरण जैसे विषयों पर नियमित रूप से विचार होता था। ऐसी परिषदों से सम्बन्धित होने के कारण ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों को पार्षद अथवा परिषद सूत्र कहते हैं। इन परिषदों में ही सामान्य ध्वनि-विज्ञान एवं व्याकरण के नियमों को वेद की शाखाओं पर लागू किया गया। निरुक्त १।१७ के भाष्य में दुर्गाचार्य ने पार्षद शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि पार्षद या प्रातिशाख्य ग्रन्थ वे हैं, जो अपने अध्येतृगण की परिषद् में एक शाखां से सम्बद्ध पद-विभाग, क्रमपाठ, संहिता पाठ और स्वर के लक्षण को कहते हैं।[४]

प्रातिशाख्य ग्रन्थों की संख्या

प्रातिशाख्य ग्रन्थों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कतिपय ऐसे भी ग्रन्थ आज मिलते हैं जिन्हें कुछ विद्वान् प्रातिशाख्य मानते हैं और कुछ विद्वान् प्रातिशाख्य नहीं मानते हैं। उपलब्ध प्रातिशाख्य ग्रन्थों में पाँच प्रातिशाख्य महत्त्वपूर्ण हैं, जो निम्नलिखित हैं— १. ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, २. तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, ३. वाजसनेयि प्रातिशाख्य, ४. चतुरध्यायिका, ५. अथर्वप्रातिशाख्य।

---

१. न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः। -ऋ० प्रा० १७।४२
२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग २, पृ० २९०।
३. तेनेयंयोजिता वृत्तिः संक्षिप्तता पार्षदे स्फुटा। -वि० व० वृ०, पृ० ६।
४. स्वचरणपरिषद्येव यैः प्रतिशाखानियतमेव पदाबग्रहप्रगृह्य-क्रमसंहितास्वरलक्षणमुच्यते तानीमानि पार्षदानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः। --नि० १।१७ पर दुर्ग।

इन प्रातिशाख्यों में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य ऋग्वेद से, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य कृष्ण यजुर्वेद से, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य शुक्लयजुर्वेद से, चतुरध्यायिका एवं अथर्ववेद प्रातिशाख्य अथर्ववेद से सम्बन्धित हैं। पंडित ए० एम० रामनाथ दीक्षित के मतानुसार सामवेद से सम्बन्धित ऋवतंत्र, सामतन्त्र, अक्षर तन्त्र एवं पुष्पसूत्र ये चार प्रातिशाख्य हैं।[१] पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ने सूची पत्र एवं छिटपुट संकेतों के आधार पर— वाष्कल-प्रातिशाख्य, शांखायन-प्रातिशाख्य, चारयणीय-प्रातिशाख्य की भी संभावना की है।[२] मैत्रायणीय चरण के प्रातिशाख्य का अस्तित्व सातवलेकर सम्पादित मैत्रायणीय संहिता की श्रीधर अण्णा शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना में बतलाया गया है।

प्रातिशाख्यों का प्रयोजन

वेदों की मौखिक उच्चारण परम्परा एवं वैदिक विशेषताओं को भविष्य में सुरक्षित रखने का प्रश्न तत्कालीन आचार्यों के सम्मुख था। इसके लिए आचार्यों ने मुख्य रूप से प्रातिशाख्य शास्त्र का प्रवर्तन किया। अतएव वा० प्रा० पर भाष्य करते हुए उवट ने प्रारम्भ में ही प्रातिशाख्य का प्रयोजन बतलाते हुए कहा है कि वेदों के समुचित पाठ को न जानने वाले का वैदिक जपादि एवं यज्ञ क्रियाओं में अधिकार नहीं है। अतएवं वेदों के ठीक-ठीक पाठ की जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रत्येक अध्येता को प्रातिशाख्य शास्त्र जानना चाहिए।[३] अभिप्राय यह निकलता है कि वेद की सम्यक् पाठसिद्धि प्रातिशाख्य के बिना नहीं हो सकती। अतः सम्यक् पाठ सिद्धि प्रातिशाख्यों का परम प्रयोजन है। सूत्रकार आचार्य कात्यायन का भी कहना है कि वर्णों के जो दोष हैं उनके विवेचन अर्थात् पृथक्करण के लिए प्रातिशाख्य शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।[४] किसी भी पद के विषय में जब तक यह नहीं ज्ञात होता है कि इसका असाधु रूप क्या है एवं साधु रूप तथा उच्चारण क्या है तब तक उसकी शुद्धता का ज्ञान नहीं हो पाता है। प्रातिशाख्यों के माध्यम से ही वैदिक वर्णों एवं पदों के साधु रूप का ज्ञान होता है। साधु स्वरूप के ज्ञात हो जाने पर उसके दोषों का पृथक्करण सम्भव हो जाता है। इस प्रकार वैदिक वर्णों के शुद्ध स्वरूप की रक्षा प्रातिशाख्यों द्वारा होती है। तै० प्रा० १।१ पर वैदिकाभरण भाष्य में बतलाया गया है

---

१. सति सामवेदे चत्वारि प्रातिशाख्यानि-ॠक्तन्त्र, सामतन्त्र, अक्षरतन्त्रम्, पुष्पसूत्रेति।
—सामतंत्र भूमिका पृ० ३।

२. सं० का० का इतिहास भाग-२, पृ० २८४।

३. जापादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक् पाठमजानतः।
प्रातिशाख्यमतो ज्ञेयं सम्यक्पाठस्य सिद्धये।।

४. वर्णदोषविवेकार्थम्। -वा० प्रा० १।२६

कि गुरुत्व, लघुता इत्यादि के ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य नामक लक्षण ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है।[1] तै० प्रा० २४।५ में विधान मिलता है कि वैदिक भाषा के अध्येता को गुरुत्व, लघुता, साम्य, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, लोप, आगम, विकार, प्रकृति, विक्रम, क्रम, स्वरित, उदात्त, श्वास, नाद और अङ्ग इन सबको जानना चाहिए।[2] पुनः तै० प्रा० २४।६ में कहा गया है कि जो व्यक्ति पदपाठ और क्रमपाठ के भेद को जानता है, जो स्वर और मात्रा के विभाग में विचक्षण है वह आचार्यत्व को प्राप्त करता है।[3] तै० प्रा० के उपर्युक्त विधानों से यह स्पष्ट होता है कि आचार्यत्व की प्राप्ति गुरुत्व, लघुतादि ज्ञान के सापेक्ष है। गुरुत्व लघुतादि का ज्ञान प्रातिशाख्यों के द्वारा ही हो सकता है। यद्यपि गुरुत्वादि विषयों का प्रतिपादन शिक्षा एवं व्याकरण ग्रन्थों में भी किया गया है तथापि विप्रकीर्ण होने के कारण विषय विभाग का ज्ञान न होने से वहाँ उन (गुरुत्व, लघुता इत्यादि) का सरलता से ठीक ग्रहण नहीं हो सकता है। इसके विपरीत प्रातिशाख्यों में इन विषयों का शाखानुसारी विधान एकत्र सुसम्बद्ध एवं विशेष रूप से किया गया है। जिसके परिणामस्वरूप विषयों का सरलता से ग्रहण हो जाता है। अतएव वेद की शाखा विशेष के स्वरूप के पूर्णज्ञान के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों के निर्माण किया गया है। ऋ० प्रा० के भाष्य के प्रारम्भ में उवटाचार्य ने भी प्रातिशाख्य का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि शिक्षा, छन्द और व्याकरण के द्वारा सामान्य रूप से कहा गया जो लक्षण है वह इस शाखा में इस प्रकार का है यह बतलाना प्रातिशाख्य शास्त्र का प्रयोजन है।[4]

प्रातिशाख्यों के विषय वस्तु

प्रत्येक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध मुख्यतः वेद की चरणान्तर्गत शाखा विशेष से है। अतः

---

१. अथ किमर्थं प्रातिशाख्यं नाम लक्षणं प्रणीयते? तदुच्यते गुरुत्वं लघुता साम्यम् इत्यादि सर्वं तु विज्ञेयम् इति वक्ष्यति---तै० प्रा० १।१ पर वै० आ०।।

२. गुरुत्वं लघुता साम्यंह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकारांश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः।।
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता।।

३. पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्य सम्पदम्।।

४. शिक्षाच्छन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्र प्रयोजनम्।।
ऋ० प्रा० को छोड़कर अन्य प्रातिशाख्यों में छन्द का विधान न होने से यह श्लोक अन्य प्रातिशाख्यों पर पूर्णतया लागू नहीं होता है।

प्रातिशाख्यों का मुख्य लक्ष्य है अपनी-अपनी शाखाओं के संहितापठ, पदपाठ, क्रमपाठ आदि को सुरक्षित रखना। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वैदिक सन्धियों का विस्तृत विवेचन, पदपाठ के नियम, क्रमपाठ, क्रम हेतु तथा अवग्रह के नियम आदि कतिपय ऐसे विषयों का प्रतिपादन किया गया है जिनका विवरण अन्यत्र कहीं भा नहीं उपलब्ध होता है। प्रातिशाख्यों में वर्णों के उच्चारण स्थान एवं करण, वर्णों की उत्पत्ति, स्वरों के सामान्य नियम, विशेष पदों में स्वरों की विशिष्टता, कतिपय विशिष्ट स्थलों में दीर्घत्व का विधान, दीर्घ का ह्रस्वविधान, नति सन्धि, विसर्जनीय के विकार आदि का विस्तार के साथ विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त पदपाठ से संहिता पाठ एवं क्रमपाठ के निर्माण नियम, अवग्रह के स्थल, परिग्रह के प्रकार, वेदाध्ययन के नियम आदि विषयों का सुसम्बद्ध तथा वैज्ञानिक रीति से विधान प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार प्रातिशाख्य ग्रन्थ शिक्षा एवं व्याकरण सम्बन्धी ऐसे गूढ़ विषयों का गहन अध्ययन प्रस्तुत करते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। अतएवं वा० प्रा० के भाष्यकार उवट ने प्रातिशाख्य शास्त्र को शिक्षा एवं व्याकरण शास्त्र का परिपोषक कहलाया है।[1] वैदिक ग्रन्थों के अर्थज्ञान के लिए जिस प्रकार निरुक्त अत्यन्त उपयोगी है उसी प्रकार वैदिक मन्त्रों के बाह्यस्वरूप के ज्ञान के लिए प्रातिशाख्य शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

प्रातिशाख्यों का संक्षिप्त परिचय

(१) ऋग्वेद प्रातिशाख्य

उपलब्ध सभी प्रातिशाख्यों में यह प्रातिशाख्य विशाल है तथा प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य का विषय वस्तु की दृष्टि से प्रातिशाख्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण ऋग्वेद प्रातिशाख्य में १८ पटल है। इन सभी पटलों में ५२९ श्लोकों द्वारा विषय का विस्तृत एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य आचार्य शौनक द्वारा रचित है। यह प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकल शाखा की शैशिरीय उपशाखा से सम्बद्ध है एवं उसका स्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत करता है। कतिपय हस्तलेखों में ऋ० प्रा० सूत्रों के रूप में उपलब्ध हुआ है। सूत्रों की पूर्ण संख्या १०६७ है। ऋ० प्रा० में प्रतिपादित विषयों का इस क्रम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है प्रथम पटल में समानाक्षर, संध्यक्षर, स्वर, व्यंजन, प्रगृह्य आदि विभिन्न संज्ञाओं एवं परिभाषाओं का विवेचन किया गया है। दूसरे, चौथे, पाँचवें स्वर, व्यंजन, नति सन्धि, द्वित्व विधान आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। तृतीय पटल में उदात्तादि स्वरों का स्वरूप एवं इन स्वरों की सन्धियों का विवेचन किया गया है। छठें, सातवें,

---

१. वृद्धिमिदं शास्त्रमन्यानि शास्त्राण्यपेक्ष्य, शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चास्मिन् शास्त्रे उभयं यतः प्रक्रियते अतएव हेतौः शिष्याणामेतच्छास्त्रश्राविणां वृद्धिर्भवति। — वा० प्रा० १।१६९ पर उवट

आठवें एवं नवें पटल में दीर्घत्त्व, दसवें एवं ग्यारहवें पटल में क्रमपाठ के नियमों का विधान किया गया है। बारहवें में पदविचार, तेरहवें एवं चौदहवें में वर्णोत्पत्ति तथा वर्णोच्चारण दोष, पन्द्रहवें में वेदाध्ययन, सोलहवें, सत्रहवें, एवं अठारहवें पटल में छन्दोविचार प्रस्तुत किया गया है। प्रथम पटल के पहले वर्गद्वय संज्ञक दश अन्य श्लोक भी इस ग्रन्थ में मिलते हैं।

ऋ०प्रा० की चार टीकाएं उपलब्ध हैं – (१) उवट भाष्य (पार्षदव्याख्या) (२) पार्षदवृत्ति (३) विष्णुमित्र कृत वर्गद्वय वृत्ति और (४) पशुपतिनाथ शास्त्रीकृत व्याख्या। इन टीकाओं में उवट भाष्य ही सर्वाधिक प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। उवट भाष्य के साथ ऋ० प्रा० के अन्य अनेक मुद्रित संस्करण मिलते हैं। पार्षद वृत्ति का उवट भाष्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध है एवं अभी तक मुद्रित नहीं हो सकी है। तीसरी टीका विष्णुमित्रकृत वर्गद्वय वृत्ति है। इसके विषय में यह कहा जाता है कि ऋ०प्रा० के प्रारम्भिक दस श्लोकों पर उवट भाष्य नहीं मिलता है। इन दस श्लोकों पर आचार्य विष्णुमित्र ने वर्गद्वयवृत्ति लिखी है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत है कि यह वृत्ति डेक्कन कालेज के हस्तलेखों में सम्पूर्ण ऋ०प्रा० पर मिलती है। वहाँ इसका ऋज्वर्था नाम दिया गया है।[१] पशुपतिनाथ शास्त्रीकृत भाष्य उवट भाष्य पर पूर्णरूपेण आधारित है। यह १९२७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है।

२. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित है। यह प्रातिशाख्य ऋ०प्रा० एवं वा०प्रा० से विस्तार की दृष्टि से छोटा है किन्तु विषय वस्तु की दृष्टि से यह अत्यन्त विस्तृत एवं प्रामाणिक है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार इसका सम्बन्ध कृष्ण-यजुर्वेद की सभी शाखाओं से है। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य २४ अध्यायों में विभक्त है एवं सूत्ररूप में है। सूत्रों की संख्या ५४७ है। तै० प्रा० के प्रथम अध्याय में वर्ण समाम्नाय, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, स्वर, उदात्तादि स्वर अपृक्त तथा इङ्गय आदि अनेक विषयों का सम्यक् विधान किया गया है। द्वितीय अध्याय में शब्दोत्पत्ति, स्वर, समस्त वर्णों के उच्चारण-स्थान एवं कारण का विस्तृत विधान किया गया है। तृतीय अध्याय में संहिता-पाठ में स्थित दीर्घ स्वर के पद पाठ में ह्रस्व होने का विधान किया गया है। चतुर्थ अध्याय में प्रग्रह का विस्तृत विधान है। पंचम अध्याय में सन्धि-विषयक परिभाषा सूत्र, आगम-सन्धि, वर्ण-विकार, सन्धि आदि का विधान है। षष्ठ अध्याय से लेकर त्रयोदश अध्याय पर्यन्त सन्धि विषयक सर्वाङ्गीण विवेचन किया गया है। चतुर्दश अध्याय में द्वित्व विधान, आगम विधि ऊष्मवर्णों का परिवर्तन, आदि का विधान किया गया

१. द्र०- वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० ३०१

है। पञ्चदश अध्याय से लेकर बाईसवें अध्याय तक अनुस्वार, अनुनासिक तथा उनका परस्पर भेद, ओंकार का उच्चारण, विक्रम-स्वर, कम्प-स्वर क्षैप्रादि स्वरों के स्वरूप एवं उच्चारण प्रकार, अङ्गाङ्गिभाव, प्रचय-स्वर, उदात्तादि स्वर एवं उच्चारण प्रकार आदि पर विस्तृत विचार किया गया है। तेईसवें अध्याय में वाणी के सात स्थानों, क्रुष्टादि स्वरों एवं आह्वारक- शाखानुयायियों के स्वरों का विधान किया गया है। चौबीसवें अध्याय में चार प्रकार की संहिताओं का लक्षण, वेदाध्यायी शिष्य के गुण एवं वेदाध्यापक आचार्य के गुणों का विधान किया गया है।

प्रातिशाख्यों में तै० प्रा० में ही सबसे अधिक आचार्यों के मतों का प्रतिपादन किया गया है। तै० प्रा० का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि इसमें पारिभाषिक शब्द प्रयोग को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। तै० प्रा० पर तीन टीकाएं प्राप्त होती है—

(१) माहिषेय कृत-पदक्रम सदन
(२) सोमार्यकृत-त्रिभाष्यरत्न
(३) गोपालयज्वाकृत-वैदिकाभरण।

इन टीकाओं में माहिषेयकृत पदक्रमसदनभाष्य सबसे अधिक प्राचीन है। तदनन्तर त्रिभाष्यरत्न एवं सबसे अर्वाचीन वैदिकाभरण भाष्य है। वैदिकाभरण-भाष्य माहिषेय-भाष्य तथा त्रिभाष्यरत्न की अपेक्षा विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है।

(३) वाजसनेयि प्रातिशाख्य

इसका विस्तृत विवरण आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

(४) चतुरध्यायिका

अथर्ववेद से सम्बन्धित प्रस्तुत प्रातिशाख्य चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ध्वनियों का वर्गीकरण, अभिनिधान, अक्षर, मात्रा, विकार तथा आगम आदि का विधान किया गया है। द्वितीय अध्याय में सन्धि विवेचन, तृतीय अध्याय ने सांहितिक दीर्घ विधान, द्वित्व, स्वर वर्णों का अन्तस्था वर्णों में परिवर्तन, स्वर-सन्धि, स्वरित का स्वरूप एवं उसके भेद, णत्वविधान आदि विषयों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में अवग्रह, प्रगृह्य तथा क्रमपाठ और उसका प्रयोजन प्रतिपादित है। शौनकीया चतुरध्यायिका को अमेरिकन विद्वान् प्रो०ह्विटनी ने सानुवाद सम्पादित किया है। सूत्रों की सार्थकता तथा ध्वनिवैज्ञानिक तथ्यों के विश्लेषण के साथ स्वलिखित निर्मलभाष्य तथा शशिकला हिन्दी व्याख्या के साथ डॉ० जमुना पाठक ने भी अथर्ववेदीर्या चतुरध्यायिका नाम से इसका सम्पादन किया है।

(५) अथर्ववेद प्रातिशाख्य

यह प्रातिशाख्य भी अथर्ववेद से सम्बन्धित है। विस्तार की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य

उपलब्ध सभी प्रातिशाख्यों से छोटा है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें एक भी पारिभाषिक शब्द का विधान नहीं किया गया है। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सूत्र शैली में उपनिबद्ध है एवं तीन प्रपाठकों में विभक्त है। विषय वस्तु की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य अव्यवस्थित है। इसमें संघिनियम, स्वर तथा पदपाठ के नियम आदि कतिपय विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है। ध्वनि-शास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियमों का सर्वथा अभाव है। आचार्य शाकल्य को छोड़कर इसमें किसी भी प्राचीन आचार्य का नामोल्लेख नहीं किया गया है।

अथर्ववेद प्रातिशाख्य के दो मुद्रित संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक पंजाब विश्व विद्यालय की ग्रन्थमाला से आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा सम्पादित है एवं दूसरा डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा लाहौर से टीका सहित प्रकाशित हुआ है।

(६) ऋक्तन्त्र

सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित प्रस्तुत प्रातिशाख्य ऋक्तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता आचार्य, शाकटायन या औदवव्रि हैं। यह प्रातिशाख्य भी सूत्ररूप में उपनिबद्ध है। सम्पूर्ण प्रातिशाख्य पाँच प्रपाठकों में विभक्त है और कुल २८७ सूत्र हैं। इस प्रातिशाख्य में वर्ण सामान्य, वर्णोच्चारण, पारिभाषिक शब्द, अभिनिधान, अङ्गत्व विचार, काल निरूपण एवं उदात्तादि स्वरों का विधान किया गया है। इसके अतिरिक्त विभक्ति लोप, संहिता एवं सन्धि का वर्णन किया गया है।

ऋ० तं० में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग पर्याप्त रूप में मिलता है। ऋ० तं० के पारिभाषिक शब्दों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। (१) कृत्रिम पारिभाषिक शब्द जैसे पादादि के लिए णि (७१,७७) संयोग के लिए सण् (२७-४९) आदि। (२)अपूर्ण पारिभाषिक शब्द जैसे उदात्त के लिए उत् (५१,१५६) दीर्घ के लिए घ (२३६,२३७) लघु के लिए घु (२३६,२३७) आदि। (३) अन्वर्थ पारिभाषिक शब्द यथा अन्तःस्था, ऊष्म, अयोगवाह आदि।

प्रातिशाख्यों का पौर्वापर्य

प्रातिशाख्यों के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। प्रायः सभी विद्वानों ने ऋग्वेद प्रातिशाख्यों को अन्य प्रातिशाख्यों से प्राचीन तथा प्रामाणिक माना है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के बाद तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का स्थान-विद्वानों ने माना है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के मतानुसार तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का कतिपय अंश प्राचीनतर है एव कतिपय अंश अर्वाचीन है। वा० प्रा० तथा चतुरध्यायिका के पौर्वापर्य के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विचारक वा० प्रा० को चतुरध्यायिका से प्राचीन मानते हैं और कुछ विचारक चतुरध्यायिका को वा० प्रा० से प्राचीन मानते है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के मतानुसार वा०

प्रा० ४।१२० में शौनकाचार्य के मत को उद्धृत किया गया है जो शौनकीयचतुरध्यायिका में विहित नियम से सम्बन्धित है।[१] इसी आधार पर ये वा० प्रा० को चतुरध्यायिका से अर्वाचीन मानते हैं।[२] किन्तु मैक्समूलर, वेबर, गोल्डस्टुकर इत्यादि विद्वानों के मतानुसार चतुरध्यायिका वा०प्रा० से बाद की रचना है। इसके विपरीत वा० प्रा० से सम्बन्धित कतिपय ऐसे साक्ष्य मिलते हैं जिनके आधार पर वा० प्रा० का प्राचीनतर होना सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए वा० प्रा० के सूत्रों को ले सकते हैं। भाष्यकार उवट के समक्ष वा० प्रा० के सूत्रों की संख्या एवं उनकी निश्चित् आनु पूर्वी के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद था। इसी कारण उन्होंने कही यह संकेत दिया है कि कतिपय आचार्य इस सूत्र का पाठ करते हैं जो कि अपपाठ है[३] और कहीं पर यह निर्देश दिया है कि यह सूत्र प्रयोजनाभाव से व्यर्थ है।[४] इसके विपरीत भाष्यकार अनन्त भट्ट कतिपय नवीन सूत्रों का पाठ देते हैं तथा उस पर भाष्य भी करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थ की प्राचीनता के कारण ही भाष्यकारों के सामने वा० प्रा० के सूत्रपाठ की संख्या एवं आनुपूर्वी के सम्बन्ध में कोई ठोस आधार नहीं था। दूसरे वा० प्रा० में उपसंहार के रूप में यह कहा गया है कि इत्याह स्वर-संस्करण प्रतिष्ठापयिता भगवान् कात्यायनः।[५] उपर्युक्त वाक्य में सूत्रकार कात्यायन का भगवान् विशेषण के साथ ही स्वर और संस्कार विषय के प्रतिष्ठापयिता आचार्य के रूप में स्मरण किया गया है। भाष्यकार उवट ने अपने ऋ०प्रा० के भाष्य की समाप्ति पर उपसंहार करते हुए लिखा है इत्याह भगवाञ्छौनकः। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भाष्यकार उवट वा० प्रा० के सूत्रकार कात्यायन को स्वरसंस्कार प्रतिष्ठापयिता का विशेषण देकर उनके प्रति अपने मानसिक विशेष सम्मान एवं महत्त्व को प्रकट करते हैं जबकि आचार्य शौनक को स्वर संस्कार प्रतिष्ठापक न कहकर केवल भगवान् कहा है। अतएव वा०प्रा० का प्राचीनतर होना सर्वथा निराधार न होकर गहन अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है।

सामवेद की कौथुम शाखा से सम्बन्धित ऋक्तंत्र के विषय में बर्नेल का मत है कि यह पाणिनि से बाद की रचना है, किन्तु डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने पुष्ट प्रमाणों के आधार

---

१. असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य। वा०प्रा० ४।१२० द्वितीयाः सखसेषु। – च०अ०२।६।

२. S. Verma : Critical Studies in the Phonetic Observations of Indian Grammarians. p. 26.

३. इदं सूत्रं केचिन्न पठन्ति व्यर्थत्वात्। -वा० प्रा० ४।६० पर उवट

४. वा० प्रा० ४।३३ मद्रास संस्करण।

५. मुद्रित संस्करणों में यह अष्टम अध्याय का उपान्तिम सूत्र है। अनुमानतः यह वाक्य बाद में सम्मिलित हुआ होगा।

पर यह सिद्ध किया है कि ऋक्तंत्र पाणिनि से पूर्व की रचना है।[1] अथर्ववेद प्रातिशाख्य पाणिनि से बाद की रचना है।[2] अतएवं यह सभी प्रातिशाख्यों में अर्वाचीन है।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्धित वा० प्रा० आचार्य शौनक के शिष्य कात्यायन की रचना है। विस्तार की दृष्टि से यह प्रातिशाख्य ऋग्वेद-प्रातिशाख्य से छोटा तथा अन्य प्रातिशाख्यों से बड़ा है। आठवें अध्याय के कुछ श्लोकात्मक सूत्रों को छोड़कर सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सूत्र रूप में उपनिबद्ध है। यह प्रातिशाख्य आठ अध्यायों में विभक्त है। अध्याय के अन्तर्गत केवल सूत्र है एवं अन्य कोई उपविभाजन नहीं है। वा० प्रा० के उपलब्ध मुद्रित संस्करणों में सूत्रों की संख्या एक समान नहीं है। जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य के संस्करण में सूत्रों की संख्या ७२७ है। वेङ्कटराम शर्मा के संस्करण में ७२६, इन्दु रस्तोगी के संस्करण में ७४० तथा प्रोफेसर डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा के संस्करण में ७३४ है। अष्टम अध्याय के सूत्रों का विन्यास एवं संख्या का अव्यवस्थित होना ही इसका कारण है।

विषय वस्तु की दृष्टि से वा० प्रा० महत्त्वपूर्ण है, परन्तु विषय-विधान की दृष्टि से यह व्यवस्थित है। वा० प्रा० के आठों अध्यायों के विषयों को निम्न तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

अध्याय		**विषय**
प्रथम	:	वर्णोत्पत्ति, अध्ययन विधि, संज्ञा-परिभाषा, वर्णों के उच्चारण स्थान तथा पूर्वाङ्गपराङ्ग-चिन्ता।
द्वितीय	:	स्वर सम्बन्धी नियम
तृतीय	:	सन्धि-नियम
चतुर्थ	:	सन्धि के नियम, पदपाठ के नियम, क्रमपाठ के नियम।
पञ्चम	:	अवग्रह सम्बन्धी नियम।
षष्ठ	:	आख्यात और उपसर्ग के स्वर सम्बन्धी नियम तथा कतिपय पदों का स्वरूप।
सप्तम	:	परिग्रह सम्बन्धी नियम।

१. ऋ० तं० पृ० ४०।

२. Athrava Pratisakhya, p. 64.

अष्टम : वर्ण-समाम्नाय, वेदाध्ययन विधि और उसका फल, वर्णों के देवता, पदचतुष्टय पदों के गोत्र एवं देवता।

वा० प्रा० में अनेक विवादास्पद विषयों तथा उच्चारण-विषयक महत्त्वपूर्ण विषयों तथा उच्चारण-विषयक महत्त्वपूर्ण बातों के सन्दर्भ में सूत्रकार आचार्य कात्यायन ने नौ आचार्यो के मतों का नामतः निर्देश किया है जिनके नाम इस प्रकार है— काण्व[१], शाकटायन[२], शाकल्य[३], औपशिवि[४], काश्यप[५], दालभ्य[६], शौनक[७], जातूकर्ण्य[८] तथा गार्ग्य[९]। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों के मतों को बिना नामोल्लेख के प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ एके,[१०] एकेषाम्,[११] एवं माध्यन्दिनानाम्।[१२] पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से भी यह प्रातिशाख्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वा० प्रा० में दो प्रकार के पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। इनमें एक अन्वर्थ हैं एवं दूसरे रूढ़ है जिनका अर्थ विश्लेषण करना कठिन है। जैसे—जित्, मुत्, धि, सिम् आदि पारिभाषिक शब्दों का अन्य प्रातिशाख्यों में अभाव है। इस प्रातिशाख्य का तीन नामों से व्यवहार होता है— (१) वाजसनेयि प्रातिशाख्य (२) शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य (३) कात्यायन-प्रातिशाख्य।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के मुख्य विषय

वा० प्रा० में प्रतिपादित विषयों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. वर्ण-विचार

वा० प्रा० के अष्टम अध्याय में वर्ण-सामाम्नाय का कथन किया गया है एवं प्रथम अध्याय में वर्णोत्पत्ति, वर्णों की उत्पत्ति के स्थान और करण, अक्षर-विभाजन (अङ्गाङ्गिभाव)

---

(१) १।१२३, १।१४९।
(२) ३।९, ३।१२, ३।८७, ४।५, ४।१२९, ४।१९१।
(३) ३।१०, ११।
(४) ३।१३१
(५) ४।५, ४।१६०॥
(६) ४।१६।
(७) ४।१२२
(८) ४।१२५, ४।१६०, ५।२२॥
(९) ४।१६७
(१०) ३।९१, ३।१२८, ४।१८८, ५।२३, ७।८।
(११) ४।५७, ४।१२८, ४।१४६
(१२) ८।३९।

का विधान किया गया। अष्टम अध्याय में वर्णों के देवता एवं चतुर्थ अध्याय में ऋ, ऌ के स्वरत्व के विषय में विधान किया गया है। वा० प्रा० में प्रणव के प्रयोग एवं उसके महत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है।

२. स्वर-विचार

संहिता-पाठ परम्परानुसार होता है। यह पाठ साधारण न होकर स्वराघातों के अधार पर होता है। स्वरोच्चारण में थोड़ी सी भी त्रुटि होने पर महान् अनर्थ हो जाता है। इसीलिए वा० प्रा० में स्वर-विषयक विस्तृत विधान किया गया है। प्रथम अध्याय में उदात्त, अनुदात एवं स्वरित का स्वरूप, स्वरित के भेद तथा उनके लक्षण, स्वरितों के उच्चारण में हस्तप्रदर्शन इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रतिपादित किया गया है। वा० प्रा० के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय एवं षष्ठ अध्याय में वैदिक मन्त्रों में स्वर सम्बन्धी नियमों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

३. सन्धि-विचार

प्रातिशाख्यों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय पदों से संहिता-पाठ का निर्माण करना है। पदों से संहिता-पाठ का निर्माण सन्धि नियमों के आधार पर ही होता है। यही कारण है कि वा०प्रा० के सम्पूर्ण तृतीय अध्याय एवं चतुर्थ अध्याय के तीन चौथाई हिस्सों में सन्धि-विषयक नियमों का विधान किया गया है। सन्धि-विषयक संज्ञा एवं परिभाषाओं का कथन वा०प्रा० के प्रथम अध्याय में किया गया है।

४. पदपाठ-विचार

वा०प्रा० वासजनेयि-संहिता के पदपाठ पर आधारित है। संहिता के शुद्ध उच्चारण के लिए पदों का शुद्ध उच्चारण आवश्यक है। अर्थज्ञान की दृष्टि से भी वैदिक पदों के शुद्ध रुपों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसी तथ्य को दृष्टि से रखकर वा० प्रा० में पदपाठ सम्बन्धी नियम बतलाये गये हैं। पद का लक्षण, अनेक प्रकार के पद एवं उनके लक्षण, पदपाठ में इतिकरण का विधान स्थितोपस्थित का स्वरूप, अवग्रह का विस्तृत विवेचन एवं परिग्रह के नियम वा० प्रा० के प्रथम एवं चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों तथा सम्पूर्ण पंचम एवं सप्तम अध्याय में बतलायें गये है।

५. क्रमपाठ-विचार

पदपाठ एवं संहिता-पाठ के बाद क्रमपाठ का स्थान आता है। पदपाठ एवं सहिता-पाठ इन दोनों की पुष्टि के लिए क्रम-पाठ अत्यन्त उपयोगी है। अतएव वा०प्रा० के चतुर्थ अध्याय के अन्तिम सूत्रों तथा सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में क्रम-पाठ का विधान किया गया है।

६. वेदाध्ययन-विचार

प्राचीनकाल से ही वेदों के अध्ययन की सुव्यवस्थित परिपाटी चली आ रही है। वेदाध्ययन की अपनी विशिष्ट विधि है। इस विधि का वर्णन वा० प्रा० के प्रथम अध्याय के प्रारम्भिक सूत्रों एवं अष्टम अध्याय के कतिपय सूत्रों में किया गया है। वेदाध्ययन का फल भी अष्टम अध्याय में बतलाया गया है।

वाजसनेयि प्रतिशाख्य के निर्माण में अपनाई गई पद्धति

वा०प्रा० वाजसनेयि चरण की पन्द्रह शाखाओं से सम्बन्धित है। वा०प्रा० के सूत्रों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रातिशाख्यकार कात्यायन ने वाजसनेयि चरण की सम्पूर्ण संहिताओं की विशेषताओं को उल्लिखित करने के लिए अथक परिश्रम किया है। सूत्रकार ने संहिता के प्रत्येक स्थल, वर्ण, पद, सन्धि, स्वर आदि का सूक्ष्म निरीक्षण किया है तथा एक-एक स्थल को लेकर सूत्रों का निर्माण किया है। इतने विशाल साहित्य की विशिष्टताओं को उल्लिखित करने के लिए आचार्य कात्यायन ने वा०प्रा० में तीन प्रकार के सूत्रों का निर्माण किया है (१) सामान्य सूत्र (२) अपवाद सूत्र (३) निपातन सूत्र। सर्वप्रथम उन्होंने व्यापक क्षेत्र वाली विधियों को सामान्य सूत्र के रूप में उपनिबद्ध किया है। तदनन्तर अल्पक्षेत्र वाली विधियों को अपवाद सूत्रों के रूप में उपनिबद्ध किया है। सामान्य सूत्रों एवं अपवाद सूत्रों के अन्तगर्त न आने वाले तथा सम्पूर्ण शास्त्र के अपवाद-भूत स्थलों को निपातन के रूप में प्रस्तुत किया है। वा०सं० के सभी स्थल इन सूत्रों के अन्तर्गत आ गये हैं। वा०प्रा० की पद्धति में अधोलिखित विधाओं को अपनाया गया है।

१. मा०सं० के अतिरिक्त अन्य शाखाओं की संहिताओं के पाठगत विभिन्नताओं का निर्देश तत्तत् आचार्यों के नामों से अथवा एके, एकेषाम् आदि के द्वारा किया गया है।

२. ग्रन्थ में शब्दों के अनावश्यक प्रयोग से बचने के लिए सूत्रकार द्वारा पारिभाषिक शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने एकत्र पारिभाषिक शब्द का विधान कर दिया और फिर जहाँ-जहाँ उस अर्थ को प्रकट करना अभीष्ट था वहाँ-वहाँ उस छोटे से पारिभाषिक शब्द का उल्लेख कर दिया।

३. वा० प्रा० के सूत्रों को भलीभाँति समझने के लिए तथा उनके समुचित प्रयोग के लिए प्रातिशाख्यकार ने वा०प्रा० के प्रथम अध्याय में कतिपय परिभाषा सूत्रों का निर्माण किया। है। परिभाषा-सूत्रों द्वारा ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय को सरलता से समझा जा सकता है।

४. वा० प्रा० में सूत्रकार ने 'हि' सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण विधानों को तीन कालों में विभक्त किया है। इस प्रकार के सूत्र-विभाजन सर्वथा नवीन प्रयोग है।

५. वा० प्रा० के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति का संकेत सूत्रकार द्वारा 'वृद्धं वृद्धिः' इस शास्त्र महत्त्व प्रतिपादक एवं मंगलात्मक सूत्र से किया गया है। प्रातिशाख्य के अध्ययन में पाठकों की रुचि बढ़ाने के लिए इस सूत्र को सूत्रकार ने प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में रखा है।

६. सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सूत्ररूप में उपन्यस्त किया गया है। जिसके परिणाम स्वरूप छन्दोभङ्ग जैसे दोष की आशंका नहीं रही एवं कवित्व के चक्कर में छोटी-छोटी बातों को घुमा-फिरा कर कहने का कोई स्थान नहीं रहा।

वाजसनेयि प्रातिशाख्य की विशेषताएं

१. वा० प्रा० में वर्ण-समाम्नाय का सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कथन किया है। अन्य दूसरे प्रातिशाख्यों में वर्ण समाम्नाय का इस प्रकार कथन नहीं किया गया है। फलस्वरूप भाष्यकारों को इस विषय में ऊहापोह नहीं करना पड़ा है तथा वा० प्रा० में स्वीकृत वर्णों की संख्या के विषय में हमें असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

२. भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से वा० प्रा० का अत्यधिक महत्त्व है। वा० प्रा० में सूत्रकार आचार्य कात्यायन ने वर्णों के स्वरूप एवं उनके उच्चारण प्रकार का गम्भीर एवं वैज्ञानिक विवेचन किया है। वर्णोत्पत्ति के मूल कारण एवं वर्णोत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में सूत्रकार ने जो विवेचन किया है वह ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसी प्रकार पद विषयक विधान पद-विज्ञान की दृष्टि से उपयोगी है।

३. वैदिक-स्वर, वैदिक-सन्धि, पदपाठ, क्रम-पाठ के विषय में वा० प्रा० में अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विधान मिलते हैं।

४. इस, प्रातिशाख्य की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि प्रातिशाख्यकार ने अपने मत को स्पष्ट करने के लिए तथा अन्य शाखाओं के पाठ सिद्धि के लिए अनेक आचार्यों के मतों को प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों की संख्या ९ से अधिक है और उनके नाम इस प्रकार है कण्व (१।१२३, १४९), शाकटायन (३।९,१२) शाकल्य (३।१०,११), औपशिवि (३।१३९), काश्यप (४।५, ४।१६०) गार्ग्य (४।१६७), जातूकर्ण्य (४।१२५, ४।१६०, ५।२२), दालभ्य (४।१६) माध्यन्दिन (८।३९), शौनक (४।१२२)। इन आचार्यों के अतिरिक्त एके (३।३९, ३।१२८, ४।१८८) एकेषाम् (४।५७, ४।१२८) शब्दों से भी मतों का उल्लेख

किया गया है।

५. इस प्रातिशाख्य में यज्ञ प्रकरण सम्बन्धी कतिपय विधान बतलाये गये हैं तथा संहिता के अंशों को उनमें प्रतिपादित यज्ञों के नामों से निर्दिष्ट किया गया है। यथा- समानोऽनश्वमेधे (वा०प्रा० ५।३६)।

६. यजुर्वेद में यजुष् रूप (गद्यात्मक) मंत्रों की अधिकता है तथापि ऋक् संज्ञक (पदबद्ध) मन्त्र भी कम नहीं है। सूत्रकार ने ऋक् तथा यजुष् मन्त्रों के स्वरूप से भी कतिपय विधान दिये हैं। यथा– वा०प्रा० ४।१८, ४।७९ आदि।

७. सूत्रकार ने व्याकरण प्रसिद्ध तिङ्, कृत्, तद्धित, समास जैसी प्राचीन संज्ञाओं तथा उसके नियमों का न्याय शब्द से समादर किया है।

इन उपर्युक्त अनेक विशेषताओं से आचार्य कात्यायन की रचना शुक्लयजुः प्रातिशाख्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

सूत्रकार कात्यायन एवं उनकी रचनाएं

आचार्य कात्यायन के विषय में प्राच्य एवं प्रातीच्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है तथापि उन विद्वानों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। सूत्रकार कात्यायन से सम्बन्धित कतिपय तथ्यों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

त्रिकाण्डशेषकोष के रचयिता पुरुषोत्तम देव के अनुसार कात्यायन के पाँच नाम- मेघाजत्रि, कात्य, कात्यायन, पुनवर्सु और वररुचि है।[१] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कात्य, कात्यायन और वररुचि नामों का उल्लेख किया है।[२] भाषा वृत्त में पुनर्वसु और वररुचि को पर्यायवाची बतलाया गया है।[३] कथासरित्सागर में श्रुतधर नाम भी वररुचि कात्यायन के लिए प्रयुक्त हुआ है।[४] हेमचन्द्र के कोष में मेधाजित्, वररुचि और पुनर्वसु नाम कात्यायन के ही बतलाये गये हैं।[५]

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध आचार्य कौटिल्य के लिए जिस प्रकार वात्स्यायन एवं पाणिनि के लिए शालातुरीय संज्ञा प्रसिद्ध है उसी प्रकार कात्यायन के लिए उक्त नाम ग्रन्थकारों

---

१. मेधावी वाथ मेधाजित्कात्यः कात्यायनश्च सः।
पुनर्वसुर्वररुचिर्गोनर्दीयः पतञ्जलिः।। -त्रिकाण्डशेषकोष २।२५

२. प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यगस्तुते। -महाभाष्य ३।२।३।।

३. पुनर्वसुर्वररुचिः। ४।३, ३४।।

४. एष श्रुतधरो जातो विद्यां वर्षादवाप्स्यति। -१।२।६९-७०।।

५. कात्ययनो वररुचिर्मेधाजिच्च पुनर्वसुः। अभिधान चिन्ताणि।। ३।८५२

ने उद्धृत किये है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने पारस्कर नाम कात्यायन का सिद्ध किया है।[१]

ऋृक् सर्वानुक्रमणी के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य ने श्लोकात्मक अपनी भूमिका में कात्यायन को आचार्य शौनक का शिष्य एवं आश्वलायन का सतीर्थ्य बतलाया है। कात्यायन की रचनाओं में वाजिसूत्र, उपग्रन्थ, स्मृति, भ्राजमान श्लोक, ब्रह्मकारिका, पाणिनीय महावार्तिक एवं सर्वानुक्रमणी का उल्लेख किया है।[२] स्कन्दगुप्त ने अपने श्रीकृष्णचरित काव्य के प्रारम्भ में लिखा है कि वररुचि कात्यायन ने पाणिनीय व्याकरण को अपनी रचना वार्तिक से जिस प्रकार पुष्ट किया उसी प्रकार स्वर्गारोहण काव्य की रचना कविकर्म की कुशलता भी बतलायी है।[३] प्रतिज्ञा परिशिष्ट में भाष्यकार अनन्तदेवयाज्ञिक ने कात्यायन को कल्पसूत्र एवं १८ परिशिष्ट ग्रन्थों के रचनाकार रूप से उल्लेख किया है।[४]

स्कन्दपुराण नागर खण्ड अध्याय १३०-३१ के अनुसार कात्यायन महर्षि याज्ञवल्क्य के पुत्र थे जो याज्ञवल्क्य की पत्नी कात्यायनी की सन्तान थे। ये यज्ञ विद्या विचक्षण एवं वेदसूत्रों के रचयिता थे। इस कात्यायन के वररुचि नामक एक पुत्र था।[५] वृतजातसमुच्चय नामक प्राकृत छन्दोग्रन्थ के टीकाकार चक्रपाल पुत्र गोपाल ने प्रारम्भ में छन्दः शास्त्र के रचयिताओं में पिङ्गलादि की भाँति कात्यायन को भी नमस्कार किया है। अमरकोष के एक हस्तलेख में १८ कोषकारों की गणना है जिसमें वररुचि और कात्यायन को भिन्न-भिन्न

---

१. याज्ञवल्क्यस्य पुत्रः कात्यायनीत जातः कात्यायनः परासां शाखानां ग्रन्थनिर्माण- करणात् पारस्कर इति नाम्ना प्रसिद्धः ।। -का० सं० भू० १६ पृ०

२. शौनकस्य तु शिष्योऽभूद्‌ भगवानाश्वलायनः। ....शौनकस्य प्रसादेन कर्मज्ञः समद्यत। कात्यायन मुनिः ......वाजिनां सूत्रकृत् साम्नामुपग्रन्थस्य कारकः। स्मृतेश्च कर्त्ता श्लोकानां भ्राजमानां च कारकः। अथर्वणां निर्ममे यः सम्यग्वे ब्राह्मकारिकाः। महावार्त्तिकमाकारः पाणिनीय महार्णवे। यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवांस्तु पतञ्जलिः। व्याख्यच्छान्तनवीयेन महाभाष्येण हर्षितः तपोयोगान्निर्ममे यः सर्वानुक्रमणीमिमाम्। ऋक्सर्वानुक्रमणी षड्गुरुशिष्यकृत भूमिका।

३. यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान्भुवि। भाव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः। न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरित वार्त्तिकियः। काव्योऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनो सो कविकर्म दक्षः।।

४. कल्पानष्टादशपरिशिष्टानि च प्रणीतवतो भगवतः कात्यायनस्य। –प्र०परि० १।१।।

५. एवं सिद्धिं समापन्नो याज्ञवल्क्यो द्विजोतमः। .....जनकाय नरेन्द्राय व्याख्याय च ततः परम्। कात्यायनसुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्। स्कं० पु० ना० खं० १३०। ७०-७१।। कात्यायनमिवं च यज्ञविद्याविचक्षणम् पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः। -स्कं० पु० ना० खं० १३१।४८-४९।।

कोषकार के रूप में निर्दिष्ट किया है। कातन्त्र व्याकरण के वृत्तिकार दुर्ग सिंह के लेख से यह ज्ञात होता है कि षट्पादीय कृत् प्रकरण के रचयिता कात्यायन हैं।

पाश्चात्य विद्वानों का मत

आचार्य कात्यायन के सम्बन्ध में मैक्समूलर बेवर तथा गोल्डस्टुकर ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं किन्तु तीनों ही विद्वान् भिन्न-भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचे है। मैक्समूलर ने कात्यायन के सम्बन्ध में विचार की आधार शिला रखी। मैक्समूलर का मत कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव के लेख पर आधारित है। उनका निष्कर्ष है कि गुरु शिष्य की ५ पीढ़ी थी शौनक, आश्वलायन, कात्यायन, पतञ्जलि और व्यास।[१] कात्यायन और वररुचि एक ही व्यक्ति थे तथा वररुचि कात्यायन पाणिनि के समकालीन थे।[२] किन्तु सभी प्रातिशाख्य पाणिनी अष्टाध्यायी से पूर्व लिखा गया है।[३] मैक्समूलर के अनुसार रचनाओं का क्रम इस प्रकार है (१) कात्यायन प्रातिशाख्य (२) पाणिनीय-व्याकरण (३) कात्यायनीय-वार्तिक। मैक्समूलर ने कथासरित्सागर की कथा के आधार पर कात्यायन को ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध अर्थात् ३५० ई० पू० का सिद्ध किया है।[४]

आटो बोथलिङ्ग के अनुसार भी कात्यायन का समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का मध्य है। राजतरंगिणी के एक सन्दर्भ के अनुसार राजा अभिमन्यु ने चन्द्र एवं अन्य वैयाकरणों को पतञ्जलि के महाभाष्य को कश्मीर देश में पढ़ाने का आदेश दिया था। आटोबोथलिङ्ग का अनुमान है कि राजा अभिमन्यु का काल ई० पू० १०० वर्ष है। और इस सूत्र से उन्होंने पाणिनि का काल ई० पू० ३५० वर्ष निर्धारित किया है।[५] इस प्रकार भी कात्यायन ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के मध्य में आते हैं। लसेन द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन किया गया।[६] इनके अनुसार पाणिनि ई० पू० द्वितीय शताब्दी के लगभग के स्थिर होते हैं। वेबर और मैक्डानल के दृष्टिकोण के विरुद्ध दो भिन्न-भिन्न कात्यायन माने हैं।[७] किन्तु दोनों

---

१. History of Ancient Sanskrit Literatire, P. 125.

२. द्र० वही, पृ० ७१।

३. द्र० वही, पृ० ७१।

४. Katyayan May be placed, according to the interpretation of the Somadeva's story, in the second half of the fourth century B.C. — History of the ancient Sanskrit Literature, p. 127.

५. Commentry on Panini By Otto Bohtlingk, p. 17-18.

६. Indische Alterthumskunde, Voltt. p. 413.

७. Preface of Katyayan Pratisakhya, Edited by A. Wefer.

ही इस बात में मैक्समूलर से सहमत है कि वा०प्रा० पाणिनि पूर्व की रचना है। मैक्डालन के अनुसार एक कात्यायन परिशिष्ट ग्रन्थों एवं वा०प्रा० के रचयिता थे तथा दूसरे कात्यायन पाणिनि व्याकरण के वार्त्तिककार थे। उनका तर्क है कि कुछ वैदिक भाषा की विशेषताएं एवं उसके रूप जो कि पाणिनि व्याकरण से सिद्ध नहीं हैं, वे परिशिष्ट ग्रन्थों में प्राप्त होते है।

गोल्डस्टुकर का मत है कि वा०प्रा० के रचयिता एवं वार्त्तिककार कात्यायन एक ही है। उनके अनुसार कात्यायन ने पहले महावार्त्तिक लिखा एवं तदनन्तर वा०प्रा० की रचना की। गोल्डस्टुकर का कथन है कि वैदिक भाषा पर पाणिनि के विधान अपूर्ण थे और कात्यायन द्वारा उनकी न्यूनतापूर्ति प्रातिशाख्य में की गयी। इस प्रकार पाणिनि द्वारा परित्यक्त तथ्यों की पूर्ति हेतु सूत्ररूप में उन नियमों का कथन अपने प्रातिशाख्य में कात्यायन ने किया और इसी तरह के उद्देश्य से उन्होंने अपना वार्त्तिक भी लिखा।[१] इस प्रकार गोल्डस्टुकर एक कात्यायन मानने में तो मैक्समूलर से सहमत हैं किन्तु सभी प्रातिशाख्यों को पाणिनि व्याकरण से परवर्ती मानकर उन्होंने मैक्समूलर और वेबर के मत का खण्डन ही नहीं किया अपितु रॉथ, बर्नेल और लाइबिच के मत से भी असहमति प्रदर्शित की। राथ ने प्रातिशाख्यों को पाणिनि व्याकरण का मार्गदर्शक अग्रगामी आदर्श उदाहरण के रूप में माना है।[२] बर्नेल का भी मत है कि वा०प्रा० पाणिनिय व्याकरण से पूर्व का है।

वा०प्रा० का टीकायें

वा०प्रा० की दो टीकायें आज तक प्रकाशित हुई है।

(१) उवटकृत मातृमोद नामक भाष्य।

(२) अनन्तभट्टकृत पदार्थ प्रकाश नामक भाष्य।

भाष्यकार उवट एवं उनकी कृतियाँ

आचार्य उवट ने वा०प्रा० के प्रत्येक अध्याय के भाष्य के अन्त में कतिपय पदों के हेरफेर से यह पुष्पिका लिखी है इत्यानन्दपुरवास्तव्यवज्रटसूनुना उवटेन कृते मातृमोदाख्ये प्रातिशाख्यभाष्ये– अध्यायः समाप्तः अर्थात् आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट की कृति मातृमोद नामक प्रातिशाख्य भाष्य में......अध्याय समाप्त हुआ। इसी प्रकार ऋ० प्रा० के भाष्य के अन्त में उन्होंने यह लिखा है.......इति श्री पार्षदव्याख्यायामानन्दपुर वास्तव्यवज्रट पुत्र उवटकृतौ प्रातिशाख्य सूत्र भाष्ये– पटलम्– अर्थात् आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र

१. Panini his Place in Sanskrit Litrerature, Page 200, 205, 212 & 217.

२. Preface of the Nirukta, p. xi, iii Edited by Roth.

उवट की कृति पार्षदव्याख्यात्मक प्रातिशाख्य सूत्र भाष्य में....... पटल समाप्त हुआ। यजुर्वेद-संहिता के भाष्य के अन्त में भी उपर्युक्त आशय श्लोक रूप में उन्होंने इस तरह लिखा है—आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना। उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः।। ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन् मन्त्राणां कृतवान भाष्यं महीं भोजे प्रशासति।

अर्थात् आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र उवट ने सुनिश्चित पदों और वाक्यों से समन्वित भाष्य किया। ऋषि आदियों को नमस्कार करके अवन्ती में निवास करते हुए उवट ने मन्त्रों का भाष्य किया, जब भोज पृथ्वी का शासन कर रहा था।

उपर्युक्त तीनों उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि (१) आचार्य उवट आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र थे। (२) इन्होंने राजा भोज के शासन काल में अवन्ती में रहकर शुक्ल-यजुर्वेद के भाष्य की रचना की थी। नामकरण की शैली से उवट का मूलस्थान काश्मीर ज्ञात होता है। काव्य-प्रकाश के टीकाकार भीमसेन ने जैय्यट के तीन पुत्रों में उवट, कैय्यट के ज्येष्ठभ्राता मम्मट (काव्यप्रकारश के रचयिता) को बतलाया है। यद्यपि सर्वत्र उवट के पिता का नाम वज्रट ही मिलता है तथापि मा० सं० के २०वें अध्यायान्त की पुष्पिका में वज्रट के स्थान पर जैय्यट नाम उपलब्ध होता है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि वज्रट का ही जैय्यट यह उपनाम रहा होगा।

आचार्य उवट की रचनाये है— (१) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य पर भाष्य (२) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य पर भाष्य (३) शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता पर भाष्य (४) ऋृक्सर्वानुक्रमणी पर भाष्य (५) ईशावास्य उपनिषद् पर भाष्य।

उवट का काल

राजा भोज ने १०१८ ई० से लेकर १०६० ई० तक शासन किया। राजा भोज के समकालीन होने के कारण उवट का भी समय यही अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल है।

वा० प्रा० के भाष्यकार उवट की कुछ विशेषताओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है— (१) भाष्यकार ने सूत्रकार की पुष्टि किया है। उन्होंने सूत्रों की सार्थकता को स्थापित किया है, सूत्र में स्थित सभी पदों की उपयोगिता को दिखलाया है तथा सूत्रों में प्रतीयमान विरोधों का परिहार किया है। (२) उनका भाष्य न अधिक संक्षिप्त है एवं न अधिक विस्तृत (३) उन्होंने अनावश्यक विवादों से बचने का प्रयास किया है। (४) सूत्रों को समझाने के लिए उन्होंने उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत किया है। जहाँ सूत्रों के उदाहरण संहिता में नहीं मिले हैं वहाँ उन्होंने दूसरी शाखाओं से उदाहरण दिये हैं अथवा लौकिक (रूप) उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। (५) विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शिक्षा

ग्रन्थों इत्यादि से कारिकाओं को भी उद्धृत किया है। (६) अपने भाष्य में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया है। यथा---प्रातिशाख्य का क्षेत्र (१।१) पदभक्तियाँ (२।१), सोष्म-संज्ञा (१।५४), क्रमपाठ की उपयोगिता (४।१८२) इत्यादि।

भाष्यकार अनन्त एवं उनकी कृतियाँ

भाष्यकार अनन्त ने वा०प्रा० के प्रत्येक अध्याय के भाष्य के अन्त में कतिपय पदों के हेरफेर से यह पुष्पिका लिखी है..... श्री मत्प्रथमशाखिना नागदेवभट्टात्मजेन विरचिते कात्यायन प्रणीत प्रातिशाख्य सूत्रभाष्ये..... अध्यायः समाप्तः। अर्थात् प्रथम (काण्व) शाखीय श्रीमान् नागदेव भट्ट के पुत्र श्री अनन्त भट्ट द्वारा विरचित कात्यायन प्रातिशाख्य सूत्रभाष्य में..... अध्याय समाप्त हुआ। इसके अतिरिक्त वा०प्रा० के भाष्य समाप्ति पर उपसंहार में अपना परिचय देते हुए लिखा है..... जिसकी भागीरथी माता है ऐसे नागदेव के पुत्र अनन्त ने प्रातिशाख्य का वर्णन (अर्थात् भाष्य) विरचित किया है।[1] इसी प्रकार अनन्त के काण्व संहिता के उत्तरार्द्ध पर लिखे गये भाष्य की पुना स्थित पाण्डुलिपि में जो उद्धरण मिलता है इसका अभिप्राय है– भागीरथी जिसकी माता है, विद्वान् नागदेव जिसके पिता हैं तथा जिसका सर्वदा काशी में निवास है और चित्त रमाप्रिय अर्थात् विष्णु में है। उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि (१) आचार्य अनन्त की माता का नाम भागीरथी तथा पिता का नाम श्री नागदेव भट्ट था। (२) ये काण्व शाखीय थे (३) इनका निवास काशी में था।

आचार्य अनन्त भट्ट ने काण्वसंहिता की उत्तरविंशति (उत्तरार्ध के बीस अध्यायों) पर भाष्य लिखा है इसके अतिरिक्त वा० प्रा० पर पदार्थ प्रकाश नामक भाष्य, भाषिक सूत्र पर इन्होंने भाष्य लिखा है।

अनन्त भट्ट का काल

आचार्य अनन्त कण्ठाभरण नामक अपने कण्व संहिता के भाष्य में होलीरभाष्य को उद्धृत किया है। याजुष्सर्वानुक्रमणी का होलीरभाष्य द्वितीय शताब्दी के लगभग का सामान्यतया माना जाता है। इसके अतिरिक्त अनन्त ने सायण माधव को भी कतिपय स्थलों पर उद्धृत किया है। अतः अनुमानतः अनन्त का काल तीसरी या चौथी शताब्दी के मध्य ज्ञात होता है।

उल्लेखनीय है कि काण्व शाखीय अनन्त भट्ट के अतिरिक्त एक माध्यन्दिन शाखीय अनन्त भी हैं जिन्होंने प्रतिज्ञा परिशिष्ट सूत्र, जटादि विकृति लक्षण आदि पर भाष्य लिखा

---

१. अम्बा भागीरथी यस्य नागदेवात्मजः सुधीः।
तेनान्तेन रचितं भाषितं प्रातिशाख्यस्य वर्णनम्।।

है। अनन्त भट्ट के भाष्य के विषय में कतिपय तथ्यों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है— (१) इस भाष्य में मौलिकता का अभाव है। अनन्त भट्ट ने उवट भाष्य को ही अधिकांशतः अपनाया है। उवट के भाष्य में दिये गये उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों को ही उन्होंने प्रायः अपने भाष्य में दिया है। (२) अनन्त भट्ट काण्वशाखा के अनुयायी थे। उन्होंने अपने भाष्य में काण्व संहिता से ही उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत किया है। अनन्तभट्ट ने अनेक स्थलों में माध्यन्दिन-संहिता और काण्व-संहिता के पाठ भेद को बतलाया है, जो उपयोगी है। (३) कतिपय स्थलों में अनन्त भट्ट ने उवट के द्वारा अनुक्त महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी बतलाया है। यथा--वा० प्रा० १।१ के सन्दर्भ में उन्होंने प्रातिशाख्य के क्षेत्र के विषय में विस्तारपूर्वक जो विचार प्रस्तुत किया है वह नितान्त महत्त्वपूर्ण है। ४।१२९ और ४।१९१ के सन्दर्भ में उन्होंने शाकटायन पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया है। (४) सूत्रों की व्याख्या करते समय उन्होंने अनेक नवीन उदाहरण एवं प्रत्युदाहरण भी प्रस्तुत किये है। (५) अनेक सूत्रों का अनन्त भट्ट भाष्य उवट भाष्य की अपेक्षा विस्तृत एवं उपयोगी है। यथा ४।१७० इत्यादि क्रमपाठ विषयक सूत्रों के भाष्यों को देखा जा सकता है। (६) अनेक स्थलों पर अनन्त भट्ट ने नामोल्लेख किये बिना उवट के मत का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। यथा- २।१२, २।२१, ४।६१ इत्यादि सूत्रों के भाष्य में।

●

प्रथम अध्याय

संज्ञा-परिभाषा प्रकरण

सूत्रशैली में उपनिबद्ध ग्रन्थों की एक प्रमुख विशेषता संक्षिप्तता है। इसकी रक्षा के लिए सूत्रकार आचार्यों ने अथक प्रयत्न किया है। फलतः प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में आचार्यों ने अनेकों संज्ञाओं तथा परिभाषाओं का प्रयोग किया है। वस्तुतः किसी शास्त्र या विषय में पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से ही उसमें प्रवेश किया जा सकता है। अतः प्रातिशाख्य-सूत्रों के वास्तविक अर्थ को भलीभाँति समझने के लिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक संज्ञाओं तथा परिभाषाओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। सम्पूर्ण सूत्रों के द्वारा विहित कार्य उन संज्ञा और परिभाषाओं पर आधारित होता है।

पारिभाषिक संज्ञाएँ

विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिए पारिभाषिक शब्द (संज्ञा) का विधान ग्रन्थ में केवल एक स्थल पर कर दिया जाता है और ग्रन्थ में पुनः जहाँ-जहाँ उस अर्थ को प्रकट करना अभीष्ट होता है वहाँ-वहाँ उस छोटे से पारिभाषिक शब्द का उल्लेख कर दिया जाता है। पारिभाषिक शब्द जिस अर्थ-विशेष के द्योतक होते हैं, उस सम्पूर्ण अर्थ-विशेष का ज्ञान पारिभाषिक शब्द के कथन मात्र से ही हो जाता है।

परिभाषा-सूत्र

पारिभाषिक संज्ञाओं की तरह ही परिभाषा सूत्रों का भी निर्माण सूत्रकार करते हैं। सूत्रकार आचार्य कात्यायन परिभाषासूत्र के द्वारा सूत्रों के विधान तथा उनके द्वारा विहित कार्यों के सम्बन्ध में एक प्रणाली निश्चित कर देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण ग्रन्थ के विधानों एवं सूत्रों के अर्थ को समझने एवं निर्णय करने में विशेष कठिनाई नहीं होती है। इन परिभाषा-सूत्र रूपी कुञ्जी को हाथ में लेकर ही व्यक्ति आचार्य के सूत्रों के रहस्य को खोलने में सफल हो सकता है।

वा०प्रा० के प्रथम अध्याय में विशेष रूप से संज्ञा एवं परिभाषा सूत्रों का कथन सूत्रकार द्वारा किया गया है। अन्य अध्यायों में भी यथावसर बीच-बीच में कतिपय संज्ञा एवं परिभाषा सूत्रों का कथन हुआ है। प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के इस प्रकरण में वा०प्रा० में विहित संज्ञाओं तथा परिभाषाओं का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपधा

'उपधा' शब्द 'उप' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'उपधा' का शाब्दिक अर्थ है– समीप में रखा हुआ। वा०प्रा० मों 'उपधा' संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि अन्त्य वर्ण से पूर्व वाला वर्ण 'उपधा' संज्ञक होता है।[१] उदाहरणार्थ जैसे- महान् इन्द्रः। प्रस्तुत उदाहरण में अन्त्यवर्ण नकार है। उससे पूर्व में आकार है। अतः उस आकार की उपधां संज्ञा हुई।

नति

वा०प्रा० में नति संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य हो जाना नति कहलाता है।[२] उदाहरणार्थ जैसे– परि-सिञ्चति = परि षिञ्चति। यहाँ पर दन्त्य वर्ण सकार को मूर्धन्य वर्ण षकार रूप नति हुई है। वा० प्रा० में नति के लिए ही विनाम शब्द का प्रयोग किया गया है।[३]

सवर्ण

सवर्ण का शाब्दिक अर्थ है समान रूप (वर्ण) वाला अर्थात् समान स्थान तथा आस्य प्रयत्न वाला। वा० प्रा० में सवर्ण संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि समान स्थान, करण और आस्य प्रयत्न वाला वर्ण सवर्ण संज्ञक होता है।[४] उदाहरणार्थ– प्र। अर्पयतु। यहाँ प्र का अकार और अर्पयतु का अकार परस्पर सवर्ण है। क्योंकि दोनों का उच्चारण स्थान, करण एवं आस्य प्रयत्न समान है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि वा० प्रा० १।७२ द्वारा अ और आ वर्ण की आस्य प्रयत्न भेद होने पर भी सविशेष सवर्ण संज्ञा का विधान किया गया है।

सिम्

सिम् संज्ञा का विधान वा० प्रा० में किया गया है। इसके अनुसार वर्णसमाम्नाय में प्रारम्भ से लेकर क्रमानुसार आठ स्वर वर्णों की सिम् संज्ञा होती है।[५] अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ सिम् संज्ञक है। वर्णमाला में स्वर के प्लुत रूपों का भी ग्रहण किया गया है, किन्तु प्रयोजनाभाव होने के कारण सिम् संज्ञा में उनका ग्रहण नहीं किया गया है।

---

१. अन्त्याद्वर्णात्पूर्व उपधा। -(वा० प्रा० १।३५।

२. दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः। -वा० प्रा० १।४२।

३. विनामे। -वा० प्रा० ४।१९३।

४. समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः। -वा० प्रा० १।४३।

५. सिमादितौऽष्टौ स्वराणाम्। -वा० प्रा० १।४४।

सन्ध्यक्षर

सन्ध्यक्षर संज्ञा का विधान वा० प्रा० में किया गया है। इसके अनुसार स्वर वर्णों में बाद वाले स्वर वर्ण सन्ध्यक्षर कह जाते हैं।[१] सन्ध्यक्षर संज्ञा के द्विमात्रिक ए, ऐ, ओ, औ वर्णों का ही ग्रहण होता है। वर्णमाला के अन्तर्गत समस्त स्वरों एवं उनके रूपों का निर्देश सर्वथा युक्तिसंगत है क्योंकि वहाँ इतने वर्ण होते हैं यह बतलाना ही अभीष्ट होता है ऐसा भाष्यकार उवट का मत है।[२]

भावी

वा०प्रा० में भावी संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि कण्ठ्य (अ, आ) से भिन्न स्वर वर्ण भावी संज्ञक होते हैं।[३] अर्थात् कण्ठ स्थान वाले अकार एवं आकार वर्ण को छोड़कर शेष सभी स्वर वर्ण भावी संज्ञक हैं। यथा– इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ। भावी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में भाष्यकार उवट एवं अनन्त ने भी कुछ नहीं कहा है। मोनियर विलियम्स ने 'अन्तःस्था भवतीति भावी' ऐसा कहा है।[४]

व्यञ्जन

वा०प्रा० में व्यञ्जन संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि ककार से प्रारम्भ होने वाले वर्ण व्यञ्जन संज्ञक हैं।[५]

भाष्यकार उवट का मत है कि ककार से प्रारम्भ होने वाला और अनुस्वार पर समाप्त होने वाला जो वर्ण-समूह है वह व्यञ्जन संज्ञक है।[६]

---

१. सन्ध्यक्षरं परम्। -वा० प्रा० १।४५।

२. तानि चत्वारि द्विमात्राणि गृह्यन्ते न प्लुतान्यपि प्रयोजनाभावात्। प्रयोजनार्थं च संज्ञापरिभाषाः क्रियन्ते। अतो द्विमात्राण्येव गृह्यन्ते, न सर्वाणीति। वर्णसमाम्नाये तु सर्वेषां वर्णानां पाठो युक्तरूपं एव। -१।४५ पर उवट।

३. अकण्ठ्यो भावी। -वा० प्रा० १।४६।

४. प्राबेब्ली एज लायब्ल टू दि करेस्पान्डिंग सेमीवावेल (के० सी० चटर्जी टेक० पृ० १९७ फुट नोट)।

५. व्यञ्जनं कादि। -वा० प्रा० १।४७।

६. ककारादि अनुस्वारान्तं यद्वर्णजातं तद् व्यञ्जनसंज्ञं भवति। कितिखितिगितिघितिङिति इत्यादि अं इत्यानुस्वार एदन्तम्। -वा० प्रा० १।४७ पर उवट।

संयोग

वा०प्रा० में संयोग-संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि स्वर के व्यवधान से रहित व्यञ्जन संयोग कहलाते हैं।[१] अर्थात् जब दो व्यञ्जन-वर्ण स्वर वर्ण का व्यवधान हुए बिना प्रयुक्त होते हैं तो उनकी संयोग संज्ञा होती है। उदाहरणार्थ जैसे— पक्वम्। प्रस्तुत उदाहरण में स्वर वर्ण से अव्यवहित दो ककार एवं वकार हैं अतएव ये सम्मिलित वर्ण संयोग संज्ञक हैं।

जित्

वा०प्रा० में जित् संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि स्पर्शवर्गों के प्रथम दो दो वर्ण की जित् संज्ञा होती है।[२] अर्थात् क से प वर्ग पर्यन्त पाँच स्पर्श वर्गों में प्रत्येक वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण की जित् संज्ञा होती है। यथा- क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ। वा० प्रा० १।५१ में पुनः जित् संज्ञा का कथन करते हुए कहा गया है कि हकार को छोड़क़र अन्य सभी ऊष्म वर्ण जित् संज्ञक कहलाते हैं।[३] यथा— श, ष, स। इस प्रकार वा० प्रा० में क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स ये तेरह वर्ण जित् संज्ञक हैं।

मुत्

वा०प्रा० में मुत् संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि श, ष और स वर्ण मुत् संज्ञक हैं।[४] वा० प्रा० १।५१ के अनुसार ये वर्ण जित् संज्ञक तो हैं ही, मुत्संज्ञा भी वा० प्रा० १।५२ से इनकी की गयी है।

धि

वा०प्रा० में धि संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि शेष वर्णराशि धि संज्ञक होती है।[५] भाष्यकार उवट का मत है कि वर्गों के बाद तीन-तीन वर्ण ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म तथा य, र, ल, व, ह ये बीस वर्ण धि संज्ञक होते हैं।[६]

---

१. अनन्तरं संयोगः। -वा० प्रा० १।४८।

२. द्वौ द्वौ प्रथमो जित्। -ना० पज्ञा० १।५०।

३. ऊष्माणश्च हवर्जम्। -वा० प्रा० १।५१।

४. मुच्च। -वा० प्रा०१।५२।

५. धि शेषः। -वा० प्रा० १।५३।

६. वर्गाणामुत्तरास्त्रयो यरलवहकाराश्चेति विंशतिवर्णा धिसंज्ञा भवन्ति।-वा० प्रा० १।५३ पर उवट।

अर्थात् ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, य, र, ल, व, ह इन बीस वर्णों का ही ग्रहण धि संज्ञा के अन्तर्गत होता है।

सोष्म

वा०प्रा० में सोष्म-संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक वर्ग में द्वितीय और चतुर्थ वर्ण सोष्म संज्ञक होता है।[1] स्पर्श वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ ये दस वर्ण सोष्म संज्ञक हैं। ख, छ, ठ, थ, फ, घ, झ, ढ, ध, भ। सोष्म संज्ञा विहित होने पर भी वा०प्रा० में इस संज्ञा का व्यवहार नहीं किया गया है। जिन संज्ञाओं का इस शास्त्र में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है उसका विधान सूत्रकार द्वारा क्यों किया गया यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसके समाधान में भाष्यकार उवट ने निम्न मत प्रतिपादित किया है।

(१) जिन संज्ञाओं का शास्त्र में व्यवहार उपलब्ध नहीं होता है, उन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा व्यवहृत संज्ञा जानना चाहिए।

(२) अथवा इस प्रकार की संज्ञाओं को शिष्यों के संव्यवहार के लिए जानना चाहिए।

(३) पूर्वाचार्यों की संज्ञाओं का इस शास्त्र में पुनः कथन मंगल के लिए है।

(४) अथवा जिस प्रकार ये वर्ण नित्य हैं उसी प्रकार ये संज्ञायें भी नित्य ही हैं।

(५) अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों के शास्त्रों की कीर्ति के अविनाश (रक्षा) के लिए हैं। क्योंकि सभी शास्त्रों में ये ही संज्ञाएं (सोष्म, स्पर्श, अन्तःस्थ आदि) विहित हैं।

(६) इन संज्ञाओं से व्यवहार करने वालों को धर्म की प्राप्ति होती है।

(७) अथवा सोष्म यह संज्ञा नहीं है अपितु वर्ण स्वरूप का प्रतिपादन है (क्योंकि) ये (स्पर्शवर्गीय द्वितीय एवं चतुर्थ) वर्ण ऊष्मा अर्थात् वायु से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं अतः ये सोष्म हैं।[2]

---

१. द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः। -वा० प्रा० १।५४।

२. इह यासां संज्ञानां शास्त्रे संव्यवहारो नोपलभ्यते पूर्वाचार्यसंज्ञास्ता वेदितव्याः शिष्य संव्यवहारार्थाः, शिष्या आभिः संव्यवहरेयुरिति। पूर्वाचार्यसंज्ञानुकथनमस्मिन् शास्त्रे मङ्गलार्थं च पूर्वाचार्यशास्त्र-कीर्त्यपरिणाशार्थं वा। यद्वा यथा एते वर्णा नित्या एवमेता अपि संज्ञा नित्या एव एवं च कृत्वा सर्वशास्त्रेष्वेता एवं संज्ञा उपलभ्यते-द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः तथा ककारादिनां स्पर्शसंज्ञा, तथा यकारादीनामन्तस्थसंज्ञा। आभिः संज्ञाभिर्व्यवहरतां धर्मो भवति। यद्वा नैव संज्ञा। किन्तर्हि? वर्णस्वरूपमनेन सूत्रेण कथ्यते। ऊष्मा वायुः, ऊष्मणा सह वर्तन्त इति सोष्माणः अतिशयार्थ-वचनम् महाप्राणा इत्यर्थः। -वा० प्रा० १।५४ पर उवट।

ह्रस्व

वा०प्रा० में ह्रस्व-संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि अकार के परिमाण (उच्चारण-काल) वाला स्वर ह्रस्व संज्ञक होता है।[१] अर्थात् अकार का उच्चारण जितने समय में होता है उतने समय में उच्चारित होने वाला वर्ण ह्रस्व संज्ञक होता है! अकार के ही समान काल मात्रा का भी होता है।[२] भाष्यकार उवट का मत है कि शास्त्र में मात्रा शब्द का जहाँ श्रवण हो वहाँ अकार का उच्चारण काल समझना चाहिए। अर्थात् ह्रस्व एवं मात्रा शब्द पर्यायवाचक हैं।[३] मात्रा अंश को कहते हैं। यहाँ समय के अंश के लिए इसका प्रयोग हुआ है। एक मात्रा से काल के उतने भाग को समझा जाता है कि जितना चुटकी बजाने में अथवा पलक गिरने में होता है उतने काल में एक मूल स्वर का उच्चारण हो जाता है। अतः एक मूल स्वर के उच्चारण में जितना काल अपेक्षित है उतने काल को एक मात्रा काल कहते हैं। कुक्कुट के शब्द कु, कू, कू३ में एक मात्रा, दो मात्रा और तीन मात्राओं का क्रमशः आरोह (चढ़ाव) स्पष्ट प्रतीत होता है और प्रायः सभी को उसका अनुभव होता है। इसलिए उसमें स्पष्ट प्रतीत होने वाले उकार को दृष्टान्तरूप में रखा गया है, अकारादि को नहीं।

दीर्घ

वा०प्रा० में दीर्घ-संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि एक मात्रा (ह्रस्व स्वर) से दुगुने काल वाला स्वर दीर्घ स्वर संज्ञक होता है।[४] उदाहरणार्थ जैसे— आ, ई, ऊ, ॠ, ॣ, ए, ऐ, ओ, औ।

प्लुत

वा०प्रा० में प्लुत-संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि ह्रस्व-स्वर से तीन गुना अधिक काल वाला स्वर प्लुत संज्ञक होता है।[५] यथा— आ३, ई३, ऊ३, ॠ३, ॣ३, ए३, ऐ३, ओ३, औ३।

---

१. अमात्र स्वरो ह्रस्वः। -वा० प्रा० १।५५।

२. मात्रा च। -वा० प्रा० १।५६।

३. मात्रा च यत्र श्रूयते तत्र अकारकालः मात्रास्वरः प्रवर्तव्यः। ह्रस्वे मात्रेति पर्यायावित्यर्थः। —वा० प्रा० १।५६ पर उवट।

४. द्विस्तावान् दीर्घः -वा० प्रा० १।५७।

५. प्लुतस्त्रिः। -वा० प्रा० १।५८।

अणु

वा०प्रा० में अणु-संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि व्यञ्जन मात्रा का आधी मात्रा (अर्थात् १/४ मात्रा) अणु संज्ञक होती है।[१] तात्पर्य यह है कि व्यञ्जन वर्ण स्वर से आधी मात्रा काल होता है।[२] अतएव आधी मात्रा का भी आधा अणु संज्ञक होता है।

परमाणु

वा०प्रा० में परमाणु संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि आधी अणु मात्रा (अणु का आधा अर्थात् १/८) परमाणु कहलाती है।[३] वाजसनेयिप्रातिशाख्यकार कात्यायन ने परमाणु संज्ञा का विधान करके भी अपने प्रातिशाख्य में उसका उपयोग नहीं किया है। अतः इसे हम निरर्थक संज्ञा कह सकते हैं।

अनुनासिक

वा०प्रा० में अनुनासिक संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि मुख और नासिका से उच्चरित होने वाला वर्ण अनुनासिक कहलाता है।[४] इसी अनुनासिक संज्ञा के सन्दर्भ में वा०प्रा० १।८९ का विधान है कि वर्गों के अन्तिम वर्ण नासिका से भी उच्चारित होते हैं अथवा स्पर्श वर्गों के अन्तिम वर्ण अनुनासिक-संज्ञक होते हैं।[५] यथा ङ, ञ, ण, न, म। भाष्यकार उवट ने १।७५ पर भाष्य करते हुए अनुनासिक को धर्म बतलाया है कि स्वरों का अनुनासिक वैकल्पिक धर्म है तथा रेफ वर्जित अन्तःस्था वर्णों का यह वाचनिक धर्म है।[६] इस प्रकार वा०प्रा० १।८९ के विधान से यह स्पष्ट होता है कि वर्गोत्तम वर्णों में अनुनासिक धर्म नित्य हैं। जिस वर्ण का उच्चारण नासिका से होता है उसे अनुनासिक कहते हैं। सभी स्वरों का उच्चारण नासिका से और उसके बिना भी होता है। इसलिए स्वर अनुनासिक और निरनुनासिक दो प्रकार के होते हैं। मुख की आवश्यकता तो प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में रहती है। बिना मुख के उच्चारण हो ही नहीं सकता। यहाँ पर कात्यायन के विधान से यह स्पष्ट होता है कि वचन और करण शब्द समानार्थक है जैसा कि अनन्त

---

१. तदर्धमणु। -वा० प्रा० १।६०।

२. व्यञ्जनमर्द्धमात्रा। – वा० प्रा० १।५९।

३. परमाण्वर्धाणुमात्रा। -वा० प्रा० १।६१।

४. मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः। -वा० प्रा० १।७५।

५. अनुनासिकाश्चोत्तमाः। -वा० प्रा० १।८९।

६. स्वराणामयं वैकल्पिको धर्मः, अन्तःस्थानां रेफवर्जितानां च वाचनिकश्चायं धर्मः। -वा० प्रा० १।७५ पर उवट।

ने अपने भाष्य में भी कहा है।[१] इस प्रकार अनुनासिक का अर्थ हुआ मुख और नासिका से उच्चरित होने वाला वर्ण।

प्रगृह्य

वा०प्रा० १।९२ इस सूत्र को अधिकृत करके कात्यायन ने प्रगृह्य संज्ञा का विधान किया है।[२] प्रगृह्य संज्ञक स्वर ये हैं–

(क) पद के अन्त में आने वाले एकार-ईकार और ऊकार द्विवचन के प्रतिपादक होने पर प्रगृह्य संज्ञक होते हैं।[३]

(ख) अवग्रह से अतिरिक्त स्थल में पदान्तीय ओकार प्रगृह्य संज्ञक होता है।[४] उदाहरण– चित्रभानो इति (वा० २०।८७)।

(ग) अपृक्त उकार भी प्रगृह्य संज्ञक होता है।[५] उदाहरण– 'न वा उ एतत्' (वा० २३।१६)।

(घ) चमू, अस्मे, त्वे ये पद प्रगृह्य संज्ञक होते हैं।[६] उदाहरण– 'चमू इति चमू' 'अस्मे इत्यस्मे' त्वे इति त्वे'।

(ङ) उदात्त मे पद प्रगृह्य संज्ञक होता है।[७] उदाहरण– मे इति मे (वा० ४।२२)।

(च) अमी पद होने पर प्रगृह्य संज्ञक होता है।[८] उदाहरण– 'अमी इत्यमी' (वा० ३४।४३)।

अक्षर

वा०प्रा० में अक्षर संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि (क) स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[९] जैसे– अ, इ। (ख) पूर्ववर्ती व्यञ्जनों के सहित स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[१०] यथा– मो। यहाँ मकार सहित ओकार अक्षर संज्ञक है। (ग) अवसान में स्थित

---

१. मुखसहितया नासिकया क्रियते उच्चार्यत इति मुखनासिकाकरणः सोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। -वा० प्रा० १।७५ पर अनन्त।
२. प्रगृह्यम्। -वा० प्रा० १।९२।
३. एकारेकारोकारा द्विवचनान्ताः। -वा० प्रा० १।९३।
४. ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः। -वा० प्रा० १।९४।
५. उकारोऽपृक्तः। -वा० प्रा० १।९५।
६. चूमे अस्मे त्वे। -वा० प्रा० १।९६।
७. मे उदात्तम्। -वा० प्रा० १।९७।
८. अभीपदम्। -वा० प्रा० १।९८।
९. स्वरोऽक्षरम्। -वा० प्रा० १।९९।
१०. सहाद्यैर्व्यञ्जनैः। -वा० प्रा० १।१००।

परवर्ती व्यञ्जनों के सहित भी स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[1] यथा— वाक्। प्रस्तुत उदाहरण में वकार और परवर्ती ककार के सहित आकार अक्षर संज्ञक है। इसी प्रकार प्राङ् में भी समझना चाहिए।

उदात्त

वा०प्रा० में उदात्त का विधान करते हुए कहा गया है कि उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है।[2] वस्तुतः मुख के भीतर कण्ठ तालु आदि स्थान है। उन पर जब भीतर से प्रेरित वायु का आघात होता है तब वर्णों की उत्पत्ति होती है। वे स्थान सखण्ड हैं। उनके दो भाग ऊपर और नीचे के हैं। जब स्वर ऊपर के भाग से उत्पन्न होता है तब वह कुछ ऊँचा सा मालुम पड़ता है उसे उदात्त कहते हैं और जब नीचे के भाग से उच्चारित होता है तो उसे अनुदात्त कहते हैं। भाष्यकार उवट का भी मत है कि आयाम अर्थात् गात्रों के ऊर्ध्वगमन से जो स्वर निष्पन्न होता है वह उदात्त संज्ञक होता है।[3]

अनुदात्त

वा०प्रा० में अनुदात्त का विधान करते हुए कहा गया है कि नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है।[4] अर्थात् उसकी अनुदात्त संज्ञा होती है। भाष्यकार उवट का मत है कि गात्रों के अधोगमन से जो स्वर निष्पन्न होता है वह अनुदात्त संज्ञक होता है।[5] उदाहरणार्थ— आर्षेय ऋषीणाम्।

स्वरित

वा०प्रा० में स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि दोनों प्रयत्नों से उच्चारित होने वाला स्वर स्वरित संज्ञक होता है।[6] अर्थात् उदात्त और अनुदात्त दोनों गुणों से युक्त स्वर स्वरित कहलाता है। भाष्यकार उवट ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि गात्रों का

---

१. उत्तरैश्चावसितैः। -वा० प्रा० १।१०१।

२. उच्चैरुदात्तः। -वा० प्रा० १।१०८।

३. आयामेन ऊर्ध्वगमनेन गात्राणाम् यः स्वरो निष्पद्यते सः उदात्तसंज्ञः भवति। -वा० प्रा० १।१०८ पर उवट।

४. नीचैरनुदात्तः। -वा० प्रा० १।१०९।

५. मार्दवेण अधोगमनेन गात्राणाम् यः स्वरो निष्पद्यते स अनुदात्त संज्ञः भवति। -वा० प्रा० १।१०९ पर उवट।

६. उभयवान्स्वरितः। -वा० प्रा० १।११०।

ऊर्ध्वगमन उदात्त का प्रयत्न है, गात्रों का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। एकत्र मिले हुए इन दो प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारित होता है वह स्वरित संज्ञक होता है।[१] उदाहरण– 'धान्यमसि' (वा० १।२०)।, 'स्थो वैष्णव्यो' (वा० १।१२)।

लोप

वा०प्रा० में लोप संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि वर्ण की अनुपलब्धि लोप कहलाती है।[२] उदाहरणार्थ जैसे– अयक्ष्माः। मा (प०पा०) अयक्ष्मा मा (सं०पा०) प्रस्तुत उदाहरण में संहिता पाठ में विसर्जनीय का अदर्शन अर्थात् लोप है। लोप हो जाने वाले वर्ण न लिखा जा सकता है तथा न तो उच्चारित ही किया जा सकता है।

व्याकरण के सिद्धान्त के अनुसार शब्द नित्य हैं। इस दशा में यहाँ लोप का अर्थ यदि विनाश किया जाय तो अनित्यता दोष आ पड़ेगा। इसलिए कहा गया है कि प्राप्त के न सुने जाने का लोप कहते हैं। इस प्रकार नित्यत्व बना रहता है। वाजसनेयि प्रातिशाख्यकार ने अदर्शन शब्द का प्रयोग सामान्यतः लुक् शब्द के लिए किया है। अन्य प्रातिशाख्यों में भी इस संज्ञा का विधान किया गया है।[३]

आम्रेडित

वा०प्रा० में आम्रेडित संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि किसी पद का एक ही आनुपूर्वी से दो बार उच्चारण होने पर, द्वितीयावृत्ति आम्रेडित कहलाती है।[४] उदाहरणार्थ जैसे– यज्ञानियज्ञा वो अग्नये। यहाँ पर यज्ञा पद एक ही आनुपूर्वी से दो बार कहा गया है। इसमें द्वितीय यज्ञा पद आम्रेडित संज्ञक है। कान् कान् शब्द दो बार कहा गया है, इसमें पर अर्थात् बाद वाले कान् की आम्रेडित-संज्ञा है।

स्थितोपस्थित

वा०प्रा० में स्थितोपस्थित संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि मध्य में स्थित

---

१. उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणाम् प्रयत्नः, अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणाम् प्रयत्नः। आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारी भूताभ्याम्, यः स्वर उच्चार्यते सः स्वरितः संज्ञः भवति। -वा० प्रा० १।११० पर उवट।

२. वर्णस्यादर्शनं लोपः। -वा० प्रा० १।१४१।

३. ऋ० प्रा० ४।८०, तै० प्रा० १।५८, अ० प्रा० १।६७।

४. द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम्। -वा० प्रा० १।१४६।

इति से मिला हुआ द्विरुक्त पद स्थितोपस्थित संज्ञक होता है।[१] उदाहरण– द्वे इति द्वे। उल्लेखनीय है कि स्थितोपस्थित में यदि आवर्त्तमान पद अवगृह्य रहता है तो द्वितीय आवृत्ति में उसका द्विखण्ड रूप पढ़ा जाता है।

अपृक्त

वा०प्रा० में अपृक्त संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि एक वर्ण वाला पद अपृक्त कहलाता है।[२] अर्थात् उसकी अपृक्त संज्ञा होती है। यथा– आ। उ। यहाँ आ एक पृथक पद है और एक वर्ण है अतः इसकी अपृक्त संज्ञा होती है। इसी प्रकार उ को भी समझा जा सकता है। यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा में आ और उ ये दो ही अपृक्त पद उपलब्ध हैं।

संहिता

वा०प्रा० में संहिता संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि- पूर्ववर्ती वर्ण के साथ जब परवर्ती वर्ण को मिलाया जाता है तब यह संहित कहलाता है।[३] भाष्यकार उवट इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पूर्ववर्ती (पदान्त) के साथ उत्तरवर्ती (पदादि) की जब स्वर की दृष्टि से और वर्ण की दृष्टि से मिलाया जाता है तब वह द्विपद संहिता कहलाती है।[४] जैसे- इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा (प०पा०) इषेत्वा। त्वोर्जे (क्रमपाठ) यहाँ पर पूर्व पदान्त त्वा एवं उत्तर पदादि ऊर्जे पद है। इन दोनों पदों का परस्पर आपस में मेल होकर इषे त्वा- यह रूप क्रम पाठ में बनता है। इसे ही सूत्रकार कात्यायन ने संहित एवं भाष्यकारों ने द्विपद संहिता या क्रम संहिता कहा है।

असंहित

वा०प्रा० में असंहित संज्ञा का विधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि प्रत्येक पद का पृथक्करण असंहित कहलाता है।[५] अर्थात् असंहित का शाब्दिक अर्थ न मिला हुआ है। जब पदों को अलग-अलग करके उच्चारित किया जाता है तो वह असंहित पाठ कहलाता है। जैसे- इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा।

---

१. संहितं स्थितोपस्थितम्। -वा० प्रा० १।१४७।

२. एकवर्णः पदमपृक्तम्। -वा० प्रा० १।१५१।

३. पूर्वेणोत्तरः संहितः। -वा० प्रा० १।१५५।

४. पूर्वेण पदान्तेन उत्तरः पदादिः संहिता यदा क्रियते स्वरतो वर्णतश्च तदा द्विपदसंहितोच्यते। -वा० प्रा० १।१५५ पर उवट।

५. पदविच्छेदोऽसंहितः। -वा० प्रा० १।१५६।

संहित

वा०प्रा० में संहिता संज्ञा का विधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि (यजुषों में) एक श्वास में उच्चारित होने वाले वर्णों का मेल संहिता कहलाता है।[१] जैसे— त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणान्नपादवृणीतायं यजमानः। (वा० सं० २१।६१) भाष्यकार उवट ने वर्ण-संहिता, अक्षर संहिता, पादसंहिता, पदसंहिता, आर्षीसंहिता इत्यादि भेद से संहिता का वा० प्रा० में यथास्थान उल्लेख किया है। वस्तुतः संहिता शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। (१) संहिता पाठ के लिए (२) सन्धि के लिए। शौनक ने संहिता शब्द का प्रयोग सन्धि के अर्थ में किया है। उनके अनुसार जो काल के व्यवधान के बिना पदान्तों को पदातियों से मिलाती हुई चलती है वह संहिता है।[२] प्रायः प्रातिशाख्यकारों ने संहिता पाठ को विकार तथा पदपाठ का मूल माना है। वे पदों को सिद्ध मानकर सन्धि नियमों के आधार पर संहितापाठ के निर्माण का विधान करते है। यास्क ने संहिता का लक्षण करते हुए कहा है— संहिता पदप्रकृतिः (नि० १।१७) यहाँ 'पदप्रकृतिः' शब्द के दो अर्थ होते हैं— (१) पदों की प्रकृति अर्थात् पदों का मूल। (२) पद है प्रकृति अर्थात् मूल जिसका वह। प्रथम अर्थ के अनुसार संहिता पदों की प्रकृति अर्थात् मूल है। इस प्रकार संहिता प्रकृति तथा पद विकृति है। किन्तु द्वितीय अर्थ के अनुसार पद-प्रकृति अर्थात् पद मूल है तथा संहिता विकृति है। वस्तुतः संहिता ही प्रकृति है क्योंकि सर्वप्रथम संहिता के मन्त्र हुए। तत्पश्चात् उनसे पदपाठ का निर्माण हुआ तथा यज्ञादि कार्यों में संहिता के मन्त्रों का ही प्रयोग होता है पदपाठ का नहीं, किन्तु प्रातिशाख्यकार पदों को ही सिद्ध मानकर संहितापाठ के निर्माण की पद्धति बतलाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि पद प्रकृति है और संहिता विकृति। यह प्रातिशाख्यकारों के विधान करने की विधा मात्र है।[२]

रिफित

वा०प्रा० में रिफित संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि (कतिपय परिगणित पदों का) विसर्जनीय रिफित कहलाता है।[३] पाणिनि की प्रक्रिया प्रतिशाख्यों की अपेक्षा प्रौढ़ है। प्रातिशाख्य के मत में पदान्तीय विसर्जनीय प्राकृत है तथा वह रिफित और अरिफित भेद से दो प्रकार का है। यहाँ पर रिफित संज्ञा के विषय में विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता। -वा० प्रा० १।१५८।

२. पदान्तान्पदादिभिः सन्दधतेति यत् सा कालाव्यवायेन — ऋ०प्रा०, २।

३. विसर्जनीयो रिफितः। -वा० प्रा० १।१६०।

१. अनुदात्त कः पद रिफित संज्ञक होता है।[1]

२. आद्युदात्त न होने पर 'अन्तः' पद रिफित संज्ञक होता है।[2] उदाहरण— 'अन्तरित्यन्तः (वा०७।५)।

३. अहः पद रिफित संज्ञक होता है यदि मकार बाद में न हो।[3] उदाहरण— अहरहरित्यहः अहः (वा० १।७५)।

४. आः और वः ये दो पद एक ऋचा में स्थित होने पर रिफित संज्ञक होते हैं।[4] उदाहरण— आवरित्यावः (वा० १३।३)।

५. स्तोतः, वस्तः, सनुतः, अभाः, वाः और द्वाः पद रिफित संज्ञक होते हैं।[5] उदाहरण— स्तोतरनेन (वा०२३।७)। दोषावस्तर्धिया (३।२२)। सनुतर्युयोत (वा०२०।५२) योनावभारुषा (१२/६१), वार्वद्भिर्धा (वा०५।११), द्वार्भ्यः (वा० ३०/१८०)।

६. नरण शब्द बाद में न हो तो स्वः पद रिफित संज्ञक होता है।[6] उदाहरण— स्वर्ण धर्मः (वा० १८/५०)।

७. पदादि स्वः पद रिफित संज्ञक होता है यदि बाद में जित् संज्ञक वर्ण न हो।[7] स्वर्ग्यायेति स्वः- ग्याय (वा० ११।२)।

८. ह्वाः, सवितः, पुनः, त्वष्टः, नेष्टः, अकः, होतः, मातः, प्रातः, जामातः, अजीगः, प्रणेतः— ये पद रिफित संज्ञक होते हैं।[8] ह्वार्मा (वा०१/२), सवितरिति सवितः (वा०९/१), पुनर्मनः (वा०४/१५), त्वष्टर्भूरि (वा०६/२०), नेष्टः पिब (वा०२६/२१), धातवेऽकः (वा०३८/५), होतर्यज (वा०२३/४), मातर्मा (वा०१०/२३), प्रातर्जुषस्व (वा०२०/२९) त्वष्टुर्जामातर (वा०२७/३४), ओषधीरजीगः (वा० २९/१८) प्रणेतर्भगा (वा०३४/३६)।

---

१. करनुदात्तम्। -वा० प्रा० १।१६१।

२. अन्तरनाद्युदात्तम्। -वा० प्रा० १।१६२।

३. अहरभकारपरम्। -वा० प्रा० १।१६३।

४. आवर्वरिति समानर्चि। -वा० प्रा० १।१६४।

५. स्तौतर्वस्तः सनुतरभार्वार्द्वाः। -वा० प्रा० १।१६५।

६. स्वः पदमनरणे। -वा० प्रा० १।१६६।

७. पदादिश्चाजित्परः। -वा० प्रा० १।१६७।

८. ह्वाः सवितः पुनस्त्वष्टर्नेष्टरर्कोतर्मातः प्रातर्जामातस्जीगः प्रणेतरिति च।-वा० प्रा० १।१६८।

पद

वा०प्रा० में पद का विधान करते हुए कहा गया है कि अर्थ का अभिधान करने वाला पद कहलाता है।[१] पुनः अष्टम् अध्याय में कहा गया है कि अक्षर का समुदाय पद होता है।[२]

स्वर

वा०प्रा० में स्वर संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि यहाँ पहले स्वर कहे जाते हैं।[३] जैसे- अ, आ, आ३, इ, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऋ३, ऌ, ॡ, ऌ३। वा० प्रा० ८।४ में कहा गया है कि अब सन्ध्यक्षर कहे जाते हैं।[४] जैसे- ए, ए३, ओ, ओ३, ऐ, ऐ३, ओ, औ३। ये उपर्युक्त स्वर हैं।[५]

अन्तःस्था

वा०प्रा० में य, र, ल, व की अन्तःस्था संज्ञा मानी गयी है।[६]

ऊष्म

वा०प्रा० में श, ष, स, ह की ऊष्म संज्ञा विहित है।[७]

वा०प्रा० में विहित परिभाषाएँ

परिभाषा के ही माध्यम से ग्रन्थ में प्रवेश किया जा सकता है। इसलिए प्रातिशाख्यों की विषय वस्तु के सम्यक् अवबोध के लिए उनमें प्रयुक्त परिभाषाओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। परिभाषाओं के द्वारा ही ग्रन्थ में किये गये विधानों का स्वरूप स्पष्ट एवं परिष्कृत होता है। यहाँ वा० प्रा० में विहित परिभाषाओं का विवेचन किया जा रहा है—

(१) वर्ण-निर्देश

१. वर्णों का निर्देश इति शब्द के द्वारा किया जाता है।[८] जैसे— अवर्ण के निर्देश के लिए

---

१. अर्थः पदम्। -वा० प्रा० ३।२।

२. अक्षरसमुदायः पदम्। -वा० प्रा० ८।५०।

३. तत्र स्वराः प्रथमम्। -वा० प्रा० ८।२।

४. अथ सन्ध्यक्षराणि। -वा० प्रा० ८।४।

५. इति स्वराः। -वा० प्रा० ८।६।

६. यिति रिति लिति विति। -वा० प्रा० ८।१५।

७. शिति षिति सिति हिति। -वा० प्रा० ८।१७।

८. निर्देश इतिना। -वा० प्रा० १।३६।

इति कहा जाता है। इसी प्रकार किति कहने पर क वर्ण का निर्देश होता है एवं खिति कहने पर ख वर्ण का निर्देश होता है।

२. वर्णों का निर्देश कार प्रत्यय के द्वारा भी किया जाता है।[१] जैसे– अवर्ण का निर्देश अकार शब्द के द्वारा भी होता है। इसी प्रकार इकार उकार आदि का भी निर्देश किया जाता है।

३. व्यञ्जन-वर्णों का निर्देश अकार से व्यवहित कार प्रत्यय के द्वारा होता है।[२] उदाहरणार्थ जैसे– ककार, खकार, गकार इत्यादि। यहाँ पर क्, ख्, ग्, आदि हलन्त वर्ण है। इनके आगे अकार व्यवहित कार प्रत्यय जोड़कर (क् अ कार) ककार कहा जाता है। यदि अकार का व्यवधान न दिया जाय तो क्कार कहना होगा। जिसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता है। इससे ज्ञात होता है कि स्वर वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए केवल कार शब्द को जोड़ दिया जाता है जबकि व्यञ्जन वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए अ सहित कार को जोड़ा जाता है।

४. र वर्ण का निर्देश एफ प्रत्यय के द्वारा होता है।[३] यथा– रेफ। भाष्यकार उवट के मतानुसार सूत्रोक्त च शब्द से इस बाद का संकेत मिलता है कि र वर्ण का निर्देश इति शब्द से भी होता है।[४] यथा– रिति।

५. स्वरों के साथ भी व्यञ्जन वर्णों का निर्देश होता है।[५] जैसे– नुः। यहाँ नुः पद में नकार का निर्देश स्वर से किया गया है। इसी प्रकार शिलिसि (वा० प्रा० ३।९६) में इकार वर्णों के निर्देश मात्र के लिए प्रयुक्त है। इसी प्रकार चछयोः शम् (वा० प्रा० ३।१३४) में अकार वर्णों के निर्देश मात्र के लिए प्रयुक्त है।

६. अनुस्वार, यम्, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय वर्णों का निर्देश किसी शब्द 'इति' एवं 'कार' प्रत्यय के सहयोग से नहीं होता है अपितु इनका निर्देश इनकी संज्ञा से ही होता है।[६] यथा- अं इति अनुस्वारः कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इति यमाः इत्यादि। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र वा० प्रा० १।३७ का अपवाद है।

---

१. कारेण च। -वा० प्रा० १।३७।

२. अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य। -वा० प्रा० १।३८।

३. र एफेन च। -वा० प्रा० १।३९।

४. च शब्दादितिना च। -वा० प्रा० १।३९।

५. स्वरैरपि। -वा० प्रा० १।४०।

६. नानुस्वारयमविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः। -वा० प्रा० १।४१।

७. स्पर्श संज्ञक वर्णों में ही संख्या जाननी चाहिए।[1] अर्थात् ककारादि स्पर्श वर्णों के पाँच वर्गों में प्रत्येक वर्ग में पाँच-पाँच वर्ण हैं। इन पचीस वर्णों के लिए प्रातिशाख्यों में प्रत्येक वर्ग के ज्ञान हेतु क्रमशः संख्या का व्यवहार किया जाता है। उदाहरणार्थ— वा० प्रा० ४।१२३ में विधान किया गया है कि पंचम स्पर्श वर्ण बाद में होने पर अपंचम स्पर्श वर्ण हो जाता है यहाँ पर स्पर्श ङ, ञ, ण, न, म वर्ण के लिए पंचम इस संख्या का निर्देश किया गया है। यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वा०प्रा० १।८९ आदि में पंचम वर्ण के लिए उत्तम शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

ग्रहण-निर्देश

८. ह्रस्व स्वर वर्ण का ग्रहंण होने पर उस स्वर वर्ण के दीर्घ और प्लुत रूपों का भी ग्रहण किया हुआ समझना चाहिए।[2] वर्णों के स्थान के लिए यह परिभाषा है। अभिप्राय यह है कि वर्णों के स्थान या अन्य विधान बतलाते हुए सूत्र में केवल स्वर वर्णों के ह्रस्व रूप का ही ग्रहण किया गया है अतः इस परिभाषा के अनुसार उस स्वर वर्ण के दीर्घ एवं प्लुत रूपों का भी ग्रहण समझकर उनका उच्चारण स्थान आदि जान लेना चाहिए। जैसे- इचशेयास्तालौ (वा० प्रा० १।६६) यहाँ प्रस्तुत सूत्र में ह्रस्व इकार की ही ग्रहण किया गया है एवं उसका उच्चारण स्थान तालु बतलाया गया है। प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार दीर्घ एवं प्लुत इकार का भी ग्रहण करके उनका तालु स्थान जानना चाहिए।

९. वर्णों के उच्चारण स्थान बतलाने के सन्दर्भ में सूत्र में वर्ग के प्रथम वर्ण का ग्रहण होने पर उस पूरे वर्ग के वर्णों का ग्रहण जानना चाहिए।[3] षटौ मूर्द्धनि (वा० प्रा० १।६७)। यहाँ पर स्पर्श वर्गीय प्रथम वर्ण ट का ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार ट वर्गीय सभी वर्ण (ट, ठ, ड, ढ, ण) का ग्रहण समझना चाहिए।

विभक्ति निर्देश

१०. वा० प्रा० में द्वितीया विभक्ति के द्वारा विकार का निर्देश होता है।[4] अभिप्राय यह है कि प्रातिशाख्य के सूत्रों में विकार को प्राप्त करने वाले वर्णों को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है और विकारात्मक परिणाम के रूप में आने वाले वर्णों को द्वितीया

---

१. स्पर्शेष्वेव संख्या। -वा० प्रा० १।४९।
२. ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतौ प्रतीयात्। -वा० प्रा० १।६३।
३. प्रथमग्रहणे वर्गम्। -वा० प्रा० १।६४।
४. तमिति विकारः। -वा० प्रा० १।१३३।

विभक्ति में रखा गया है। यथा- तकारो लेलः (वा० प्रा० ४।१२) इस सूत्र में विकार को प्राप्त करने वाला वर्ण प्रथमा विभक्ति में है और विकारात्मक परिणाम के रूप में आने वाले वर्ण लकार परिभाषा के अनुसार द्वितीया विभक्ति से निर्दिष्ट है।

११. सप्तमी विभक्ति द्वारा निर्देश किये जाने पर उसके पूर्ववर्ती वर्ण या पद में (विधान के अनुसार) कार्य को जानना चाहिए।[1] अभिप्राय यह है कि सूत्र में जब सप्तमी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट वर्ण या पद उत्तरवर्ती है तब विकार उससे अव्यवहित पूर्व में होता है। जैसे— चछयोः शम् (३।७) यहाँ पर च, छ वर्ण का सप्तमी से निर्देश किया गया है और शकार रूप विकार का द्वितीया से निर्देश किया गया है। इस सूत्र के अनुसार सप्तमी विभक्ति में निर्दिष्ट च, छ वर्ण बाद में होने पर ही पूर्ववर्ती विसर्जनीय वर्ण को शकार रूप विकार होता है।

१२. पंचमी के द्वारा निर्दिष्ट से परवर्ती पद के आदि में कार्य को जानना चाहिए।[2] अर्थात् पंचमी विभक्ति द्वारा वर्ण या पद पूर्व में रहता है और तब विकार उत्तरवर्ती पद के आदि में होता है। जैसे- उदः स्तभाने लोपम् (वा० प्रा० ४।९९) यहाँ पर उदः में पंचमी विभक्ति है और लोप रूप विकार द्वितीया विभक्ति में निर्दिष्ट है। अतः प्रस्तुत सूत्र के अनुसार उत् पूर्ववर्ती होने पर उससे परवर्ती स्तभान पद के सकार का लोप होता है।

१३. षष्ठी विभक्ति के द्वारा निर्देश होने पर उस पद का ही विकार होता है।[3] तात्पर्य यह है कि षष्ठी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट वर्ण या पद में ही विकार होता है। जैसे- यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः (४।१२७) प्रस्तुत उदाहरण में यकार और वकार को षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट किया गया है और विकार (लोप) द्वितीया विभक्ति से निर्दिष्ट किया गया है। अतः प्रस्तुत परिभाषा सूत्र से षष्ठी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट य, व का ही लोप होता है।

१४. तृतीया विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट को आगम जानना चाहिए।[4] तात्पर्य यह है कि तृतीया विभक्ति के द्वारा आने वाले वर्ण का निर्देश किया जाता है। जैसे- चन्द्रे सु शकारेण (वा० प्रा० ३।५४) प्रस्तुत उदाहरण में तृतीया विभक्ति (शकारेण) से शकार का निर्देश किया गया है अतएवं सु चन्द्र में शकार का आगम हो जाता है।

---

१. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य। -वा० प्रा० १।१३४।

२. तस्मादित्युत्तरस्यादेः। -वा० प्रा० १।१३५।

३. षष्ठी स्थानेयोगा। -वा० प्रा० १।१३६।

४. तेनेत्यागमः। -वा० प्रा० १।१३७।

स्थान-निर्देश

१५. दो पदों (पर्व) के मध्य में आगम होता है।[१] पर्व शब्द से पद कहा जाता है जैसा कि भाष्यकार उवट का मत है।[२] उदाहरणार्थ— ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे (४।१५) यहाँ तृतीया विभक्ति से निर्दिष्ट ककार का आगम ङ् और स के बीच में होता है। प्राङ्सौमः प्राङ्क्सोमः।

१६. एक पद के मध्य में जो आगम विहित होता है, वह बाद में होता है।[३] उदाहरणार्थ— प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु (४।१८) सूत्र के अनुसार द्वे पद में इति के आगम का विधान है। प्रस्तुत परिभाषा के द्वारा इति का आगम द्वे पद के बाद में होता है— द्वे इति।

१७. विकार सूत्र निर्देश के अनुसार पदान्त या पदादि अथवा पदान्त पदादि दोनों में होता है।[४] जैसे— पूर्व पद के अन्त में त्। नः तन्नः। उत्तर पदादि में मोसु मोषु। पदान्त पदादि में आ। इदम् इदम्।

यथासन्ननियम

१८. विकार को प्राप्त होने वाला वर्ण (विकारी) समीपता के अनुसार विकार को प्राप्त करता है।[५] तात्पर्य यह है कि जहाँ सूत्र में यह निर्दिष्ट नहीं होता है कि यह वर्ण इस वर्ण को प्राप्त होता है वहाँ विकार को प्राप्त होने वाला वर्ण उच्चारण स्थान आदि की दृष्टि से अपने समीपवर्ती वर्ण को प्राप्त करता है। जैसे— ४।४६ में यह विधान है कि स्वर बाद में रहने पर भावी वर्ण अन्तःस्थ हो जाता है। यहाँ यह निदिष्ट नहीं किया गया है कि अमुक भावी वर्ण को अमुक अन्तःस्था वर्ण हो जाता है। अतएव ऐसे स्थलों पर विकारी का निकटस्थ जो वर्ण होता है वह (वर्ण) विकार हो जाता है। यथा— त्रि अम्बकम् त्रयम्बकम् में इ और य् का उच्चारण स्थान एक है। अतः इ य् को प्राप्त करता है, व् इत्यादि अन्तःस्थ को नहीं।

यथासंख्य नियम

१९. समान संख्या वाले पदों अथवा वर्णों का जो पश्चाद्वर्ती उल्लेख होता है, वह संख्या

---

१. अन्तरेण पर्वणी। -वा० प्रा० १।१३८।

२. पर्वशब्देन पदमुच्यते। -वा० प्रा० १।१३८ पर उवट।

३. परः एकस्मात्। -वा० प्रा० १।१३९।

४. उभयोर्विकारः। -वा० प्रा० १।१४०।

५. विकारी यथासन्नम्। -वा० प्रा० १।१४२।

के अनुसार होता है।[1] तात्पर्य यह है कि किसी सूत्र के एक अंश में उल्लिखित पदों अथवा वर्णों की संख्या के समान हो तो वहाँ पूर्ववर्ती अंश के प्रथम का परवर्ती अंश के प्रथम के साथ तथा द्वितीय का द्वितीय के साथ सम्बन्ध होता है। जैसे- वा० प्रा० ३।३४ में पूर्व में उल्लिखित पदों की संख्या तीन (सदः द्यौः नमः) है और बाद में उल्लिखित पदों की संख्या भी तीन (कृतम्, पिता, पथ) है। इसका फल यह है कि कृतम् बाद में होने पर सदः का विसर्जनीय, पिता बाद में होने पर द्यौः का विसर्जनीय और पद्य बाद में होने पर नमः का विसर्जनीय सकार होता है। इसी प्रकार यदि स्थानी और आदेश भी समान संख्या में है तो वे भी यथा क्रम होते हैं। जैसे- वा० प्रा० ४।६७ के विधान में स्थानीय (जिनकों विकार होना है ऐसे सन्ध्यक्षर) ए, ओ, ऐ, औ चार हैं और उनके स्थान में होने वाला विकार भी आय्-अव्, आय्, आव् चार हैं। अतएव प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार ये यथाक्रम से होंगे अर्थात् ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय् और औ कौ आव् होगा।

सन्निकृष्ट नियम

२०. समीपवर्ती तथा दूरवर्ती (उदाहरणों) में से समीपवर्ती (उदाहरण) का ग्रहण करना चाहिए।[1]

तात्पर्य यह है कि जब सूत्रोक्त कोई विधान दो स्थलों पर लागू होता है और उनमें से किसी एक के लिए निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तब उनमें से किस स्थल पर विधान लगेगा? इसके निर्णय के लिए प्रस्तुत परिभाषा सूत्र बतलाता है कि सूत्रगत अन्य पदों के समीपवर्ती स्थल का वहाँ ग्रहण करना चाहिए। जैसे- २।४० (वा० प्रा०) में विधान किया गया है कि सुषदा पद से पूर्ववर्ती असि पद आदिदात्त होता है। सुषदा पद से पूर्ववर्ती असि पद संहिता में दो स्थलों पर उपलब्ध होता है। प्रथम स्थल-सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा (१।२७), द्वितीय स्थल -स्योनासि सुषदा (१०।२६) इन दो स्थलों में से २।४० का लक्ष्य स्थल कौन सा है। इसका निर्णय प्रस्तुत परिभाषा सूत्र से किया जाता है। २।४० में पयस्वती पद का उल्लेख है। पयस्वती पद की समीपता होने के कारण १।२७ का सुषदा से पूर्ववर्ती असि पद आद्युदात्त है १०।२६ का असि पद सुषदा से पूर्ववर्ती होने पर भी आद्युदात्त नहीं है, क्योंकि यह पयस्वती पद से दूरवर्ती है।

---

१. सङ्ख्यातानामनूद्देशो यथासङ्ख्यम्। -वा० प्रा० १।१४३।

२. सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः सन्निकृष्टस्य। -वा० प्रा० १।१४४।

उत्तर नियम

२१. जब कोई विधान पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों स्थलों में एक साथ लागू होता है तब परवर्ती स्थल में कार्य में होता है।[1] जैसे- स्वः। पश्यन्तः (प० पा०) यहाँ स्वः पद वा० प्रा० १।१११ के अनुसार जात्यस्वरित है और उत्तरपद पश्यन्तः आद्युदात्त है। द्विपद-संहिता में पूर्वपद स्वः की स्वरित पश्यन्तः को स्वरित बनाना चाहता है जबकि उत्तर पद पश्यन्त आद्युदात्त होने से स्वः को अनुदात्त बनाना चाहता है। प्रस्तुत परिभाषानुसार उत्तरपद मूलक पश्यन्तः को अनुदात्तत्व का विधान प्रवृत्त होता है, जिसके परिणाम स्वरूप क्रम संहिता में स्वः पश्यन्तः यह स्वर सन्धि पढ़ी जाती है।

उपर्युक्त उदाहरण पूर्णतया ठीक प्रतीत नहीं होता है। यही कारण है कि भाष्यकार उवट ने इस उदाहरण को प्रस्तुत करने से पूर्व ही कह दिया है कि इस सूत्र का उदाहरण खोजना चाहिए।

बलवन्नियम्

२२. तुल्य बल वाले सूत्रों का विरोध (विप्रतिषेध) होने पर परवर्ती (सूत्र) बलवान् होता है, लोप के स्थलों को छोड़कर।[2] प्रस्तुत परिभाषा सूत्र का तात्पर्य यह है कि दो समान बल वाले विधानों की स्थिति के कारण एक साथ एक उदाहरण स्थल में प्रवृत्ति होने पर जो विधान सूत्रपाठ क्रम से उत्तरवर्ती हो वही बलवान् होता है। बलवत्ता के फलस्वरूप उदाहरण स्थल में उत्तरवर्ती विधान का ही कार्य होगा और पूर्ववर्ती विधान दुर्बल होने के कारण बाधित हो जायेगा किन्तु लोप विधान पूर्ववर्ती होने पर भी प्रवृत्त हो जाता है। अर्थात् लोप विधान की प्रवृत्ति में उत्तरवर्ती विधान भी बाधित हो जाता है। उदाहरणार्थ- (१) रात्र्या। इन्द्रवत्या (प० पा०) रात्र्येन्द्रवत्या (सं० वा० ३।१०)।

यहाँ पर रात्र्या पद में पदान्तीय आकार स्वरित है तथा इन्द्रवत्या पद का पदादि इकार उदात्त है। प० पा० से सं० पा० में परिवर्तित करते समय सन्धि नियम के अनुसार ४।५४ से एकार एकादेश होकर रात्र्येन्द्रवत्य रूप बनता है। स्वर सन्धि में दो विधान ४।१३१ और ४।१३२ एक साथ प्राप्त होते हैं। ४।१३१ के अनुसार उदात्त के साथ सन्धि होने पर एकादेश में स्वरित स्वर प्राप्त होता है। ४।१३२ के अनुसार उदात्त के साथ सन्धि होने पर एकादेश में उदात्त स्वर प्राप्त होता है। इन दो विधानों की एक साथ प्राप्ति होने पर प्रस्तुत परिभाषा सूत्र के अनुसार उदात्त विधान शास्त्र

---

१. पूर्वोत्तरयोरुतरस्य। -वा० प्रा० १।१४५।

२. विप्रतिषेध उत्तरं बलवदलोपे। -वा० प्रा० १।१५९।

उत्तरवर्ती होने के कारण बलवान् हो जाता है और रात्र्येन्द्रवत्या में स्वरित उदात्त की सन्धि में उदात्त स्वर हो जाता है--रात्र्येन्द्रवत्या।

(२) लोपशास्त्र का प्रबलता का उदाहरण है एषस्य रात्थ्यः (सं० पा० २३।१३) एषः। स्यः। रात्थ्य (प० पा०) यहाँ पर स्यः। राथ्यः उदाहरण में विधान (१) ३।१७ द्वारा लोप (२) ४।३५ द्वारा उपधा दीर्घ एक साथ प्रवृत्त होते हैं। प्रस्तुत परिभाषा सूत्र के द्वारा उपघा दीर्घ से उत्तरवर्ती न होने पर भी पूर्ववर्ती लोप विधान प्रबल होता है। अतः स्यः के विसर्जनीय का लोप होकर एषस्यरात्थयः रूप बनता है।

आद्यन्तवद् भाव

२३. अपृक्त (एक वर्णवाला पद) पदादि सम्बन्धी कार्यों को प्राप्त करता है।[1] अभिप्राय यह है कि अपृक्त पद आदि और अन्त से विहीन होता है, क्योंकि जिसके बाद में कोई वर्ण हो और पूर्व में कुछ न हो वह आदि कहलाता है। इसी प्रकार जिसके पूर्व में कोई वर्ण हो और बाद में कोई वर्ण न हो वह अन्त कहलाता है। अपृक्त के न तो पूर्व में ही कोई वर्ण रहता है और न बाद में ही कोई वर्ण रहता है। अतः अपृक्त पद में पदादि और पदान्त की व्यवस्था बतलाते हुए कहा गया है कि अपृक्त पद पदादि सम्बन्धी और पदान्त सम्बन्धी कार्यों को प्राप्त करता है। यथा- इन्द्र। आ। इहि। (प० पा) इन्द्रेहि (सं० पा०)। यहाँ पर इन्द्र,आ तथा इहि तीन पद हैं। इनमें आ अपृक्त है। इन्द्र और आ अपृक्त पद में ४।५२ से दीर्घ सन्धि होकर इन्द्रा रूप बना। इन्द्रा और इहि में पुनः ४।५४ के अनुसार इन्द्रेहि पद बना। इस पद सिद्धि में आ अपृक्त पद को दीर्घसन्धि में पदादि और एकार एकादेश में पदान्त सम्बन्धी कार्य प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार हुआ है।

२४. सावग्रह पद का पूर्व-पद (अवग्रह) पदान्त के समान कार्य प्राप्त करता है।[2] जैसे— 'भरद्वाज इति भरत्-वाजः' यहाँ पर भरत् सावग्रह पद (भरद्वाज) का पूर्व-पद है। भरत् पदान्त के समान कार्य प्राप्त करता है। इति के पूर्व में परवर्ती वकार के कारण तकार ४।११८ से दकार हो जाता है। इति के बाद में स्थित भरत् की वाजः के साथ संहिता नहीं है। अतः वह तकार रूप में रहता है। उल्लेखनीय है कि वर्गों के प्रथम वर्ण ही १।८५ के अनुसार पदान्त होते हैं, वर्गों के तृतीय वर्ण नहीं।

२५. अवग्रह पदान्तवत् होने पर भी इतिकरण को प्राप्त नहीं करता है।[3] उदाहरणार्थ—

---

१. स एवादिरन्तश्च। (वा० प्रा० १।१५२)।

२. अवग्रहः पदान्तवत्। -वा० प्रा० १।१५३।

३. न त्वितिकरणम्। -वा० प्रा० १।१५४।

अन्तः श्लेषः (सं० पा० १३।२३) अन्तः श्लेष इत्यन्तः। श्लेषः (प० पा०)। यहाँ अन्तः पद सावग्रह पद का पूर्व अंश है एवं सर्वानुदात्त है। वा० प्रा० १।१६२ के अनुसार यह अन्तः पद रिफित है तथा सं० पा० में इसका रेफ स्वरूप स्पष्ट भी नहीं है। अतः वा० प्रा० ४।१९ के द्वारा अन्तः को इतिकरण प्राप्त होता है। प्रस्तुत परिभाषा से इतिकरण का निषेध हो जाने से अन्तरित्यन्तः ऐसा पद पाठ नहीं बनता।

२६. अवग्रह स्वरविधि में संहितावत् होता है।[१] वा० प्रा० १।५३ के अनुसार अवग्रह पदान्तवत् होता है किन्तु स्वरविधि में वह संहितावत् होता है जैसे- प्रजावतीः (सं० पा० १।१) प्रजावतिरिति प्रजा वतीः (प० पा०)। यहाँ इति से बाद में स्थि अवग्रह शब्द प्रजा अन्तोदात्त है एवं उसका द्वितीय अंश वतीः सर्वानुदात्त है। प्रस्तुत परिभाषा सूत्र के अनुसार द्विखण्ड होने पर भी संहितावान् माना जाता है। फलतः वा० प्रा० ४।१३५ के अनुसार व स्वरित और तदुत्तरवर्ती तीः प्रचय होता है।

●

१. संहितावदग्रहः स्वरविधौ परं च सर्वे चेदनुदात्तम्। -वा० प्रा० १।१४८।

द्वितीय अध्याय

वर्ण-समाम्नाय प्रकरण

वर्ण-समाम्नाय

वा०प्रा० आठ अध्यायों में विभक्त है। वा०प्रा० के अष्टम अध्याय में सूत्रकार कात्यायन ने सम्पूर्ण वर्ण-समाम्नाय का कथन किया है। लोक में वर्णों की क्रमशः पाठ-पद्धति वर्णमाला कही जाती है। वा०प्रा० में वर्णसमाम्नाय शब्द से वर्णमाला का कथन हुआ है। वर्णसमाम्नाय शब्द का अभिप्राय बतलाते हुए उवट एवं अनन्त दोनों भाष्यकारों का कथन है कि वर्णों का जिस समाम्नाय में पाठ हो वह ग्रन्थ-अंश वर्णसमाम्नाय है।[१]

वर्णसमाम्नाय का उपदेश

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वा०प्रा० में ही वर्णसमाम्नाय अर्थात् वर्णमाला का पूर्णरूपेण उपदेश है। व्यवहार की दृष्टि से वर्ण-समाम्नाय का उपदेश वा०प्रा० के प्रथम अध्याय में होना चाहिए था किन्तु यह प्रकरण अष्टम अध्याय में उपलब्ध होता है। प्रथम अध्याय में केवल इतना ही कहा गया है कि वर्णों का उपदेश कर दिया गया है।[२] वर्णसमाम्नाय का उपदेश आठवें अध्याय में होने के सम्बन्ध में भाष्यकार अनन्त का मत है कि वर्णसमाम्नाय के सर्वोपयोगी होने से यद्यपि प्रथम अध्याय में इसका कथन होना उचित है तथापि कात्यायन मुनि अपने ग्रन्थ की रचना में स्वतंत्र है अतः आठवें अध्याय में वर्णसमाम्नाय का उपदेश हुआ है।[३]

वर्णों की संख्या

सूत्रकार ने वा०प्रा० के आठवें अध्याय में वर्णों की संख्या बतलाते हुए कहा है कि पैंसठ वर्ण होते हैं।[४] इन पैंसठ वर्णों में स्वरों की संख्या तेईस एवं व्यजनों की संख्या बयालिस है।[५] सूत्रकार कात्यायन मुनि ने इन पैंसठ वर्णों का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि समस्त

---

१. वर्णाः यस्मिन् समाम्नाये पठ्यन्ते स वर्णसमाम्नायः। -वा० प्रा० ८।१ पर उवट

२. उपदिष्टा वर्णाः। -वा० प्रा० १।३४

३. वर्णसमाम्नायस्य सर्वोपयोगित्वात् यद्यपि प्रथमाध्याये एव वक्तुमुचितः तथापि मुनेः स्वतन्त्रत्वात् अन्तिमाध्याये कथ्यते। -वा० प्रा० ८।१ पर अनन्त

४. एत पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः। -वा० प्रा०८।२५

५. त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः।
द्विचत्वारिंषद्व्यञ्जनान्येतावान्वर्णसंग्रहः ।। -वा० प्रा० ८।३८

वाङ्मय जो भी विश्व में उपलब्ध है, वह इन्हीं वर्णों में प्रतिष्ठित है।[१] आचार्य कात्यायन ने इन पैंसठ वर्णों को ब्रह्मराशिः (वेदराशि) एवं वाणी की आत्मा भी कहा है।[२]

वा०प्रा० में स्वीकृत वर्णसमाम्नाय

वा०प्रा० के आठवें अध्याय में क्रम से २५ सूत्रों में सूत्रकार ने वर्णों का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया है- अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, ऌ, ॡ, ॡ३, ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ᳵक, ᳵप, अनुस्वार (ं), विसर्जनीय (ः), नासिक्य (हुँ) चार यम (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ) इनके अतिरिक्त ळ, ळ्ह इन दो वर्णों का संकेत वा० प्रा० में मिलता है किन्तु कात्यायन ने वर्णसमाम्नाय में इनका ग्रहण नहीं किया है।

वर्णमाला का दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजन

वा० प्रा० में वर्णमाला को दो प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया गया है– (१) स्वर,[३] (२) व्यञ्जन।[४]

---

१. यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम्। -वा० प्रा० ८।२६

२. एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः। -वा० प्रा० ८।२५

३. वर्णविशेष को द्योतित करने वाला स्वर शब्द 'स्वृ' धातु से 'घ' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है शब्द करना या ध्वनि करना। महाभाष्य १।२।२९ में पतञ्जलि ने स्वर शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है स्वयं राजन्त इति स्वराः अर्थात् जिनका उच्चारण वर्णान्तर की सहायता के बिना स्वयं स्वतंत्र रूप से होता है वे स्वर हैं। प्रथम यूनानी वैयाकरण डायोनिशस थ्रैक्स ने स्वरों के विषय में विचार करते हुए कहा है कि उन ध्वनियों को जिनका बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता से उच्चारण किया जाता है स्वर कहते हैं।

४. व्यञ्जन शब्द वि उपसर्गपूर्वक व्यक्त होना अथवा प्रकाशित होना अर्थवाली अञ्ज् धातु से अनट् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। ऋ० प्रा० १।६ पर उवट ने व्यञ्जन की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है 'व्यञ्जयन्ति प्रकटीकुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि' अर्थात् ये वर्ण अर्थों को व्यक्त करते हैं। अर्थों को प्रकट करते हैं, इसलिए ये वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं। अभिप्राय यह है कि स्वरों के अपरिवर्तित होने पर भी व्यञ्जनों के परिवर्तन मात्र से शब्दों के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ कूप, धूप, यूप स्वर एक ही हैं किन्तु व्यञ्जन भिन्न-भिन्न है, व्यञ्जनों के भिन्न होने से इन शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न हो गये हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति। अर्थात् स्वर के अनुगामी होते है या स्वर की सहायता से उच्चारित होते हैं, इसलिए इन्हें व्यञ्जन कहते हैं।

वा० प्रा० में स्वीकृत स्वरों का व्यञ्जन वर्णों को निम्न रेखाचित्र में प्रदर्शित किया जा रहा है।

वर्ण

स्वर	व्यञ्जन
अ, आ, आ३	क, ख, ग, घ, ङ।
इ, ई, ई३	च, छ, ज, झ, ञ।
उ, ऊ, ऊ३	ट, ठ, ड, ठ, ण।
ऋ, ॠ, ऋ३	त, थ, द, ध, न।
ऌ, ऌ, ऌ३	प, फ, ब, भ, म।
ए, ए३	य, र, ल, व, श, ष, स, ह।
ए, ए३	ᳵक (जिह्वामूलीय)
ओ, ओ३	ᳶप (उपध्मानीय)
औ, औ३	अनुस्वार (अं)
	विसर्जनीय (अः)
	नासिक्य (हुँ)
	यम (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ)

वर्णों के दो श्रेणियों में विभाजन का आधार

उपर्युक्त स्वर और व्यञ्जन वर्णों का जो मुख्य दो श्रेणियों में विभाजन किया गया है, वह उच्चारण शैली की विशेषता के आधार पर है। स्वर वर्ण निरपेक्ष होते हैं अर्थात् इनका उच्चारण बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता से होता है। व्यञ्जन वर्ण सापेक्ष होते हैं अर्थात् इनका उच्चारण स्वर की सहायता से होता है।

स्वर और व्यञ्जन वर्णों का बलाबल

स्वर व्यञ्जन के बलाबल के विषय में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलते हैं। तै० प्रा० के अनुसार व्यञ्जन स्वर का अंग होता है।[१] शौ० शि० में कहा गया है कि पूर्वाचार्यों ने स्वर संज्ञा के द्वारा अकारादि वर्णों का अङ्गी होना बतलाया है क्योंकि स्वर स्वयं निरपेक्ष होकर रहते हैं एवं व्यञ्जन द्वारा उनका अङ्गत्व सूचित किया

---

१. व्यञ्जनं स्वराङ्गम्। -तै० प्रा० २१।१।

गया है क्योंकि व्यञ्जन स्वर के द्वारा ही व्यञ्जित है।[१] त्रिभाष्यरत्नकार ने स्वर की विशेषता बतलाते हुए कहा है कि व्यञ्जन वर्ण सापेक्ष होता है। वह अकेले स्थित नहीं हो सकता है। इसके विपरीत स्वर-वर्ण निरपेक्ष होता है। सापेक्ष और निरपेक्ष में निरपेक्ष को ही विद्वान् लोग विशिष्ट कहते हैं।[२] या० शि० में स्वर और व्यञ्जन के बलाबल के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार शक्तिशाली राजा दुर्बल राजा के राष्ट्र का अपहरण कर लेता है उसी प्रकार बलवान् स्वर दुर्बल व्यञ्जन को हर लेता है।[३]

स्वर वर्णों की बलवता प्रतिपादित करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि व्यञ्जन नट की भार्या के समान होते हैं। जिस प्रकार रङ्ग-स्थल में गयी हुई नट की भार्या को जो जो पूछता है कि 'तुम किसकी हो, तुम किसकी हो' उस उसको नट की भार्या 'तुम्हारी हूँ, तुम्हारी हूँ' ऐसा कह देती है। उसी प्रकार व्यञ्जन भी जिस जिस स्वर के सम्पर्क में आते हैं वे व्यञ्जन उस-उस स्वर के अङ्ग हो जाते हैं।[४] वा० प्रा० ३।१३० पर भाष्य करते हुए उवट ने भी स्वरों की विशिष्टता पर संकेत दिया है कि ह्रस्व-दीर्घ, प्लुत, सानुनासिक, निरनुनासिक, उदात्, अनुदात्त और स्वरित ये आठ स्वर वर्णों के ही धर्म होते हैं।[५]

इन उपर्युक्त उद्धरणों तथा इसी प्रकार के अन्य उद्धरणों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि (१) स्वर-वर्णों का उच्चारण निरपेक्ष होता है। (२) व्यञ्जन-वर्णों का उच्चारण सापेक्ष होता है एवं स्वरोंकी सहायता से ही होना सम्भव है। (३) स्वरों में ही उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित आदि धर्म प्रकट होते हैं। अतः स्वर एवं व्यञ्जन में स्वर ही व्यञ्जन की अपेक्षा विशिष्ट है। यद्यपि स्वर उच्चारण में अपरिहार्य तत्व के रूप से अपना स्थान

---

१. पूर्वाचार्ये स्वरसंज्ञया अकारादीनामङ्गित्वं सूचितम् स्वतो राजन्ति ये वर्णास्ते स्वराः। व्यञ्जनसंज्ञया ककारादीनामङ्गत्वं सूचितं। स्वतो व्यक्तत्वात्। स्वरैः यानि व्यज्यन्ते स्फुटीक्रियन्ते तानि व्यञ्जनानि। अन्याधीनप्रकाशानीत्यर्थः। तैर्विना उच्चारयितुमशक्या इत्यर्थः। -शौ० शि० ३ (टीका)

२. व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षं, स्वरस्तु निरपेक्षः। सापेक्षनिरपेक्षयोर्मध्ये निरपेक्षमेव विशिष्टमाचक्षते प्रेक्षावन्तः। -तै० प्रा० २।१ पर त्रि०

३. दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद्धरते बलवान् स्वरः ।।- या० शि० पृ० ९५।

४. व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियौ रङ्गताः यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते। -पा० अ० ६।१।२ पर पतञ्जलि

५. ह्रस्वो दीर्घः प्लुतः सानुनासिको निरनुनासिक उदात्तोऽनुदातः स्वरित इति स्वरधर्माः। -वा० प्रा० ३।१३० पर उवट

रखते हैं तथापि शब्द एवं अर्थ के सर्जन में व्यञ्जन का भी अपना महत्त्व है। यतः उच्चारण की व्यवहार में प्राथमिकता है तथा उच्चारण क्षमता के बाद ही अर्थानुसारी शब्द का स्थान है अतः वर्णसमाम्नाय में स्वरों की विशिष्टता एवं प्राथमिकता निर्विवाद है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों का मत एवं उसकी समीक्षा

आधुनिक भाषाविदों का कहना है कि निरपेक्ष उच्चारण वाले स्वर एवं सापेक्ष उच्चारण वाले वर्ण व्यञ्जन कहलाते हैं यह प्राचीन भाषाशास्त्रियों की परिभाषा सर्वथा अपूर्ण है, क्योंकि श, स आदि वर्णों के उच्चारण में स्वर की सहायता की थोड़ी भी आवश्यकता नहीं है। अनेक ऐसी भाषाएं हैं जिनमें शब्द के शब्द बिना स्वर की सहायता के उच्चारित होते हैं। इस सन्दर्भ में प्रख्यात प्रातिशाख्य विद्वान् प्रोफेसर वीरेन्द्र कुमार वर्मा ने[१] प्राचीन भारतीय भाषाविदों के मत की श्रेष्ठता में कुछ हेतु इस प्रकार दिये हैं–

१. स्वर व्यञ्जन की अपेक्षा अधिक मुखर होते हैं।

२. स्वर से अक्षर (Syllable) निष्पन्न होता है, व्यञ्जन से नहीं।

३. स्वर का उच्चारण देर तक किया जा सकता है, व्यञ्जन का नहीं।

४. स्वर का उच्चारण बड़ी सरलता से स्पष्ट रूप से किया जा सकता है। व्यञ्जन का उच्चारण स्वर के बिना स्पष्टतया नहीं किया जा सकता है। बिना स्वर की सहायता लिए व्यञ्जन के उच्चारण में बड़ी सावधानी करनी पड़ती है। सावधानी करने पर भी स्वर की थोड़ी-सी ध्वनि सुनाई पड़ ही जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि (स्वर) स्वयं उच्चारित होते हैं, जबकि व्यञ्जन स्वर की सहायता से उच्चारित होते हैं।

इसके अतिरिक्त हमारा मत है कित भारतीय शास्त्रों में व्यञ्जन का उच्चारण अर्द्धमात्रा काल के समय में होना बतलाया गया है। उच्चारण गति के आधार पर भी मात्रा की व्यवस्था निश्चित होती है तथापि आँख की पलक गिरने के आधे समय में व्यञ्जन का उच्चारण होना चाहिए। यदि इससे अधिक समय लगता हैं तो इसका अर्थ होता है कि उससे स्वर-वर्ण अकारादि का सम्पर्क हो गया है, क्योंकि अर्धमात्रा काल से अधिकता स्वर-वर्ण में ही सम्भव है। इसीलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने सापेक्ष अभिव्यक्ति की ओर ध्यान न देकर स्वरानुगमन (अन्वक्) की ओर व्यञ्जन की व्युत्पत्ति में जोर दिया है।[२] व्यञ्जन में स्वराश्रय की सूक्ष्म अपरिहार्यता के कारण ही आज भी भाषावैज्ञानिक अनेक ध्वनियन्त्रों के रहते हुए भी स्वर और व्यञ्जन की इससे अधिक निर्दोष परिभाषा नहीं दे पाये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है

---

१. द्र० प्रो० वी० के० वर्माः ऋग्वेद प्रातिशाख्य एक परिशीलन पृ० ६।

२. अन्वग् भवति व्यञ्जनमिति। -पा० अ० १।२।२९ पर पतञ्जलि

कि वर्णराशि का स्वर और व्यञ्जन इन दो मुख्य श्रेणियों में विभाजन नितान्त आवश्यक एवं वैज्ञानिक है।

अब स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों का अध्ययन वा० प्रा० के अनुसार प्रस्तुत किया जाता है—

स्वर

सूत्रकार कात्यायन ने वर्ण-समाम्नाय के अन्तर्गत अष्टम अध्याय में प्रथमतः स्वर-वर्णों के उपदेश की प्रतिज्ञा की है, तदनन्तर चार सूत्रों (८।३-६) में तेईस स्वर वर्णों को बतलाया है जो इस प्रकार है अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, ऌ, ऌ, ऌ३, ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३।

स्वरों का विभाजन

वा० प्रा० में उपर्युक्त तेईस स्वरों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है, (१) मूल स्वर[१] (२) सन्ध्यक्षर स्वर।[२] वा० प्रा० ८।२-३ के अनुसार अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३, ऌ, ॡ, ॡ३, ये मूल स्वर हैं।[३] वा० प्रा० (८।४-५) के अनुसार ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३ ये आठ वर्ण सन्ध्यक्षर स्वर हैं।[४]

वा० प्रा० में स्वीकृत स्वरों को निम्नांकित रेखा चित्र से दिखलाया जा रहा है।

स्वर

मूलस्वर	सन्ध्यक्षर स्वर
अ, आ, आ३, इ, ई, ई३	ए, ए३, ऐ, ऐ३

१. इन स्वरों को स्वर या मूल स्वर कहने का तात्पर्य यह है कि इनका उच्चारण सर्वांश में समान रूप से होता है। इनके उच्चारण में समरूपता होती है। उच्चारण में प्रयुक्त जिह्वा आदि अवयव एक अवस्था में ही स्थित रहते हैं।

२. सन्ध्यक्षर का शाब्दिक अर्थ है दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न अक्षर। अकार की इकार, उकार, एकार और ओकार के साथ सन्धि होने पर क्रमशः एकार, ओ, ऐकार और औकार की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्य स्वर स्वयं उत्पन्न होते हैं उस प्रकार ये उत्पन्न नहीं होते हैं।

३. तत्र स्वराः प्रथमम्। अ इति आ इति आ३ इति इ इति ई इति ई३ इति उ इति ऊ इति ऊ३ इति ऋ इति ॠ इति ॠ३ इति ऌ इति ॡ इति ॡ३ इति। -वा०प्रा० ८।२-३।

४. अथ सन्ध्यक्षराणि। ए इति ए३ इति ऐ इति ऐ३ इति ओ इति ओ३ इति औ इति औ३ इति। -वा० प्रा० ८।४-५

उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३	ओ, ओ३, औ,
ऌ, ऌ, ऌ३	औ३

व्यञ्जन (Consonants)

वा० प्रा० में वर्ण-समाम्नाय में स्वरों के अनन्तर बयालिस व्यञ्जन वर्णों का कथन १८ सूत्रों (वा०प्रा० ८।७-२४) में किया गया है। वा प्रा० में स्वीकृत व्यञ्जन वर्ण क्रम से इस प्रकार हैः- क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क, प, अनुस्वार (अं), विसर्जनीय (अः), नासिक्य (हुँ) और यम (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ)।

व्यञ्जनों का विभाजन

वा० प्रा० में स्वीकृत बयालिस वर्णों को चार मुख्य श्रेणियों में विभक्त किया गया है (१) स्वर (२) अन्तःस्था (३) ऊष्म (४) अयोगवाह।

स्पर्श	अन्तःस्था	ऊष्म	अयोगवाह
क, ख, ग, घ, ङ	य	श	ᳵ क (जिह्वामूलीय)
च, छ, ज, झ, ञ	र,	ष	ᳵ प (उपध्मानीय)
ट, ठ, ड, ठ, ण,	ल	स	अनुस्वार (अं)
त, थ, द, ध, न,	व	ह	विसर्जनीय (अः)
प, फ, ब, भ, म,			यम (कुँ खुँ गुँ घुँ)

स्पर्श

वा० प्रा० १।४९ पर भाष्य करते हुए उवट का कथन है कि वर्ण-समाम्नाय में ककार से प्रारम्भ होकर पाँच वर्णों में प्रत्येक में पाँच वर्ण स्पर्श बतलाएं गये हैं।[1] स्पर्श वर्णों में क्रमानुसार पाँच-पाँच वर्णों से मिलकर एक वर्ग[2] बनता है। क, च, ट, त, प से स्पर्शों का प्रारम्भ होता है और ङ, ञ, ण, न, म में समाप्त होता है। वा० प्रा० ८।८ में विधान करते हुए कहा गया है कि क से लेकर ङ तक क वर्ग है।[3] इसी प्रकार वा० प्रा० ८।९

१. ककारादयः पञ्चवर्गाः पञ्चवर्णाः समाम्नाये स्पर्शसंज्ञा उक्ताः। -वा० प्रा० १।४९ पर उवट।

२. वर्ग का अर्थ समूह है प्रातिशाख्यों में पाँच-पाँच स्पर्श वर्णों के समूह के लिए वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया है। पाँच स्पर्श वर्णों का एक वर्ग बनता है। स्पर्श वर्ण पच्चीस हैं अतः पाँच-पाँच स्पर्शों के पाँच वर्ग होते हैं। प्रत्येक वर्ग का नाम वर्ग के प्रथम वर्ण के आधार पर पड़ता है।

३. किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः -वा० प्रा०८।८

का विधान है कि च से लेकर ञ तक चवर्ग है।[१] ट से लेकर ण पर्यन्त (ट, ठ, ड, ढ, ण) ट वर्ग है।[२] त से लेकर न पर्यन्त त, थ, द, ध, न त वर्ग है।[३] प से लेकर म पर्यन्त प, फ, ब, भ, म, पवर्ग है।[४] वा० प्रा० १।४९ में विधान करते हुए सूत्रकार का कथन है कि स्पर्श संज्ञक वर्णों में संख्या का व्यवहार होता है।[५]

स्पर्श

क वर्ग	**च वर्ग**	**ट वर्ग**	**त वर्ग**	**प वर्ग**
क,ख,ग,घ,ङ	च,छ,ज,झ,ञ	ट,ठ,ड,ढ,ण	त,थ,द,ध,न	प,फ,ब,भ,म

अन्तःस्था

वा० प्रा० में स्वीकृत वर्ण समाम्नाय में स्पर्श वर्णों के बाद चार वर्ण अन्तःस्था बतलाये गये हैं। य, र, ल, व चारवर्ण क्रमशः अन्तःस्था है।[६] अन्तःस्था का अर्थ है बीच में रहने वाला। य, व, र, ल स्वर और व्यञ्जनों के बीच निर्दिष्ट हैं। इसीलिए वर्णसमाम्नाय में स्वरों के अनन्तर व्यञ्जनों के पूर्व बीच में इनको स्थान दिया है। अन्तस्था के विषय में विद्वानों में मतभेद है।[७]

---

१. चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः। -वा० प्रा० ८।९

२. टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः -वा० प्रा० ८।१०

३. तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः। -वा० प्रा० ८।११

४. पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः। -वा० प्रा० ८।१२

५. स्पर्शेष्वेव संख्या। -वा० प्रा० १।४९

६. अथान्तस्थाः। यिति रिति लिति विति। -वा० प्रा० ८।१४-१५

७. (क) उवट ने ऋ० प्रा० १।९ पर भाष्य करते हुए कहा है कि स्पर्श वर्णों और ऊष्म वर्णों के मध्य में स्थित होने के कारण इन्हें अन्तःस्था कहते हैं।

(ख) आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टिकोण से ये वर्ण स्वर और व्यञ्जन के मध्यवर्ती हैं। इनके उच्चारण में उच्चारणावयव स्पर्शवर्णों की तरह न तो एक दूसरे का पूर्णरूप से स्पर्श करते हैं एवं न ही स्वर वर्णों की तरह नितान्त पृथक् रहते हैं।

(ग) इन वर्णों की यह मुख्य विशेषता है कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः अपने समान स्थान वाले स्वर से सम्बन्धित होता है। स्वर एवं व्यञ्जन दोनों के गुणों से युक्त होने के कारण अंग्रेजी में इन वर्णों को Semi Vowels (अर्द्धस्वर) कहते हैं।

(घ) तै० प्रा० १।८ पर वै० आ० में अन्तःस्था का निर्वचन इस प्रकार किया गया है जिह्वामध्य प्रभृतीनां करणानामन्तर्जन्यत्वाद्यरत्नवा अन्तस्था इत्याख्यायन्ते अर्थात् जिह्वामध्य आदि करणों के किनारों से उत्पन्न होने के कारण य, र, ल, व अन्तःस्था कहलाते हैं।

ऊष्म

वा०प्रा० ८/१६-१७ में सूत्रकाल ने चार वर्णों को ऊष्म[1] कहा है। चार ऊष्म वर्ण ये हैं– श, ष, स, ह।[2]

अयोगवाह

सूत्रकार कात्यायन ने वा०प्रा० में आठवें अध्याय के सात सूत्रों (वा०प्रा० ८।१८-२४) में अयोगवाह[3] वर्णों का विधान किया है। अयोगवाह वर्ण क्रमशः इस प्रकार हैं। ᳵक (जिह्वामूलीय), ᳵप (उपध्मानीय), अं (अनुस्वार), अः (विसर्जनीय) नासिक्य (हुँ) और चार यम (कुँ खुँ गुँ घुँ)। इस प्रकार कुल अयोगवाह व्यञ्जनों की संख्या नौ है। अब क्रमशः अयोगवाह वर्णों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है

जिह्वामूलीय

वा०प्रा० ८।१९ में सूत्रकार कात्यायन के अनुसार ᳵ क यह

---

१. उवट ने ऋ० प्रा० १।१० पर भाष्य करते हुए कहा है कि ऊष्मा का अर्थ वायु होता है। उस वायु की जिसमें प्रधानता रहती है वे वर्ण ऊष्मन् कहलाते हैं (ऊष्मा वायुस्तत्प्रधानवर्णा ऊष्माणः) ऊष्म वर्णों के उच्चारण में वायु घर्षण करती हुई बाहर निकलती है, इसीलिए इन वर्णों को संघर्षी भी कहा जाता है। इनके उच्चारण में वायु तीव्र गति से बाहर निकलती है, इसीलिए इन वर्णों को सप्रवाह या निरन्तर ध्वनि भी कहा जाता है। ऊष्म वर्णों के उच्चारण करते समय एक प्रकार की शीत्कार (Hissing sound) ध्वनि होती है, इस कारण अंग्रेजी में इन वर्णों को Sibitants तथा Hissing Sound कहते हैं।

२. अथोष्माणः शिति षिति सिति हिति। -वा० प्रा० ८।१६-१७

३. अयोगवाह की व्याख्या करते हुए उवट ने कहा है कि अकारादि वर्णसमाम्नाय के साथ मिलकर ये अपना निर्वाह करते हैं, आत्मलाभ प्राप्त करते हैं, इसलिए ये अयोगवाह कहे जाते हैं। उवट ने अयोगवाह के अ का अर्थ अकारादि वर्ण समाम्नाय किया है। भाष्यकार अनन्तभट्ट इसके विपरीत अयोगवाह के स्थान पर योगवाह शब्द का प्रयोग करते है एवं निर्वचन इस प्रकार करते है योगेन अकारादि वर्ण समुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानं च वहन्ति इति योगवाहाः। अर्थात् अकारादि वर्ण समुदाय के साथ मिलकर ये अपना निर्वाह करते हैं, इसलिए ये योगवाह है। महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि अयोगवाह वर्ण युक्त न होकर अपने कार्य का निर्वाह करते है, इनका उपदेश (शिवसूत्रों में) न होने पर भी श्रवण होता है (कथं पुनरयोगवाहा? यदयुक्तावहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते)। अयोगवाह अथवा योगवाह दोनों ही शब्दों के उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अयोगवाह या योगवाह वे पराश्रित ध्वनियाँ हैं, जिनका उच्चारण पूर्ववर्ती-स्वर वर्ण पर आधृत होता है।

जिह्वामूलीय[1] वर्ण है।[2] वा० प्रा० ८।१९ पर भाष्य करते हुए उवट का मत है कि सूत्रकार ने क वर्ण में ककार से पूर्व में स्थित (ᳵ) जिह्वामूलीय को प्रदर्शित किया है।[3]

उपध्मानीय

वा० प्रा० ८।२० में सूत्रकार कात्यायन के अनुसार ᳵप यह उपध्मानीय[4] वर्ण है।[5] ८।२० पर भाष्य करते हुए उवट का कथन है कि प वर्ण में पकार से पूर्व में स्थित (ᳵ) उपध्मानीय को दिखलाया गया है।[6] अर्थात् प, फ से पूर्व आधे विसर्ग के समान ध्वनि को उपध्मानीय कहा जाता है। जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय ध्वनियाँ इस चिह्न से दिखालाई जाती हैं। ये चिह्न विसर्ग के दोनों बिन्दुओं का आधा-आधा भाग है। ऊपर के बिन्दु का नीचे आधा भाग और नीचे के बिन्दु का ऊपर का आधा भाग इसमें रहता है।

अनुस्वार

वा० प्रा० ८।२१ का विधान करते हुए सूत्रकार का कथन है कि अं यह अनुस्वार

---

१. जिह्वामूलीय का शब्दशः अर्थ है जिह्वा के मूल स्थान से उच्चारित होने वाला वर्ण। वा० प्रा० में जिह्वामूलीय का प्रयोग दो स्थलों पर मिलता है। (१) पारिभाषिक रूप में क के लिए (२) जिह्वा के मूलस्थान से उच्चारित होने वाले सभी वर्णों के लिए। जिह्वामूलीय का पारिभाषिक अर्थ वर्ण विशेष में प्रयुक्त ककार एवं खकार के पूर्ववर्ती विसर्ग के विशेष उच्चारण के लिए किया जाता है। लिपि में इस उच्चारण का संकेत ऊर्ध्व एवं अधोमुख चन्द्र द्वारा क, ख रूप से होता है। कात्यायन ने वर्णसमाम्नाय में क वर्ण को ही जिह्वामूलीय के अन्तर्गत लिया है ख को नहीं परन्तु वा० प्रा० ३।१२ को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि क एवं ख के पूर्व का विसर्जनीय विकार जिह्वामूलीय वर्ण है। वा० प्रा० ८।२० से यह ज्ञात होता है कि माध्यन्दिन शाखा में जिह्वामूलीय वर्ण का प्रयोग नहीं होता है। काण्व शाखा में इस वर्ण का व्यवहार मिलता है।

२. क इति जिह्वामूलीयः ।-वा० प्रा० ८।१९

३. इति ककारपूर्व जिह्वामूलीयं दर्शयति। -वा० प्रा० ८।१९ पर उवट

४. उपध्मानीय शब्द उप ध्मा से अनीयर् प्रत्यय लगाकर बनता है। तै० प्रा० १।१८ के वै० आ० के अनुसार उपध्मान से उत्पन्न होने के कारण यह वर्ण उपध्मानीय कहलाता है। उपध्मान का अर्थ है फूँक मारना। उपध्मान अर्थात् फूँक मारने के समान प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण प यह वर्ण उपध्मानीय कहलाता है। सूत्रकार कात्यायन ने प वर्ण को ही उपध्मानीय बतलाया है किन्तु वा० प्रा० ३।१२ से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पकार एवं फकार से पूर्ववर्ती विसर्ग का एक विशेष विकार उपध्मानीय होता है। उपध्मानीय वर्ण का प्रयोग भी माध्यान्दिन शाखा में नहीं होता है।

५. प इत्युपध्मानीयः। -वा० प्रा०८।२०

६. इति पकारपूर्वमुपध्यानीयं दर्शयति। -वा० प्रा० ८।२० पर उवट

है।[1] वा० प्रा० ८।२१ पर भाष्य करते हुए उवट का मत है कि सूत्रकार ने अं इस पद में स्वरपूर्व अनुस्वार को दिखलाया है।[2] फलस्वरूप अनुस्वार का सर्वदा स्वर से परवर्ती होना सिद्ध होता है। इनमें अं यह अनुस्वार है।

विसर्जनीय

वा० प्रा० ८।२२ में विसर्जनीय का विधान करते हुए कहा गया है कि अः यह विसर्जनीय है।[3] वा० प्रा० ८।२२ पर भाष्य करते हुए उवट का मत है कि ने सूत्रकार कात्यायन से स्वर-वर्ण पूर्व वाले विसर्जनीय को प्रदर्शित किया है।[4] फलतः विसर्जनीय सदा स्वर से बाद में होता है।

नासिक्य

वा० प्रा० ८।२३ में नासिक्य का विधान करते हुए सूत्रकार का कथन है कि हुँ यह नासिक्य है।[5] वा० प्रा० ८।२३ पर भाष्य करते हुए उवट ने हुँ इस नासिक्य ध्वनि

---

१. अं इत्यनुस्वारः। -वा० प्रा० ८।२१
अनुस्वार शब्द अनु. स्वृ में घञ् प्रत्यय लगाकर बनता है। अनुस्वार को इस (ं) चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुस्वार का अर्थ है वह वर्ण जिसका उच्चारण स्वर वर्ण के पश्चात् होता है। पा० शि० ५ पर पंजिका भाष्य में कहा गया है कि अनुस्वार वह ध्वनि है जो किसी स्वर के बाद में आती है। (स्वरमनुभवतीत्यनुस्वारः)

२. इति स्वरपूर्व अनुस्वारं दर्शयति। -वा० प्रा० ८।२१ पर उवट

३. अः इति विसर्जनीयः -वा० प्रा० ८।२२
वि सृज् में अनीयर् प्रत्यय लगाकर विसर्जनीय शब्द बनता है। तै० प्रा० १।१८ पर वै० आ० में विसर्जनीय शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वायु के विसर्जन से उत्पन्न होने से अः को विसर्जनीय कहते हैं मॉनियर विलियम्स ने अपने शब्दकोष में विसर्जनीय की व्याख्या करते हुए कहा है कि – (१) यह लोप के योग्य होता है अर्थात् परिस्थितिवशात् इसका लोप हो जाता है। (२) इसके उच्चारण करने में श्वास पूर्णतया बाहर फेंक दिया जाता है। (३) प्रायः यह वर्ण पद अथवा वाक्य के अन्त में आता है। (संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोष पृ० १००) विसर्जनीय को (:) इस चिह्न से लिपि में दिखलाया जाता है।

४. इति स्वरपूर्व विसर्जनीयं दर्शयति। -वा० प्रा०८।२२ पर उवट

५. हुँ इति नासिक्यः। -वा० प्रा० ८।२३
वा० प्रा० में हुँ इस वर्ण विशेष के लिए नासिक्य शब्द का प्रयोग हुआ है। वा० प्रा० ज्योत्स्ना वृत्ति में कहा गया है कि यह नासिक्य वर्ण अवसान में ऋक्शाखा में प्रसिद्ध है। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भाष्यकार उवट एवं ज्योत्सनावृत्तिकार ऋक्शाखा में नासिक्य की सत्ता को प्रसिद्ध मानते हैं। वा० प्रा० ८।२९ में विधान किया गया है कि नासिक्य वर्ण का प्रयोग माध्यन्दिन शाखा में नहीं मिलता है।

को ऋक् शाखा में प्रसिद्ध बतलाया है।[1]

यम

वा० प्रा० में कात्यायन ने अयोगवाह वर्णों के अन्तर्गत यम[2] का विधान किया है। वा० प्रा० ८।२४ में यम का विधान करते हुए कहा गया है कि कुँ खुँ गुँ घुँ -ये यम हैं।[3] वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत चार यम माने गये हैं। वा० प्रा० के चतुर्थ अध्याय में भी यम के सम्बन्ध में विशिष्ट विधान किया गया है जिसे आगे प्रस्तुत किया गया है। भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि वर्गों का आद्य चार वर्णों में से किसी एक से परे जब किसी भी वर्ग का पंचम वर्ण आये तब उनके मध्य पूर्व वर्ण सदृश जो ध्वनि होती है, उसे यम कहते हैं। पूर्व वर्ण से जुड़ी होने के कारण इस ध्वनि को यम अर्थात् यमल कहते है। कुछ प्रतिशाख्यकार यम को एक आगम मानते हैं।

सारांश

वर्ण-समाम्नाय के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वा० प्रा० में स्वीकृत वर्णमाला को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

स्वर

(१) मूलस्वर -अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ॠ३ ऌ, ऌ, ऌ३।

(२) सन्ध्यक्षर स्वर- ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३।

व्यञ्जन (१) स्पर्श

कवर्ग- क, ख, ग, घ, ङ।
चवर्ग- च, छ, ज, झ, ञ।
टवर्ग- ट, ठ, ड, ढ, ण।
तवर्ग- त, थ, द, ध, न।
पवर्ग- प, फ, ब, भ, म,।

(२) अन्तःस्था -य, र, ल, व

१. अयमृक्शाखायां प्रसिद्धः। -वा० प्रा० ८।२३ पर उवट

२. यम का अर्थ है जोड़ा। अनुनासिक एवं अननासिक स्पर्श-वर्णों के मध्य में आगम होने से एक अनुनासिक स्पर्श वर्ण के स्थान पर दो वर्ण (जोड़ा) हो जाते हैं। इस जोड़े में से द्वितीय को यम कहते हैं।

३. कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः। -वा० प्रा० ८।२४

(३) ऊष्मन् -श, ष, स, ह

(४) अयोगवाह

जिह्वामूलीय	ᳵ	क
उपध्मानीय	ᳵ	प
अनुस्वार		अं
विसर्जनीय		अः
नासिक्य		हुँ
यम-		कुँ, खुँ, गुँ, घुँ।

●

तृतीय अध्याय
वर्णोच्चारण-प्रकरण

वैदिक शुद्ध उच्चारण की परम्परा

वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भारतवर्ष में परम्परा से होता आया है। इस परम्परा को ही हम सम्प्रदाय या परम्परागत अध्ययन कहते हैं। वेदों में जहाँ अध्ययन शब्द का प्रयोग है।[१] उसको स्पष्ट करते हुए पूर्वमीमांसा के आचार्यों ने एक मत से कहा है कि गुरु के मुख से उच्चारित वेद शब्दराशि को उसी रीति (वर्ण तथा उदात्तादि स्वर के अनुकरण) से उच्चारण को अध्ययन कहा जाता है।[२] इस अध्ययन की परम्परा में श्रवण तथा तन्मूलक तदनुसारी उच्चारण की मुख्यता है। अतएव वेद के लिए श्रुति शब्द भी प्रसिद्ध है। भारत में प्राचीन काल में तथा आज भी वैदिक मूलाक्षरों के उच्चारण की शिक्षा में गुरुमुखोच्चारण-पूर्वक शिष्य का तदनुकूल उच्चारण रूप अध्ययन प्रचलित है।[३] सदा गुरु लोग मन्त्रों के उच्चारण के शिष्यकृत अनुकरण में यह ध्यान रखते थे कि शिष्य सम्प्रदाय के अनुसार शुद्ध उच्चारण कर रहा है या नहीं। मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने पर शिष्य को शुद्ध उच्चारण करने के लिए ताड़ना भी देते थे। महाभाष्यकार पतञ्जलि के खण्डिकोपाध्याय की शिक्षण शैली के अंश को पढ़कर हम आज भी श्रद्धा से झुक जाते हैं कि शिष्य उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करता है तो गुरुवर अपने शिष्य को शुद्ध उच्चारण के लिए चाँटा लगाते हैं।[४] वैदिक मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए आचार्यों ने बाद में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों की रचना किया जिनमें वर्णोच्चारण के नियम का विधान किया गया है। वर्ण एवं स्वर इन दो उच्चारणांशों में से किसी भी एक के दोषयुक्त उच्चारण को पा० शि० में मिथ्या प्रयोग कहा गया है। मिथ्या प्रयोग ही वाग्वज्र है और

---

१. स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (श० ब्रा० ११।५।७।१०)।

२. गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमध्ययनम्।
गुरुक्तं शृणुयान्मन्त्रं तूष्णीं पश्चादनूच्चरेत्। -सं० प्र० शि० १८

३. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा।। -मी० न्या० प्र०

४. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते, खण्डिकोपाध्याय. तस्मै
शिष्याय चपेटिकां ददाति। पा०अ० १।१।१ पर पतञ्जलि

यह प्रयोक्ता यजमान का महान् अनिष्ट करता है।[1]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दों के शुद्ध तथा अशुद्ध उच्चारण के परिणामों को बतलाते हुए कहा है कि जो कुशल व्यवहार के समय शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग (उच्चारण) करता है वह वाग्योगवित् (वाणी के योग को जानने वाला) इस लोक में विजय तथा परलोक में अनन्त (फल) को प्राप्त करता है। इसके विपरीत वाणी के योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों के प्रयोग से दूषित (पाप का भागी) होता है।[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय वाङ्मय में वर्णों के शुद्ध उच्चारण का अत्यधिक महत्त्व है इसीलिए सभी प्रतिशाख्यों में वर्णोच्चारण सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है। वा० प्रा० में प्रथम अध्याय के लगभग ६६ सूत्रों (१।५-१५, ३०-८४, १५८) तथा चतुर्थ अध्याय के आठ सूत्रों (४।१७, १४४-१४६, १४८-१५१) में वर्णोच्चारण से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया गया है।

उच्चारणावयवों का परिचय

वा०प्रा० के उच्चारण विषयक सूत्रों को सम्यक् रूप से समझने के लिए वर्णोंच्चारण के उपयोग में आने वाले शरीरावयवों की रचना एवं क्रिया का ज्ञान आवश्यक है। अतः वर्णोंच्चारण के उपयोग में आने वाले शरीरावयवों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—

(१) फेफड़े

मनुष्य के शरीर में श्वास-क्रिया में जब वायु नासिका द्वारा फेफड़ों में प्रवेश करती है तब फेफड़े फूल जाते हैं। थोड़ी देर बाद वह वायु नासिका-विवर से होकर बाहर निकलती है। इस दूषित वायु को जब नासिका के साथ-साथ मुख से भी निकालते हैं तो ध्वनि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति में फेफड़ों का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं होता है किन्तु वही मूलस्थान है जहाँ से निकलने वाली वायु का उपयोग ध्वनि की उत्पत्ति के लिए किया जाता है। प्रातिशाख्य एवं शिक्षाग्रन्थों में इसके लिए उरस् शब्द का संकेत मिलता है।

(२) स्वरयन्त्र तथा श्वास-नलिका

वायु अपने स्वाभाविक मार्ग नासिका-विवर से होकर श्वास-नलिका में जाती है एवं

---

१. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्। -पा० शि० ५२

२. यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद् व्यवहारकाले
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।-म० भा० पृ० २०

श्वास नलिका से होकर फेफड़ों में पहुँचती है। पुनः इसी मार्ग से बाहर निकलती है। श्वास-नलिका गले में स्थित रहती है। इस श्वास-नलिका के ऊपरी भाग में स्वर-यन्त्र होते हैं। स्वर-यन्त्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले पर्दे होते हैं, जिन्हें स्वर-तन्त्री कहते हैं। इन स्वर-तन्त्रियों के बीच खुले हुए भाग को स्वर-यन्त्र मुख कहते हैं। वायु इसी स्वर यन्त्र मुख से होकर भीतर अथवा बाहर जाती है। स्वर-तन्त्रियों के एक दूसरे के समीप में आने से या दूर न हटने से विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं।

(३) मुख

ध्वनियों की उत्पत्ति में मुख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी मुख में जिह्वा, तालु, ओष्ठ तथा दन्त आदि उच्चारण के अवयव स्थित हैं।

(४) जिह्वा

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं कोमल उच्चारणावयव है। यह अनेक प्रकार के आकारों को धारण करके बाहर निकलने वाली वायु को अनेक प्रकार से विकृत करती है जिससे विविध ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। उच्चारण की विविधता के अनुसार जिह्वा को पाँच भागों में विभक्त किया गया है– (१) मूल (२) पश्च (३) मध्य (४) अग्र (५) नोक।

(५) तालु

मुख-विवर और नासिका-विवर के मध्य में एक अर्धगोलाकार छत होती है जिसे तालु कहा जाता है। इसे मुख्यरूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– (१) कठोर तालु-बाहर की ओर (२) कोमल तालु- अन्दर की ओर। कठोर तालु को पुनः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) दाँतों के पीछे उभरा प्रदेश जिसे बर्स्व (मसूढ़ा) कहा जाता है।

(२) दूसरे भाग को सामान्य तालु के नाम से अभिहित किया जाता है।

(३) तीसरे भाग को मूर्धा कहा जाता है। यह मुख छत का सबसे ऊपर वाला भाग है। कोमल तालु का अन्तिम भाग पूँछ के आकार का मांस का एक छोटा सा भाग है, जिसे कौवा या अलिजिह्व कहते हैं। यह तीन अवस्थायें धारण करता है–

(१) बिलकुल ढीला होकर नीचे रहना। इस अवस्था में यह मुख-विवर और श्वासनलिका के सम्बन्ध का विच्छेद कर देता है जिससे सारी वायु नासिका-विवर से ही आती जाती है।

(२) एक दम उठ जाना। इस अवस्था में नासिका-विवर तथा श्वास-नलिका के सम्बन्ध का विच्छेद कर देता है, जिससे सम्पूर्ण वायु मुख-विवर से आती जाती है।

(३) मध्य में रहना। इस अवस्था में कुछ वायु मुख-विवर से और कुछ वायु नासिका-विवर से आती जाती है।

(५) ओष्ठ

वाग्यन्त्र के विभिन्न अवयवों में ओष्ठ बहिःस्थित अतएव दृश्यमान है। अन्य अवयव किसी न किसी रूप में आच्छादित रहते हैं। ऊपर नीचे दो ओष्ठ होते हैं। ये विभिन्न अवस्थाओं द्वारा विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। ऊपर और नीचे के ओष्ठों में नीचे का ओष्ठ अधिक क्रियाशील होता है।

(६) दन्त

मुख-विवर में ऊपर-नीचे की ओर दाँतों की दो पंक्तियाँ होती हैं। ध्वनियों के उच्चारण में दाँतों की भी अपनी भूमिका है। दाँतों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) मूल (२) अग्र।

वर्णोच्चारण में वायु की उपादेयता

वायु सभी ध्वनियों का आधार है। वा० प्रा० १।६-७ में शब्द का कारण बताते हुए कहा गया है कि शब्द का कारण वायु है और वह वायु आकाश से उत्पन्न होता है।[१] वा० प्रा० १।७ पर भाष्य करते हुए उवट का कथन है कि शब्द वायु स्वरूप ही है।[२] यहाँ यह शंका उठना स्वाभाविक है कि यदि शब्द वाय्वात्मक है तो वायु के सर्वत्र गतिशील होने से सभी समय एवं सभी स्थान में शब्दों की उपलब्धि भी अनिवार्य रूप से होनी चाहिए।[३] इस शंका का समाधान करते हुए १।८ में कात्यायन का कथन है कि उचित कारण अर्थात् उच्चारण साधनों से युक्त होकर हृदय प्रदेशस्थ वायु वेणु, शंख आदि से शब्द रूप में प्रगट होती है।[४] वेणु, शंख आदि वाग्यन्त्रों में जिस प्रकार ध्वनि उत्पादन की क्षमता रहते हुए भी मानवीय प्रयत्न नितान्त आवश्यक होता है उसी प्रकार मनुष्य के उच्चारणावयवों में

१. वायुः खात्। शब्दस्तत्। -वा० प्रा० १।६-७

२. शब्दस्तदात्मको वायूवात्मक इत्यर्थः। -वा० प्रा० १।७ पर उवट

३. यदि वायवात्मकः शब्दः वायोः सर्वगतत्वात् सदाकालं
सर्वत्रोपलब्धिः प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह सङ्करोपेति। — वा०प्रा० १।८ पर उवट

४. सङ्करोपहितः। — वा०प्रा० १।८
सम्यक्करणोरुपहितो हृदि वायुर्वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति। — वा०प्रा० १।८ पर उवट।

भी मानवीय आन्तरिक प्रयत्न वायु के आधार से ध्वनि को उत्पन्न करता है। ध्वन्यात्मक वायु हृदय, कण्ठ एवं शिर इन तीन स्थानों में सङ्घात अर्थात् पुरुष प्रयत्न के द्वारा वाग्रूप में परिणत होता है।[१] वायु जब पुरुष प्रयत्न के द्वारा निकलती है तब उसके दो करण संवृत एवं विवृत होते हैं।[२] इन दो करणों से उपहित होने पर ककारादि वर्ण शरीर की रचना निष्पन्न होती है।[३] यहाँ पर यह शंका उठती है कि क्या शरीर से वायु के बाहर निकलने के साथ ही ककारादि विभिन्न वर्णों का संगठन हो जाता है। क्या अन्य स्थान विशेष एवं प्रयत्नों की अपेक्षा नहीं है। इसके स्पष्टीकरण में १।१४ पर भाष्यकार ने कहा है कि हृदय प्रदेश से बाहर आता हुआ वायु शारीर अर्थात् शरीर के एक भाग मुख में पहुँचता है और तालु आदि विभिन्न स्थानों पर उसका निक्षेप होने पर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है।[४]

वर्णोच्चारण में प्रयत्न

प्रत्येक वर्ण का उच्चारण के लिए मनुष्य को कुछ न कुछ चेष्टा अवश्य करनी पड़ती है। शरीरगत वायु जब फेफड़े से बाहर निकलती हुई स्वर यन्त्र में आती है तब वायु को रोककर शरीरावयवों के द्वारा उसे कई प्रकार से विकृत किया जाता है। वर्णों के उच्चारण में उपर्युक्त शरीरावयवों के इस व्यापार को प्रयत्न कहते हैं। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है— (१) बाह्य प्रयत्न (२) आभ्यन्तर प्रयत्न मुख के बाहर अर्थात् स्वर-यन्त्र में जो प्रयत्न होता है उसे बाह्य प्रयत्न कहते हैं एवं मुख के भीतर जो प्रयत्न होता है उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। बाह्य-प्रयत्न एवं आभ्यन्तर-प्रयत्न के स्वरूप अथवा प्रकार के सम्बन्ध में वा० प्रा० में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। शिक्षाकारों एवं वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित आस्य प्रयत्न आदि का ही ग्रहण यहाँ किया गया है, ऐसा भाष्यकार उवट का मत है।[५]

---

१. त्रीणि स्थानानि। -वा० प्रा० १।१०, स सङ्घातादीन् वाक्। — वा०प्रा० १।९ यो वायुः सम्यक्करणेरुपहितो वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति स एव सङ्घातादीन् प्राप्य वाग् भवति। सङ्घातः पुरुषप्रयत्नः। स आदौ येषां स्थानादीनां ते सङ्घातादयः तान् प्राप्त वाग्भवति वर्णो भवतीत्यर्थः। -वा० प्रा०१।९ पर उवट

२. द्वे करणे। -वा० प्रा०१।११, शरीरात्। -वा० प्रा० १।१२, शरीरम्। -वा० प्रा० १।१३

३. एवमेतेन प्रकारेण शरीराद्वायुर्निर्गच्छन् कादिवर्णविशेषव्यक्तिमापद्यते। -वा० प्रा० १।१३ पर उवट

४. किं शरीराद्वायुर्निर्गच्छन् मात्रादिवर्णविशेषव्यक्तिमापद्यते? नेत्याह शारीरे शरीरैकदेशे मुखे प्राप्तौ वायुस्ताल्वादिस्थानेषु निषक्तः करणेन विशेष व्यक्तिरूपेण वर्णत्वमापद्यते। — वा०प्रा० १।१४ पर उवठ

५. अयमास्यप्रयत्नः शिक्षाविद्भिरुक्त इह गृह्यते। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट

यद्यपि सूत्रकार कात्यायन ने बाह्य एवं आभ्यन्तर-प्रयत्नों का वर्णन नहीं किया है तथापि भाष्यकार उवट ने वा० प्रा० १।७२ के भाष्य में प्रयत्नों का संक्षिप्त परिचय दिया है उसी आधार पर इनका संक्षेप में यहाँ परिचय दिया जा रहा है।

बाह्य-प्रयत्न

मुख के बाहर अर्थात् स्वर-यन्त्र में जो प्रयत्न होता है, उसे बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। स्वय-यन्त्र में बाह्य-प्रयत्न मुख्यरूपेण तीन प्रकार का होता है– (१) संवृत (२) विवृत (३) मध्य।

(१) संवृत

इसमें स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे के अत्यधिक समीप रहती हैं और स्वर यन्त्र (मुख) बन्द सा रहता है। इस दशा में फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु स्वर-तन्त्रियों से घर्षण करती है। इसीलिए उसमें कम्पन होता है। इस दशा में स्वर-यन्त्र (मुख) से निकलने वाली वायु नाद कहलाती है।

(२) विवृत

इस दशा में स्वर-तन्त्रियाँ दूर-दूर रहती हैं और स्वर-यन्त्र (मुख) खुला रहता है। इस दशा में फेफड़े से निकलती हुई वायु स्वर-तन्त्रियों के साथ घर्षण नहीं करती है और स्वर-तन्त्रियों में किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता है। इस दशा में मुख से निकली हुई वायु श्वास कहलाती है।

(३) मध्य

इस दशा में स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे से न तो अधिक दूर रहती है एवं न अधिक समीप रहती हैं। अतः स्वर-यन्त्र (मुख) भी पूर्ण रूप से न बन्द रहता है एवं न खुला रहता है। इस दशा में निकली हुई वायु श्वास-नाद दोनों कही जाती है।

आभ्यन्तर-प्रयत्न

वर्णों के उच्चारण में मुख विवर के भीतर जो प्रयत्न किया जाता है, उसे आभ्यन्तर-प्रयत्न कहा जाता है। वा० प्रा० १।४३ पर भाष्यकार उवट ने आभ्यन्तर-प्रयत्न को आस्य-प्रयत्न एवं मुख-प्रयत्न कहा है।[1] वर्णों का उच्चारण करने में आभ्यन्तर प्रयत्नों की विशेष उपयोगिता है। आभ्यन्तर-प्रयत्न के माध्यम से मुख के उच्चारणावयव विभिन्न प्रकार के

---

१. समानमेकं स्थानं करणमास्यप्रयत्नश्च।

समानमुखयत्नः स तस्य सवर्णसंज्ञो भवति। -वा० प्रा० १।४३ पर उवट

वर्णों को उत्पन्न करते हैं।

आभ्यन्तर-प्रयत्न के प्रकार

वा०प्रा० में आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद के सम्बन्ध में सूत्रकार ने कोई भी विधान नहीं किया है। वा० प्रा० १।७२ पर भाष्यकार उवट ने भाष्य करते हुए संवृत, विवृत, अस्पृष्ट, स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट एवं अर्धस्पृष्ट इन ६ आभ्यन्तर प्रयत्नों का उल्लेख किया है।[१] इन छः आभ्यन्तर प्रयत्नों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

(१) संवृत

संवृत का अर्थ है बन्द अर्थात् स्वाभाविक स्थिति। भाष्यकार उवट ने ह्रस्व अकार का संवृत आस्य प्रयत्न कहा है।[२] पाणिनीय व्याकरण में भी कहा गया है कि ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् अर्थात् ह्रस्व अकार का प्रयोग में संवृत प्रयत्न होता है परन्तु प्रक्रिया दशा में (साधन अवस्था में) विवृत ही होता है।

(२) विवृत

विवृत का अर्थ खुला हुआ होता है। इसमें दो उच्चारण अवयवों का परस्पर स्पर्श नहीं होता है अपितु वे पृथक् पृथक् स्थित रहते हैं। भाष्यकार उवट ने ह्रस्व अकार को छोड़कर शेष सभी स्वरों का विवृत आस्य प्रयत्न कहा है।[३]

(३) अस्पृष्ट

अस्पृष्ट का तात्पर्य है स्पर्श न किया गया। इस प्रयत्न में मुख के उच्चारणावयव एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते हैं। भाष्यकार उवट ने अकारादि सभी स्वर वर्णों का अस्पृष्ट आस्य प्रयत्न कहा है।[४]

(४) स्पृष्ट

स्पृष्ट का अर्थ होता है स्पर्श किया गया। इस प्रयत्न में दो उच्चारणावयव एक दूसरे

---

१. वा० प्रा० ज्योत्सना वृत्ति में संवृत एवं अस्पृष्ट आस्य-प्रयत्न परिगणित नहीं हैं। इस प्रकार ४ आस्य प्रयत्न बतलाये गये हैं। भाष्यकार अनन्त ने संवृत, विवृत, स्पृष्ट और ईषत्स्पृष्ट ये चार आस्य-प्रयत्न बतलाया है।

२. संवृतास्यप्रयत्नः अकारः। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट।

३. विवृतास्यप्रयत्ना इतरे स्वराः। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट।

४. अस्पृष्टास्यप्रयत्नाः स्वराः। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट।

का स्पर्श करते हैं। तत्पश्चात् शीघ्र ही पृथक् होकर वायु को जाने देते हैं। भाष्यकार उवट ने सभी स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट आस्य प्रयत्न कहा हा।[१]

(५) ईषत्स्पृष्ट

ईषत्स्पृष्ट का अर्थ है थोड़ा स्पर्श किया हुआ। इसमें मुख के दो उच्चारणावयव न तो एक दूसरे का पूर्ण रूप से स्पर्श करते है और न एक दूसरे से दूर ही रहते हैं। इसमें उच्चारणावयवों का थोड़ा सा स्पर्श होता है। उवट ने अन्तःस्था वर्णों का ईषत्स्पृष्ट आस्य प्रयत्न बतलाया है।[२]

अर्द्धस्पृष्ट

अर्धस्पष्ट का अर्थ आधा स्पर्श किया हुआ। इसमें मुख के दो उच्चारणावयवों का एक भाग परस्पर स्पृष्ट रहता है एवं एक भाग अस्पृष्ट रहता है। उवट के अनुसार ऊष्मवर्ण एवं अनुस्वार वर्ण अर्द्धस्पृष्ट आस्य-प्रयत्न वाले हैं।[३]

भाष्यकार उवट द्वारा प्रतिपादित किये हुए उपर्युक्त आभ्यन्तर प्रयत्नों के अनुसार वर्णो का विभाजन निम्नाकित रेखाचित्र से स्पष्ट किया जाता हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न

अस्पृष्ट				
संवृत	विवृत	स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	अर्द्धस्पृष्ट
अ	आ, आ३	क, ख, ग, घ, ङ	य	श
	ई, ई, ई३	च, छ, ज, झ, ञ	र	ष
	उ, ऊ, ऊ३	ट, ठ, ड, ढ, ण	ल	स
	ऋ, ॠ, ॠ३	त, थ, द, ध, न	व	ह
	ऌ, ऌ, ऌ३	प, फ, ब, भ, म		अं
	ए, ए३, ऐ, ऐ३			(अनुस्वार)
	ओ, ओ३			
	औ, औ३			

---

१. स्पृष्टास्यप्रयत्नः स्पर्शाः। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट।

२. ईषत्स्पृष्टास्यप्रयत्ना अन्तस्थाः। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट।

३. अद्र्धस्पृष्टास्यप्रयत्ना ऊष्माणः अनुस्वारश्च। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट।

आभ्यन्तर प्रयत्न का प्रयोजन

वर्णों के उच्चारण के लिए मुख के भीतर जो प्रयत्न किया जाता है उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। वा० प्रा० १।४३ में विधान करते हुए कहा है कि स्थान, करण एवं आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता होने पर सवर्ण संज्ञा होती है। सवर्ण संज्ञा की उपयोगिता दीर्घ आदि सन्धि विधान में सूत्रकार ने बतलाया है। वर्णों की सवर्णता का निर्णय आभ्यन्तर-प्रयत्न ज्ञान से हो सकता है। वा० प्रा० १।८५ पर भाष्य करते हुए उवट का मत है कि सवर्ण संज्ञाङ्गभूत होने के कारण आस्य प्रयत्न का शिक्षान्तर से ग्रहण किया जाता है।[1] वा० प्रा० १।७२ में अकार के लिए विशेष विधान किया गया है कि संवृत प्रयत्न वाला ह्रस्व अकार अपने विवृत प्रयत्न वाले दीर्घ और प्लुत रूप अकार के साथ सवर्णता प्राप्त करता है।[2]

वर्णों के उच्चारण में स्थान और करण

वा० प्रा० के प्रथम अध्याय में वर्णों के उच्चारण स्थान और करण का विस्तृत विवेचन है। वर्णों के उच्चारण को भली-भाँति समझने के लिए वर्णों की उत्पत्ति में सहायक अंगों के कार्य का ज्ञान होना परमावश्यक है। अन्दर से बाहर आने वाली वायु को वर्णोच्चारण में मुख विवर में रोकना पड़ता है अथवा अन्य कई तरह से विकृत करना पड़ता है। वर्णोच्चारण के लिए दो अवयवों-स्थान तथा करण की आवश्यकता होती है। इनमें से सक्रिय एवं गतिशील इन्द्रियों को करण (वर्णोच्चारण में प्रमुख अङ्ग) तथा अपेक्षया कम सक्रिय तथा अचल अङ्ग को स्थान कहते हैं। इस प्रकार करण वह अङ्ग विशेष है जो उच्चारण के लिए अपेक्षित प्रयत्न करता है तथा स्थान वह विशेष अङ्ग है जहाँ भीतर से बाहर आती हुई वायु को रोककर अथवा अन्य किसी प्रकार से उसमें विकार लाकर वर्णों को उत्पन्न किया जाता है। वा० प्रा० में किसी सूत्र के द्वारा स्थान और करण का विधान नहीं किया गया है। उवट एवं अनन्त दोनों ने वर्णों के अधिकरण (आधार स्थान) को स्थान कहा है। वस्तुतः जिस स्थान पर वायु को विकृत करके जिस वर्ण को उत्पन्न किया जाता है उसी स्थान को उस वर्ण विशेष का स्थान कहते हैं। उदाहरणार्थ अन्दर से बाहर जाती हुई वायु को तालु स्थान पर विकृत किया जाय तो वह वर्ण तालव्य (तालु स्थान वाला) कहा जायगा। यदि मूर्धा स्थान पर विकृत किया जाय तो वह वर्ण मूर्धन्य (मूर्धा स्थान वाला) कहा जायगा। यथा-

---

१. आस्यप्रयत्नस्तु शिक्षान्तराद् गृह्यते सवर्णसंज्ञाङ्गभूतत्वात्। -वा० प्रा० १।८५ पर उवट।

२. अकारस्य मात्रिकस्य संवृतास्यप्रयत्नस्य इतरयोश्च विवृतास्य-प्रयत्नयोर्द्विमात्रिकत्रिमात्रिकयोः सह सावर्ण्यंतुल्यं न सम्भवतीति तदर्थमिदमारभ्यते सवर्णवच्च---।- वा० प्रा० १।७२ पर उवट।

ऌ, ल, स, और त वर्ग के उच्चारण में वायु को दन्त स्थान पर विकृत किया जाता है इसलिए इनको दन्त्य कहते हैं। षकार एवं टवर्ग वर्णों में वायु को मूर्धा स्थान पर विकृत किया जाता है अतएवं इन्हें मूर्धन्य कहते हैं।

स्वर वर्णों का उच्चारण स्थान और करण

अकार

वा०प्रा० १।७१ के अनुसार सूत्रकार ने ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अकार का उच्चारण स्थान कण्ठ बतलाया है।[1] यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि स्वर वर्णों में मात्र केवल अकार ही ऐसा स्वर-वर्ण है जिसके ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत स्वरूप में मात्राकृत विशेषता के साथ-साथ प्रयत्नकृत विशेषता भी है। इसी विशेषता का वर्णन करते हुए वा० प्रा० १।७२ पर उवट का मत है कि एक मात्रिक अकार का संवृत आस्य प्रयत्न है एवं अन्य द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक का विवृत् आस्य प्रयत्न है। सामान्यतया प्रयत्न के भेद से वर्णभेद होता है जिसके परिणामस्वरूप सवर्ण संज्ञा नहीं होती। अवर्ण में इस भिन्नता को दूर करने के लिए सूत्रकार कात्यायन ने १।७२ की रचना करके ह्रस्व एवं दीर्घ, प्लुत अकार की सवर्ण संज्ञा का वाचनिक विधान किया है।[2] कण्ठ उच्चारण स्थान होने से वा० प्रा० १।८४ में सूत्रकार ने अवर्ण का हनुमध्य करण बतलाया है।[3] इस सन्दर्भ में प्रख्यात प्रातिशाख्य विद्वान् प्रोफेसर वीरेन्द्र कुमार वर्मा का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार पाणिनि सम्प्रदाय के वैयाकरणों ने अ, आ, क, ख, ग, घ, ङ, ह और विसर्जनीय को कण्ठ्य कहा है (अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः)। वास्तव में इन वर्णों को कण्ठ्य कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह स्थान कण्ठ नहीं, अपितु कोमल तालु है। कोमल तालु को कण्ठ मानकर ही इन वर्णों को कण्ठ्य कहा गया है जैसे कि नागेश ने कहा है अत्र कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वा-मूलस्थानोभयपरम्।

प्रातिशाख्यों ने अ, आ और ह को कण्ठ्य माना है, किन्तु इन वैयाकरणों ने क वर्गीय वर्णों के साथ-साथ अ, आ और ह को भी कण्ठ्य माना है। वास्तव में प्रातिशाख्यों का दृष्टिकोण अधिक समीचीन है। इन वैयाकरणों ने सभी श्रेणियों में एक स्वर रखने के लिए तथा श्रेणियों को एक दूसरे के सदृश बनाने के लिए ऐसा किया है।

---

१. अहविसर्जनीयाः कण्ठे। -वा० प्रा० १।७१।

२. अकारस्य मात्रिकस्य संवृतास्यप्रयत्नस्य इतरयोश्च विवृतास्यप्रयत्नयोर्द्विमात्रिकत्रिमात्रिकयोः सह सावर्ण्यं तुल्यं न सम्भवतीति तदर्थमिदमाराभ्यते सवर्णवच्च। -वा० प्रा० १।७२ पर उवट

३. कण्ठ्या मध्येन। -वा० प्रा० १।८४।

इन वैयाकरणों ने ऐसा क्यों माना— इसकी पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कवर्गीय वर्णों की भाँति अ, आ और ह के उच्चारण के समय जिह्वामूल कण्ठ (कोमल तालु) का स्पर्श नहीं करता है तथापि कोमल तालु इन सभी वर्णों के उच्चारण के समय ऊपर उठकर नासिका-रन्ध्र रूप मार्ग बन्द कर देता है, जिससे सारी वायु मुख विवर से बाहर निकलती है।[१]

इकार

वा० प्रा० १।६६ के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत इकार का उच्चारणस्थान तालु है।[२] वा० प्रा० १।७९ में विधान करते हुए कहा गया है कि तालु उच्चारण स्थान होने से इकार का जिह्वामध्य करण है।[३]

उकार

वा० प्रा० १।७० में विधान किया गया है कि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार का उच्चारणस्थान ओष्ठ है।[४] वा० प्रा० १।८० में विधान करते हुए कहा गया है कि उकार का करण भी ओष्ठ है।[५] उकार की उच्चारण स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि ऊपर वाला ओष्ठ उच्चारण स्थान है क्योंकि वह उच्चारणकाल में स्थिर सा रहता है तथा नीचे वाला ओष्ठ करण हैं क्योंकि वह गतिशील रहता है।

ऋकार

वा० प्रा० १।६५ में विधान करते हुए कहा गया है कि ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत ऋकार का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है।[६] वा० प्रा० १।८३ में विधान करते हुए कहा गया है कि जिह्वामूल उच्चारण स्थान होने से ऋकार का हनुमूल करण है।[७]

ऌकार

वा० प्रा० १।६९ में विधान करते हुए कहा गया है कि ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत ऌकार

---

१. द्र० डा० वी० के० वर्मा ऋग्वेदप्रातिशाख्य एक परिशीलन पृ० ३५ टि० ख।

२. इचशेयास्तालौ। -वा० प्रा० १।६६।

३. तालुस्थाना मध्येन। -वा० प्रा० १।७९।

४. उवोप्पा ओष्ठे। -वा० प्रा० १।७०।

५. समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः। -वा० प्रा० १।८०।

६. ऋ ᳲ क्कौ जिह्वामूले। -वा० प्रा० १।६५।

७. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन। -वा० प्रा० १।८३।

का उच्चारण स्थान दन्त है।[1] वा० प्रा० १।७६ में विधान करते हुए कहा गया है कि दन्त उच्चारण स्थान होने से ऌकार का जिह्वाग्रकरण है।[2]

एकार

वा०प्रा० १।६६ में विधान किया गया है कि एकार (दीर्घ एवं प्लुत का उच्चारण स्थान तालु है।[3] तालु उच्चारण-स्थान होने के कारण वा०प्रा० १।७९ के अनुसार एकार का करण जिह्वामध्य है।[4]

ऐकार

वा०प्रा० में ऐकार के उच्चारण-स्थान का स्पष्ट रूप से विधान नहीं किया गया है। वा०प्रा० १।७३ में सूत्रकार कात्यायन ने ऐकार के सन्ध्यक्षरत्व का विश्लेषण करते हुए कहा है कि ऐकार में पूर्व मात्रा कण्ठ्य वर्ण (अकार) की है एवं बाद की मात्रा तालु (एकार) की है।[5] अतः १।७३ को आधार मानकर ऐकार के दो उच्चारण स्थान अर्थात् कण्ठ-तालु की कल्पना कर सकते हैं।[6] कण्ठ तालु स्थान होने के कारण हनुमध्य-जिह्वाग्रकरण संभावित है।

ओकार

वा०प्रा० १।७० में विधान करते हुए कहा गया है कि दीर्घ एवं प्लुत ओकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[7] वा० प्रा० १।८० के अनुसार ओष्ठ उच्चारण स्थान होने से ओकार का करण भी ओष्ठ है।[8] ओकार के उच्चारण को देखते हुए यह स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि ऊपर का ओष्ठ उच्चारण स्थान है तथा नीचे का ओष्ठ करण है।

औकार

वा० प्रा० में सूत्रकार ने औकार के उच्चारण के लिए अलग से कोई विधान नहीं

---

१. ऌलसिता दन्ते। -वा० प्रा० १।६९।
२. दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः। -वा० प्रा० १।७६।
३. इचशेयास्तालौ। -वा० प्रा० १।६६।
४. तालुस्थाना मध्येन। -वा० प्रा० १।७९।
५. ऐकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा ताल्वोष्ठयोरुत्तरा। -वा० प्रा० १।७३।
६. ऋ०प्रा० १।४२ के अनुस्वार ऐकार का तालु स्थान है।
७. उवो ऽपा ओष्ठे। -वा० प्रा० १।७०।
८. समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः। -वा० प्रा० १।८०।

किया है। वा० प्रा० १।७३ में सूत्रकार कात्यायन ने ओकार के सन्ध्यक्षरत्व का विवेचन करते हुए कहा है कि औकार में पूर्वमात्रा कण्ठ्य (अकार) की एवं उत्तर मात्रा ओष्ठ्य (ओकार) की है।[१] अतः १।७३ को आधार मानकर हम औकार के कण्ठ एवं ओष्ठ दो उच्चारण-स्थान की कल्पना कर सकते हैं।[२] कण्ठ ओष्ठ स्थान होने से हनुमध्य-ओष्ठ करण संभावित है।

व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण स्थान और करण

कवर्ग

वा०प्रा० १।६५ में सूत्रकार ने कवर्ग, (क, ख, ग, घ, ङ) का उच्चारण स्थान जिह्वामूल बतलाया है।[३] वा० प्रा० १।८३ में विधान करते हुए कहा गया है कि जिह्वामूल स्थान वाले वर्णों का हनुमूल करण है।[४] अभिप्राय यह है कि कवर्ग का उच्चारण करते सगय जिह्वा के मूल भाग में हनुमूल का स्पर्श होता है। अतएव कवर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है तथा हनुमूल करण है। पाणिनीय शिक्षा में कवर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल बतलाया गया है।[५] ह्विटनी एवं एलन ने कवर्ग का स्थान हनुमूल माना है।[६]

चवर्ग

वा०प्रा० १।६६ में सूत्रकार ने चवर्ग का (च, छ, ज, झ, ञ) का उच्चारण स्थान तालु बतलाया है।[७] वा० प्रा० १।७९ के अनुसार तालु स्थान वाले वर्णों का जिह्वामध्य करण होता है।[८] अर्थात् चवर्ग का उच्चारण करते समय तालु स्थान में जिह्वामध्य का स्पर्श होता है। अतः चवर्ग का उच्चारण स्थान तालु है तथा जिह्वा मध्य करण है।[९] पाणिनीय शिक्षा में चवर्ग का उच्चारण स्थान तालु बतलाया गया है।[१०]

---

१. ऐकारौकारयौः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा ताल्वोष्ठ्योरुत्तरा। -वा० प्रा० १।७३।
२. ऋ० प्रा० १।४७ एवं ऋ० तं० ९ के अनुसार ओकार का उच्चारणस्थान ओष्ठ है।
३. ऋ॒ह्॒क्कौ जिह्वामूले। -वा० प्रा० १।६५।
४. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन। -वा० प्रा० १।८३।
५. जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः। -श्लो० पा० शि० १८।
६. वैदिक व्याकरण पृ० ६४।
७. इचशेयास्तालौ। -वा० प्रा० १।६६।
८. तालुस्थाना मध्येन। -वा० प्रा० १।७९।
९. सभी प्रातिशाख्यों में चवर्ग का उच्चारण स्थान तालु बतलाया गया है।
१०. पा० शि० पृ० ११।

टवर्ग

वा०प्रा० १।६७ में टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) का उच्चारण स्थान मूर्धा बतलाया गया है।[१] वा० प्रा० १।७८ के अनुसार मूर्द्धा स्थानीय वर्णों का प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र करण होता है।[२] अर्थात् टवर्ग का उच्चारण करते समय मूर्द्धा स्थान में पीछे की ओर मुड़ी हुई जिह्वा के अग्रभाग का स्पर्श होता है। अतः टवर्ग का उच्चारण स्थान मूर्द्धा है एवं प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र करण है।

तवर्ग

वा०प्रा० १।६९ में सूत्रकार ने तवर्ग (त, थ, द, ध, न) का उच्चारण स्थान दन्त बतलाया है।[३] वा० प्रा० १।७६ में विधान करते हुए कहा गया है कि दन्त स्थानीय वर्णों का जिह्वा का अग्रभाग करण होता है।[४]

पवर्ग

वा०प्रा० १।७० में पवर्ग का उच्चारण स्थान बतलाते हुए कहा गया है कि पवर्ग का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[५] वा० प्रा० १।८० में विधान करते हुए कहा गया है कि ओष्ठ स्थान वाले वर्णों का ओष्ठ ही करण होता है।[६] अर्थात् पवर्ग का उच्चारण करते समय ओष्ठ का ही स्पर्श होता है। अतः पवर्ग का उच्चारण स्थान एवं करण दोनों ओष्ठ है।[७]

अन्तःस्था वर्णों का उच्चारण-स्थान और करण

यकार

वा०प्रा० १।६६ में सूत्रकार ने यकार का उच्चारण स्थान तालु बतलाया है।[८] १।७९ में विधान करते हुए कहा गया है कि तालु स्थानीय वर्णों का जिह्वा मध्य करण होता है।[९]

---

१. षटौ मूर्धनि। -वा० प्रा० १।६७।
२. मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्। -वा० प्रा० १।७८।
३. ऌलसिता दन्ते। -वा० प्रा० १।६९।
४. तालुस्थाना मध्येन। -वा० प्रा० १।७९।
५. उवोऽप्पा ओष्ठे। -वा० प्रा० १।७०।
६. समानस्थानकरण नासिक्यौष्ठ्याः। -वा० प्रा० १।८०।
७. पा० शि० पृ० ११।
८. इचशेयास्तालौ। -वा० प्रा० १।६६।
९. तालुस्थाना मध्येन। -वा० प्रा० १।७९।

अतः यकार का उच्चारण स्थान तालु है तथा जिह्वा का मध्यभाग करण है।[1]

रेफ

वा०प्रा० १।६८ में रेफ का उच्चारणस्थान दन्तमूल बतलाया गया है।[2] वा० प्रा० १।७७ में विधान करते हुए कहा गया है कि रेफ का जिह्वाग्रकरण है।[3] अतः रेफ का उच्चारण स्थान दन्त मूल एवं जिह्वाग्र करण है।

लकार

वा०प्रा० १।६९ में लकार का उच्चारण स्थान बतलाते हुए कहा गया है कि लकार का उच्चारण स्थान दन्त है।[4] वा० प्रा० १।७६ में विधान करते हुए कहा गया है कि दन्तस्थानीय वर्णों का जिह्वाग्र करण होता है।[5] अतः लकार का उच्चारण स्थान दन्त एवं जिह्वा का अग्रभाग करण होता है।

वकार

वा०प्रा० १।७० में वकार का उच्चारण स्थान बतलाते हुए कहा गया है कि वकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[6] वा० प्रा० १।८१ में वकार का करण दन्ताग्र बतलाया गया है।[7] अतः वकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ एवं दन्त का अग्रभाग करण है।[8]

ऊष्म वर्णों का उच्चारण स्थान तथा करण

शकार

वा० प्रा० १।६६ के अनुसार शकार का उच्चारण स्थान तालु है।[9] १।७९ में तालु स्थानीय वर्णों का करण जिह्वामध्य बतलाया गया है।[10] इस प्रकार शकार का उच्चारण

---

१. पा० शि० पृ० ११।
२. रो दन्त मूले। -वा० प्रा० १।६८।
३. रश्च। -वा० प्रा० १।७७।.
४. ऌलसिता दन्ते। -वा० प्रा० १।६९।
५. दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः। -वा० प्रा० १।७६।
६. उवोप्पा ओष्ठे। -वा० प्रा० १।७०।
७. वो दन्ताग्रैः। -वा० प्रा० १।८१।
८. श्लोक पा० शि० १८।
९. इचशेयास्तालौ। -वा० प्रा० १।६६।
१०. तालुस्थाना मध्येन। -वा० प्रा० १।७९।

स्थान तालु एवं जिह्वामध्य करण है। पाणिनीय शिक्षा में शकार का उच्चारण स्थान तालु[१] एवं करण जिह्वामध्य बतलाया गया है।[२]

षकार

वा०प्रा० १।६७ के अनुसार षकार का उच्चारण स्थान मूर्द्धा है।[३] वा० प्रा० १।७८ में मूर्द्धा स्थानीय वर्णों का प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र करण बतलाया गया है।[४] अतः षकार का उच्चारणस्थान मूर्द्धा एवं प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र करण है।

सकार

वा०प्रा० १।६९ के अनुसार सकार का उच्चारण स्थान दन्त है।[५] वा० प्रा० १।७६ में दन्तस्थानीय वर्णों का जिह्वाग्रकरण बतलाया गया है।[६] अतः सकार का उच्चारण स्थान दन्त एवं जिह्वाग्र करण है।

हकार

वा०प्रा० १।७१ के अनुसार हकार का उच्चारण स्थान कण्ठ है।[७] वा० प्रा० १।८४ में कण्ठस्थानीय वर्णों का हनुमध्य करण बतलाया गया है।[८]

अयोगवाह वर्णों का उच्चारण स्थान और करण

पाणिनि ने अपने वर्ण समाम्नाय में विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, नासिक्य तथा यमों का अयोगवाह वर्णों के अन्तर्गत विधान नहीं किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पाणिनि का वर्ण समाम्नाय प्रत्याहारों के लिए है। अब वा० प्रा० के अनुसार अयोगवाह वर्णों का उच्चारण स्थान एवं करण प्रदर्शित किया जा रहा है।

जिह्वामूलीय (क)

वा० प्रा० १।६५ के अनुसार ᳵक (जिह्वामूलीय) का उच्चारणस्थान जिह्वामूल

---

१. श्लो० पा० शि० १७।
२. सू० पा० शि० पृ० ११।
३. षटौ मूर्धनि। -वा० प्रा० १।६७।
४. मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्। -वा० प्रा० १।७८।
५. ललसिता दन्ते। -वा० प्रा० १।६९।
६. दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः। -वा० प्रा० १।७६।
७. अहविसर्जनीयाः कण्ठे। -वा० प्रा० १।७१।
८. कण्ठ्या मध्येन। -वा० प्रा० १।८४।

है।[1] वा० प्रा० १।८३ में जिह्वामूल स्थान वाले वर्णों का हनुमूल करण बतलाया गया है।[2]

उपध्मानीय (ᳲप)

वा० प्रा० १।७० के अनुसार ᳲप (उपध्मानीय) का उच्चारण स्थान ओष्ठ है।[3] वा० प्रा० १।८० में ओष्ठ स्थानीय वर्णों का करण भी ओष्ठ ही बतलाया गया है।[4]

अनुस्वार (अं)

वा०प्रा० १।७४ के अनुसार अं (अनुस्वार) का उच्चारण स्थान नासिका है।[5] वा०प्रा० १।८३ में अनुस्वार का करण हनुमूल बतलाया गया है।[6]

विसर्जनीय (अः)

वा० प्रा० १।७१ में विसर्जनीय वर्ण का उच्चारण स्थान कण्ठ बतलाया गया है।[7] वा० प्रा० १।८४ के अनुसार कण्ठस्थान वाले वर्णों का करण हनुमध्य है।[8]

नासिक्य (हुँ)

वा०प्रा० १।७४ के अनुसार नासिक्य वर्ण का उच्चारण स्थान नासिका है।[9] वा०प्रा० १।८० में नासिका स्थानीय वर्णों का करण भी नासिका बतलाया गया है।[10] अतः नासिक्य वर्णों का उच्चारण स्थान नासिका एवं करण भी नासिका है।

यम (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ)

वा०प्रा० १।७४ के अनुसार यम का उच्चारण स्थान नासिका है।[11] वा०प्रा० १।८२ में यम वर्णों का करण नासिका मूल बतलाया गया है।[12]

---

१. ऋᳲक्कौ जिह्वामूले। -वा० प्रा० १।६५।
२. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन (-वा० प्रा० १।८३)।
३. उवोᳲपपा ओष्ठे। -वा० प्रा० १।७०।
४. समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः। -वा० प्रा० १।८०।
५. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके। -वा० प्रा० १।७४।
६. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन। -वा० प्रा० १।८३।
७. अहविसर्जनीयाः कण्ठे। -वा० प्रा० १।७१।
८. कण्ठया मध्येन। -वा० प्रा० १।८४।
९. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके। -वा० प्रा० १।७४।
१०. समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः। -वा० प्रा० १।८०।
११. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके। -वा० प्रा० १।७४।
१२. नासिकामूलेन यमाः। -वा० प्रा० १।८२।

उच्चारण स्थान के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण

कण्ठ्य

वा०प्रा० १।७१ के अनुसार अ, आ, आ३, ह और विसर्जनीय (:) का उच्चारण स्थान कण्ठ है। कण्ठ उच्चारण स्थान होने के कारण ये पाँच वर्ण कण्ठ्य कहलाते है।[१]

जिह्वामूलीय

वा०प्रा० १।६५ के अनुसार ऋ, ॠ, ॠ३, क, क्, ख्, ग्, घ्, ङ् का उच्चारणस्थान जिह्वामूल है। इन वर्णों को जिह्वा के मूलभाग में उच्चारित होने के कारण जिह्वामूलीय कहा गया है। जिह्वामूलीय वर्णों का निर्ऋति देवता है।[२] आधुनिक भाषावैज्ञानिक इन्हें कोमल तालव्य भी कहते हैं।

तालव्य

वा०प्रा० १।६६ के अनुसार इ, ई, ई३, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, श्, ए और य् का उच्चारण स्थान तालु है। तालु उच्चारण स्थान होने के कारण ये वर्ण तालव्य कहे जाते हैं। तालव्य वर्णों का देवता सोम है।[३]

मूर्धन्य

वा०प्रा० १।६७ के अनुसार ष्, ट्, ठ्, ड्, ण् का उच्चारण स्थान मूर्धा है। मूर्धा उच्चारणस्थान होने के कारण इन वर्णों को मूर्धन्य कहा जाता है।[४]

दन्त्य

वा०प्रा० १।६९ के अनुसार ऌ, ॡ, ॡ३, स्, तथा त्, थ्, द्, ध्, न् का उच्चारण स्थान दन्त है। दन्त उच्चारणस्थान होने के कारण इन वर्णों को दन्त्य कहा गया है।[५]

दन्तमूलीय

वा०प्रा० १।६८ के अनुसार रेफ का उच्चारणस्थान दन्तमूल दन्तमूल से उच्चारित होने के कारण यह दन्तमूलीय कहा जाता है। दन्तमूलीय वर्ण का देवता विश्वेदेव है।[६]

---

१. आग्नेयाः कण्ठ्याः। -वा० प्रा० ८।४१।

२. नैर्ऋत्या जिह्वामूलीयाः। -वा० प्रा० ८।४२।

३. सौम्यास्तालव्याः। -वा० प्रा० ८।४३।

४. वायव्या मूर्धन्याः। -वा० प्रा० ८।४६।

५. रौद्रा दन्त्याः। -वा० प्रा० ८।४४।

६. शेषा वैश्वदेवाः। -वा० प्रा० ८।४७।

ओष्ठ्य

वा०प्रा० १।७० के अनुसार उ, ऊ, ऊ३, व्, ओ, प और प्, फ्, ब्, भ्, म् का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है। ओष्ठ स्थान से उच्चारित होने के कारण ये ग्यारह ओष्ठ कहलाते हैं।[1]

नासिक्य

वा०प्रा० १।७४ के अनुसार यम (कुँ खुँ गुँ घुँ) अनुस्वार (–̇) और नासिक्य (हुँ) का उच्चारण स्थान नासिका बतलाया गया है। नासिका स्थान से उच्चारित होने के कारण ये छः वर्ण नासिक्य कहे जाते हैं। नासिक्य वर्णों का देवता विश्वेदेव है।[2]

कण्ठ्य तालव्य

वा० प्रा० १।७३ के अनुसार ऐ का उच्चारण स्थान कण्ठ और तालु दोनों है।

कण्ठ्य ओष्ठ्य

वा०प्रा० १।७३ के अनुसार औ का उच्चारण स्थान कण्ठ और ओष्ठ है।

अनुनासिका

वा०प्रा० १।७५ के अनुसार अनुनासिक (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) का उच्चारण स्थान मुख और नासिका दोनों है।

वर्णोच्चारण स्थान के आधार पर वा०प्रा० में विहित वर्णों को निम्न रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

स्थान

कण्ठ	जिह्वा मूल	तालु	मूर्धा	दत्न	दन्त मूल	ओष्ठ	नासिका	कण्ठ और तालु	कण्ठ और ओष्ठ	मुख और नासिका
अ	ऋ	इ	ष्	ऌ	र्	उ	कुँ	ऐ	औ	अनुनासिक
आ	ॠ	ई	ट्	ॡ		ऊ	खुँ			
आ३	ऋ३	ई३	ठ्	ऌ३		ऊ३				
ह	६	च्	ड्	ल्		व्	गुँ			
(अः)	ᳵक	छ्	ढ्	स		ओ	घुँ			
विसर्ग-	क्	ज्	ण्	त्		ᳶप				
नीय	ख्	झ्		थ्		प्	हुँ			
	ग्	ञ्		द्		फ्				
	घ्	ए		ध		ब्	(अं)			
	ङ्			न्		भ् म्				

१. ओष्ठ्या अश्विनाः। -वा० प्रा० ८।४५।

२. शेषा वैश्वदेवाः। -वा० प्रा० ८।४७।

करण के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण

वा०प्रा० में ९ करणों का विधान मिलता है। इनके आधार पर वर्णों का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

हनुमध्य

वा०प्रा० १।८४ के अनुसार अ, आ, आ३, ह और विसर्जनीय इन वर्णों का करण हनुमध्य (जबड़े का मध्यभाग) है।[1]

हनुमूल

वा०प्रा० १।८३ के अनुसार ऋ, ॠ, ॠ३, क, क्, ख्, ग्, घ्, ङ् का करण हनुमूल है।[2]

जिह्वामध्य

वा०प्रा० १।७९ के अनुसार इ, ई, ई३, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, श्, ए तथा य् का जिह्वा का मध्यभाग करण है।[3]

प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र

वा०प्रा० १।७८ के अनुसार ष् एवं ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण इन वर्णों का करण प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र (पीछे की ओर नमित होकर जिह्वा का अग्रभाग) है।[4]

जिह्वाग्र

वा०प्रा० १।७६ के अनुसार ऌ, ॡ, ॡ३, र्, ल्, स् तथा त्, थ्, द्, ध्, न् इन वर्णों का करण जिह्वा का अग्रभाग है।[5]

ओष्ठ

वा० प्रा० १।८० के अनुसार उ, ऊ, ऊ३, ओ, ≍प, और प्, फ्, ब्, भ्, म् इन ओष्ठ्य वर्णों का करण ओष्ठ है।[6]

---

१. कण्ठ्या मध्येन। -वा० प्रा० १।८४।

२. जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन। -वा० प्रा० १।८३।

३. तालुस्थाना मध्येन। -वा० प्रा० १।७९।

४. मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम। -वा० प्रा० १।७८।

५. दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः। -वा० प्रा० १।७६।

६. समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः। -वा० प्रा० १।८०।

नासिका

वा०प्रा० १।८० के अनुसार नासिक्य वर्ग (हुँ) का करण नासिका है।

नासिकामूल

वा०प्रा०१।८२ के अनुसार कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इन चार यमों का कारण नासिकमूल है।[1]

दन्त

वा०प्रा० १।८१ के अनुसार वकार का करण दन्ताग्र है।[2]

वर्णों के करण के आधार पर वा० प्रा० में विहित वर्णों को निम्न रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है।

करण

हनुमध्य	हनुमूल	जिह्वामध्ये	प्रति वेष्टित जिह्वाग	जिह्वाग्र	ओष्ठ	नासिका	नासिका मूल	दन्ताग्र
अ	ऋ	इ	ष्	ऌ	उ	हुँ	कुँ	व्
आ	ॠ	ई	ट्	ॡ	ऊ	(नासिक्य)	खुँ	
आ३	ऋ३	ई३	ठ्	ऌ३	ऊ३		गुँ	
ह	ᳵक	च्		र्	औ		घुँ	
विसर्जनीय	क्	छ्	ड्	ल्	ᳵप			
	ख्	ज्	ढ्	स्	प्			
	ग्	झ्	ण	त्	फ्			
	घ्	ञ्		थ्	ब्			
	ङ्	श्		द्	भ्			
	(अं)	ऐ		ध्	म्			
	अनुस्वार	य्		न्				

वर्णों के उच्चारण में काल

वा० प्रा० १।५९ में व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण काल आधी मात्रा बतलाया गया है। अर्द्ध मात्रा वाले व्यञ्जन वर्णों का स्वतंत्र रूप से उच्चारण करना कठिन है परन्तु स्वर

१. नासिकामूलेन यमाः। -वा० प्रा० १।८२।

२. वो दन्ताग्रैः। -वा० प्रा० १।८१।

की सहायता से व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण हो जाता है। मात्रा के आधार पर वर्णों को निम्न रेखा चित्र द्वारा विभाजित किया जा सकता है।

१/२मात्रा	१मात्रा	२मात्रा	३मात्रा
व्यञ्जन	ह्रस्वर स्वर अ, इ, उ, ऋ, ऌ।	आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ।	आ३, ई३, ऊ३, ॠ३ ऌ३, ए३, ऐ३, ओ३, औ३

मात्रा निरूपण

प्रत्येक वर्ण को उच्चारित करने में कुछ न कुछ समय अवश्य लगता है। किसी वर्ण को उच्चारित करने में कम समय की आवश्यकता होती है एवं किसी वर्ण के उच्चारण में अधिक समय की आवश्यकता होती है। वर्णों को उच्चारित करने में जो समय लगता है उसके परिमाण को बतलाने के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों में मात्रा शब्द का प्रयोग हुआ है। भाष्यकार उवट का मत है कित ह्रस्व और मात्रा दोनों पर्यायवाची है।[1] इस प्रकार मात्रा उसे कहते हैं जिसके द्वारा वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय को मापा जाता है।

उच्चारणकाल के आधार पर स्वरों का विभाजन

वा०प्रा० स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय के परिणाम को दृष्टि में रखकर स्वरों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है – (१) ह्रस्व (२) दीर्घ (३) प्लुत।

ह्रस्व

वा०प्रा० में ह्रस्व की परिभाषा देते हुए सूत्रकार का कथन है कि अकार के समान मात्रा काल वाला स्वर ह्रस्व कहलाता है।[2] पुनः सूत्रकार का कथन है कि मात्रा के द्वारा अकार के समान काल जानना चाहिए।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मात्रा और ह्रस्व ये दोनों पर्यायवाची है। वा० प्रा० के अनुसार अ, इ, उ, ऋ और ऌ वर्ण ह्रस्व हैं।

दीर्घ

वा०प्रा० में दीर्घ की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ह्रस्व स्वर से दुगुने काल

१. ह्रस्वो मात्रेति पर्यायावित्यर्थ। -वा० प्रा० १।५६ पर उवट।
२. अमात्रस्वरौ ह्रस्वः। -वा० प्रा० १।५५।
३. मात्रा च। -वा० प्रा० १।५६।

वाले स्वर को दीर्घ कहते हैं।[१] वा०प्रा० के अनुसार आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ऐ, ओ, औ, ये नौ वर्ण दीर्घ कहलाते हैं। या०शि० में कहा गया है कि काक पक्षी दो मात्रा काल वाला स्वर बोलता है।[२] अर्थात् कौवा एक बार बोलकर जितना समय लगाता है वह दो मात्रा है एवं उसकी एक बोली के समान काल वाला स्वर दीर्घ संज्ञक होती है। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा में दीर्घ ऌकार नहीं मिलता है।

प्लुत

वा०प्रा० में प्लुत की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ह्रस्व स्वर से तिगुने काल वाला स्वर प्लुत कहा जाता है।[३] अर्थात् प्लुत स्वर का उच्चारण करने मं तीन मात्रा का समय लगता है। या०शि० में बतलाया गया है कि मयूर पक्षी त्रिमात्रिक स्वर बोलता है।[४] अतः मयूर पक्षी की बोली के तुल्यकाल वाला स्वर प्लुत होता है। प्लुत को लिपि में प्रदर्शित करने के लिए दीर्घ स्वर के आगे ३ इस चिह्न को लिखते हैं। वा०प्रा० में आ३, ई३, ऊ३, ॠ३, ॡ३, ए३, ऐ३, ओ३, औ३ ये नौ वर्ण प्लुत बतलाये गये हैं। शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा की संहिता में आ३, ई३, और ओ३ इन तीन ही प्लुत स्वर वर्णों के सात उदाहरण मिलते हैं। प्लुत के साथ उदाहरण वा० प्रा० २।५०-५४ के अनुसार आग्ना ३ ई, लाजी३, न, शाची ३न, ओ३म्, विवेशा३ असीदत् और आसी३इत् (अन्तोदात) है। सूत्रकार कात्यायन ने वा० प्रा० के अष्टम अध्याय में कहा है कि २।५०-५४ में उक्त सात प्लुतों को छोड़कर अन्य प्लुत स्वर माध्यन्दिन शाखा में नहीं मिलते हैं।[५]

व्यञ्जनों का उच्चारण काल

वा० प्रा० १।५९ में व्यञ्जन वर्णों का उच्चारण काल अर्द्ध मात्रा काल बतलाया गया है।[६] अर्द्धमात्रा वाले व्यञ्जन का स्वतंत्ररूप से उच्चारण करना कठिन होता है किन्तु आदि अथवा अन्त में स्वर वर्ण होने पर उसकी सहायता से व्यञ्जन का उच्चारण अपेक्षाकृत मुखर होता है। एक साथ बिना स्वर वाले तीन व्यञ्जन तक का उच्चारण आगे वाले स्वर के सहारे किया जा सकता है। यथा— पार्श्व्यम्।

---

१. द्विस्तावान् दीर्घः। -वा० प्रा० १।५७।
२. द्विमात्रं वायसोऽब्रबीत्। -या० शि० पृ० १३।
३. प्लुतस्त्रिः। -वा० प्रा० १।५८।
४. शिखी वदति त्रिमात्रम्। -या० शि० पृ०१३।
५. ऌकारो दीर्घः प्लुताश्चोक्तवर्जम्। -वा० प्रा० ८।३९।
६. व्यञ्जनमर्द्धमात्रा। -वा० प्रा० १।५९।

कतिपय वर्णों के स्वरूप पर विशेष विचार

वर्ण समाम्नाय में प्रतिपादित वर्णों में से कतिपय वर्णों के विषय में यहाँ पर विशेष विचार प्रस्तुत किया जाता है।

ऋ और ऌ का स्वरूप

वा०प्रा०४।१४८ में ऋ और ऌ के स्वरूप के विषय में कहा गया है कि ऋ और ऌ में क्रमशः रेफ और लकार का संश्लेषण होता है। रेफ और लकार का संश्लेष होने पर भी ऋ एवं ऌ एक श्रुति है और एक वर्ण हैं।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि वा०प्रा० के अनुसार– (क) ऋकार एवं ऌकार में स्वरात्मक अंश होने के साथ ही रेफ और लकार का व्यञ्जनात्मक अंश भी है।

(ख) रेफ और लकार का संश्लेष होने पर भी इनकी पृथक् श्रुति नहीं होती है अपितु ऋ और ऌ वर्ण में एकश्रुति है।

(ग) ऋ और ऌ में रेफ और लकार का संश्लेष रहने पर भी ये सन्ध्यक्षर अथवा पृथक् पृथक् वर्ण नहीं है अपितु एक वर्ण हैं।

वा०प्रा० में यह विधान नहीं किया गया है कि ऋ, ऌ में व्यञ्जन तत्व का कितना परिमाण है तथा स्वर तत्व का कितना परिणाम है। साथ ही यह भी नहीं स्पष्ट किया गया है कि स्वरात्मक तत्व का क्या स्वरूप है। वा० प्रा० में ऋ, ऌ वर्ण में रेफ लकार का विधान करने वाले सूत्र के अनन्तर वर्णापत्ति में मात्राविधायक सूत्र का पाठ सूत्रकार ने अवश्य किया है। उवट ने वा० प्रा० में भाष्य करते हुए ऋ, ऌ वर्ण में स्वरांश एवं व्यञ्जनांश की मात्रा का प्रश्न उठाया है किन्तु उसका समाधान उपलब्ध नहीं होता। अनुमान के आधार पर यह बतलाया जा सकता है कि ऋ, ऌ में रेफ, लकार का अश्रुतिधर अंश अणुमात्रा काल का है।

सन्ध्यक्षरों का स्वरूप

वा० प्रा०१।४५ में विधान करते हुए कहा गया है कि ए, ऐ, ओ और औ सन्ध्यक्षर संज्ञक है।[2] सन्ध्यक्षर संज्ञा से यह स्पष्ट होता है कि इन वर्णों में दो स्वर वर्णों का संयोग है। पाणिनीय व्याकरण में ए, ओ (तथा अ) के लिए गुण संज्ञा[3] तथा ऐ, औ (तथा आ)

---

१. ऋॢवर्णो रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिघरावेकवर्णो। -वा० प्रा० ४।१४८।

२. सन्ध्यक्षरं परम्। -वा० प्रा० १।४५।

३. अदेङ् गुणः। -पा० अ० १।१।२।

के लिए वृद्धि संज्ञा[१] का व्यवहार किया गया है। वा० प्रा० १।७३ में विधान करते हुए कहा गया है कि ऐकार और ओकार की पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य वर्ण (अकार) की है तथा उत्तरवर्ती मात्रा क्रमशः तालव्य वर्ण (एकार) की तथा ओष्ठ्य वर्ण (ओकार) की है। इस प्रकार अ ए ए तथा अ ओ ओ।

सूत्रकार कात्यायन ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि इन वर्णों में कितनी मात्रा कण्ठ्य (अकार) की है तथा कितनी मात्रा तालव्य (एकार) वर्ण की है एवं कितनी मात्रा ओष्ठ्य वर्ण (ओकार) की है। भाष्यकार उवट ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि ऐकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण की है एवं परवर्ती डेढ़ मात्रा तालव्य वर्ण (एकार) की है। ऐसी तरह ओकार में पूर्ववर्ती १/२ मात्रा कण्ठ्य वर्ण अकार की है एवं परवर्ती डेढ़ मात्रा ओष्ठ्य वर्ण ओकार की है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि चारों सन्ध्यक्षर दो-दो स्वर वर्णों के मिलने से निष्पन्न होते हैं, किन्तु उच्चारण करने में ये एक वर्ण हैं। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार मूल भारोपीय भाषा में ए का उच्चारण अइ, ओ का उच्चारण अउ, ऐ का उच्चारण आई, और औ का उच्चारण आउ होता था जो कि बाद में ए (e) ओ (o) ऐ (ai) और औ (au) में परिणत हो गया।

अनुस्वार का स्वरूप

वर्ण समाम्नाय में वा० प्रा० के अयोगवाह वर्णों के अन्तर्गत अनुस्वार का ग्रहण किया गया है। वा० प्रा० ४।१५० एवं ४।१५१ में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ह्रस्व स्वर पूर्व में होने पर अनुस्वार मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती स्वर १/२ मात्रा काल वाला होता है। दीर्घ स्वर से बाद में स्थित अनुस्वार १/२ मात्रा काल वाला और पर्ववर्ती दीर्घ स्वर १/२ मात्रा काल का होता है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुस्वार एवं पूर्ववर्ती स्वर के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। आधी मात्रा काल से अधिक समय लगने का विधान होने से अनुस्वार के स्वर होने की ओर संकेत होता है। इस स्थिति में भी अनुस्वार स्वर नहीं है। अन्य व्यञ्जन वर्णों की भाँति अनुस्वार भी बिना स्वर की सहायता से उच्चारित नहीं किया जा सकता। अनुस्वार को वर्णसमाम्नाय में अयोगवाह संज्ञक वर्णों के अन्तर्गत रखा गया है। अयोगवाह को व्यञ्जन माना गया है स्वर नहीं।

अनुनासिक

स्पर्श के अन्तिम वर्ण ङ, ञ, ण, न, म, के लिए सामान्य रूप से अनुनासिक शब्द

---

१. वृद्धिरादैच्। -पा- अ० १।१।१।

प्रयुक्त होता है। अनुनासिक का वास्तविक अर्थ है मुख और नासिका से उच्चरित होने वाला वर्ण। वा० प्रा० १।७५ में कहा गया है कि अनुनासिक का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से होता है।[१] वा० प्रा० १।८९ में कहा गया है कि स्पर्श वर्गों के अन्तिम वर्ण नियमित रूप से अनुनासिक धर्म से सम्बन्धित हैं अतः वे अनुनासिक कहलाते हैं।[२] भाष्यकार उवट का मत है कि अनुनासिकता स्वर वर्णों का वैकल्पिक धर्म है तथा रेफ को छोड़कर अन्य अन्तःस्था वर्णों का वाचनिक धर्म है।[३] कहने का अभिप्राय यह है कि स्वर वर्णों का उच्चारण जब मुख और नासिका दोनों से अँ, आँ आदि रूप में होता है तब इनको अनुनासिक स्वर कहते है। इसी तरह अन्तःस्था वर्णों का उच्चारण जब मुख और नासिका दोनों से यँ वँ इस रूप में होता है तब इन वर्णों को अनुनासिक अन्तःस्था कहते हैं।

संयोगविषयक उच्चारण वैशिष्ट्य

वा०प्रा० १।४८ में संयोग की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि स्वर के व्यवधान से रहित व्यञ्जन को संयोग कहा जाता है[४] अर्थात् व्यवधान-रहित व्यञ्जन वर्णों का मेल संयोग कहा जाता है। पाणिनि के अनुसार जिन व्यञ्जनों के मध्य में स्वर वर्ण का व्यवधान नहीं होता उन व्यञ्जनों को संयोग संज्ञक माना जाता है। व्यञ्जनवर्णों के संयोग में होने वाली उच्चारण सम्बन्धित विशिष्टताओं को वा०प्रा० के अनुसार स्पष्ट किया जा रहा है।

द्वित्व

वर्णोच्चारण में द्वित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी परिस्थिति विशेष में जब किसी व्यञ्जन के पहले उसी व्यञ्जन का आगम हो जाता है तो इसे द्वित्व कहा जाता है। द्वित्व के परिणाम स्वरूप मूलभूत व्यञ्जन के उच्चारण के पूर्व उसी व्यञ्जन का एक अतिरिक्त उच्चारण किया जाता है। वा० प्रा० में द्वित्व के लिए क्रम, द्विरुक्ति, द्विर्भाव संज्ञा प्रयुक्त की गई है। वा०प्रा० (४।१०१-११६) १६ सूत्रों में द्वित्व का विधान किया गया है। वा०प्रा० के अनुसार द्वित्व का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः। -वा० प्रा०१।७५।

२. अनुनासिकाश्चोत्तमाः। -वा० प्रा० १।८९।

३. स्वराणामयं वैकल्पिको धर्मः अन्तःस्थानां रेफवर्जितानां च वाचनिकश्चायं धर्मः। -वा० प्रा० १।७५ पर उवट।

४. अनन्तरं संयोगः। -वा० प्रा० १।४८।

(१) स्वर पूर्व में होने पर संयोग का आदि वर्ण सर्वत्र द्वित्व को प्राप्त करता है।[५] जैसे (१) सम्यक् स्रवन्ति सम्यक्क्सव्रन्ति (सं०पा० १३।३८)।[२] (११) अनुष्टुप्प्शारदी (सं०पा० १३।५७)।[३]

उपर्युक्त उदाहरणों में संयोग के प्रथम वर्ण क्रमशः ककार एवं पकार का द्वित्व हो गया है क्योंकि उनके पूर्व में स्वर स्थित है।

(२) स्वर पूर्व रेफ और हकार के बाद में स्थित व्यञ्जन वर्ण द्वित्व को प्राप्त करता है।[४] उदाहरणार्थ जैसे– (१) ऊर्ज्जे (सं०पा० १।१)।[५] (२) वाह्व्वोः (सं०पा० २४। प्रस्तुत विधान को भाष्यकार अनन्त ने ४।१०१ का अपवाद बतलाया है, किन्तु भाष्यकार उवट ने कुछ भी नहीं कहा है।[६]

(३) स्वरवपूर्व ऊष्म (श, ष, स, ह) एवं अन्तस्थ वर्ण (य, र, ल, व) के बाद में स्थित स्पर्श वर्ण का द्वित्व हो जाता है।[७] उदाहरण– (१) पृश्न्निः (सं०पा० २४।४)[८] (२) उल्ब्बम् (सं०पा० १०।८)।[९]

यहाँ पर एक शंका होती है कि रेफ और हकार के बाद में स्थित वर्ण को द्वित्व इसी सूत्र से हो जाता है पुनः ४।१०२ सूत्र की रचना क्यों की गई। इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार अनन्त ने कहा है कि प्रस्तुत (४।१०३) विधान रेफ, हकार से परवर्ती केवल स्पर्श वर्णों को द्वित्व करता है जबकि ४।१०२ विधान व्यञ्जन मात्र को द्वित्व करता है।[१०]

---

१. स्वात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र। -वा० प्रा० ४।१०१।

२. द्वौ ककारौ सकारो रेफश्च संयोगः। तत्र पूर्वककारो द्विरुक्तिजः। -वा० प्रा० ४।१०१ पर उवट।

३. द्वौ पकारौ शकारश्च संयोग। तत्र पूर्वपकारो द्विरुक्तिजः। -वा० प्रा० ४।१०१ पर उवट।

४. परं तु रेफहकाराभ्याम्। -वा० प्रा० ४।१०२।

५. रेफो द्वौ जकारौ संयोगः। तत्र प्रथमो जकारः क्रमजः। -वा० प्रा० ४।१०२ पर उवट।

६. हकारौ द्वौ वकारौ संयोगः तत्र प्रथमो वकारः क्रमजः। -वा० प्रा० ४।१०२ पर उवट।

७. ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः। -वा० प्रा० ४।१०३।

८. एकः शकारौ द्वौ नकारौ संयोगः। तत्र प्रथमो नकारः क्रमजः। वा०प्रा०४।१०३ पर उवट।

९. लकारौ द्वौ वकारौ संयोगः। तत्र प्रथमो वकारः क्रमजः। -वा० प्रा० ४।१०३ पर उवट।

१०. ननु रेफहकारयोः परस्यानेनैव द्वित्वसिद्धिः। किमर्थं परं तु रेफहकाराभ्याम् इति पृथग्योगकरणमिति चेत् सत्यम्। अत्र स्पर्शमात्रस्य द्वित्वमुच्यते। तत्र व्यञ्जनमात्रस्य द्विर्भावो वक्ष्यति। न पुनरुक्तिरित्यवधेयम्। अन्यथा- सूर्य्यः बाह्ववोः इत्यादौ द्वित्वं न सिध्येत्। -वा० प्रा० ४।१०३ पर अनन्त।

(४) जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय के बाद में स्थित स्पर्श वर्ण का द्वित्व हो जाता है।[१] उदाहरणार्थ– (१) मयि क्कामघरणम् (वा० ३।२७)[२] (२) औषधी ᳵप्पूर्वजाता (वा० १२।७५)[३]।

भाष्यकार उवट एवं अनन्त दोनों ने इस विधान को शुक्लयजुर्वेद की काण्व शाखा से सम्बन्धित बतलाया है, क्योंकि जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय वर्ण माध्यन्दिन शाखा में प्रयुक्त नहीं होते हैं।[४]

(५) विसर्जनीय के बाद में स्थित व्यञ्जन संयुक्त स्पर्श वर्ण द्वित्व प्राप्त करता है।[५] उदाहरणार्थ– (१) विष्णोः क्क्रमः। (वा० १२।५,)[६] (२) देव सवितः प्प्रसुव (सं० पा० ९।१)।[७]

(६) स्वर परे होने पर ह्रस्वस्वर पूर्व पदान्त ङकार एवं नकार का द्वित्व हो जाता है।[८] उदाहरणार्थ जैसे- (१) युङ्ङ्सि (वा०सं० १०।२५) (२) अश्मन्नूर्जम् (वा०सं० १७।१)।

(७) श, ष, स वर्ण जहाँ उभयतः (दोनों और) स्पर्शों से युक्त होते हैं वहाँ पूर्व वाले स्पर्श वर्ण का ही द्वित्व हो जाता है।[९] उदाहरणार्थ-सुक्ष्म्मा। (वा०सं० १।२७)।

(८) किन्हीं स्थलों पर संयोग का आदि द्वितीय एवं चतुर्थ स्पर्श वर्ण क्रमानुसार अपने वर्ग के प्रथम एवं द्वितीय वर्ण के साथ द्वित्व को प्राप्त करते है।[१०] उदाहरणार्थ– (१) आछ्यति=आच्छ्यति (सं०पा० २३।३९) (२) आजिघ्र (सं०पा० ८।४२)।

---

१. जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां च। -वा० प्रा० ४।१०४।

२. जिह्वामूलीयो द्वौ ककारौ संयोगः। तत्र प्रथमः ककारः क्रमजः। –वा०प्रा० ४।१०४ पर उवट।

३. उपध्मानीयो द्वौ पकारौ संयोगः। तत्र प्रथमः पकारः क्रमजः। –वा०प्रा० ४।१०४ पर उवट।

४. एतौ च जिह्वामूलीयोध्मानीयौ काण्वादिविषयौ। तथाहि वक्ष्यति तस्मिँ जिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्। वा० प्रा० ४।१०४ पर उवट।

५. विसर्जनीयाद् व्यञ्जनपरः। -वा० प्रा० ४।१०७।

६. विसर्जनीयः द्वौ ककारौ रेफश्च संयोगः। -वा० प्रा० ४।१०७ पर उवट

७. विसर्जनीयः द्वौ पकारौ रेफश्च संयोगः। -वा० प्रा० ४।१०७ पर उवट।

८. ङ्नौ चेद्धस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तो। -वा० प्रा० ४।१०८।

९. येस्तु परं तैर्न पूर्वम्। -वा० प्रा० ४।१०५।

१०. प्रथमैर्द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्थाः। -वा० प्रा० ४।११०।

द्वित्व के अपवाद

(१) स्वर वर्ण पूर्व में न स्थित होने पर ऊष्म एवं अन्तःस्थ वर्णों के बाद में स्थित स्पर्श व्यञ्जन का द्वित्व नहीं होता है।[१] उदाहरणार्थ— स्थालिभिः। स्थालीः (प०पा०) स्थालीभि स्थालीः (सं० पा० १९।२७)।

(२) संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व में स्थित अनुस्वार का द्वित्व नहीं होता है।[२] उदाहरणार्थ— इमंस्तनम् (वा० सं० १७।८७)।

(३) स्वर से पूर्व में स्थित संयोग का आदि वर्ण अपना सवर्ण अक्षर के बाद में होने पर द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है।[३] उदाहरणार्थ— संय्यौमि (सं० पा० १।२२)

संव्वपामि (सं० पा० १।२१)।

(४) ऋवर्ण बाद में होने पर पूर्व में स्थित संयोगादि वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[४] उदाहरणार्थ— अनिष्कृतः (वा० सं० २७।४)।

(५) ऌ वर्ण बाद में होने पर पूर्व में स्थित संयोगादि वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[५] उदाहरण— ऋद्धिः क्लृप्तम् (वा० १८।११)।

(६) यम बाद में होने पर संयोगादि वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[६] उदाहरणार्थ— सक्थ्ना (वा० सं० २३।२९)। भाष्यकार अनन्त का मत है कि कुछ लोग यहाँ रुक्मः एवं पाप्मा पदों का उदाहरण देते हैं जो कि उचित नहीं है।[७]

(७) विसर्जनीय वर्ण द्वित्व प्राप्त नहीं करता है।[८] उदाहरण (१) दिवः ककुत् (सं०पा० ३।१२ (२) याः फलिनिः (सं० पा० १२।८७)।

(८) अन्तिम वर्ण से अतिरिक्त स्वर्गीय स्पर्श वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[९] उदाहरण (१) तद्देवानाम् (वा० सं० ३३।१७), (२)

---

१. नास्वरपूर्वा ऊष्मान्तस्थाः। -वा० प्रा० ४।१०६।

२. नानुस्वारः। -वा० प्रा० ४।१११।

३. सवर्णे। -वा० प्रा० ४।११२।

४. ऋवर्णे। -वा० प्रा० ४।११३।

५. ऌवर्णे। -वा० प्रा० ४।११४।

६. यमे। -वा प्रा० ४।११५।

७. ये त्वत्र रुक्मः पाप्मा प्रभृतीन्युदाहरणानि उदाहरन्ति तेषां संयोगादिः पूर्वस्य यमश्च इत्यनेन सह विरोधः प्राप्नोति। -वा० प्रा० ४।११५।

८. विसर्जनीयः। -वा० प्रा० ४।११६।

९. स्ववर्गीये चानुत्तमे। -वा० प्रा० ४।११७।

अन्तरिक्षम्पुरीतता (सं० पा० २५।८)।

(९) अवसान में स्थित व्यञ्जन का भी द्वित्व नहीं होता है।[१] उदाहरण ऊर्क्। सनृता (प०पा०) यहाँ पर ऊर्क् पद का विराम से वर्तमान क् व्यञ्जन वर्ण द्वित्व प्राप्त नहीं करता है। किन्तु यदि यही संहितापाठ में होता है तो द्वित्व हो जाता है क्योंकि वहाँ अवसान समाप्त हो जाता है। वस्तुतः यह सूत्र विधान पद पाठ में ही लागू होता है।

यम का स्वरूप

वा०प्रा० में यम का विधान करते हुए कहा गया है कि पद के मध्य में अपञ्चम स्पर्श (अननुनासिक) वर्ण पञ्चम स्पर्श वर्ण बाद में रहने पर विच्छेद (यम) को प्राप्त करता है।[२] अभिप्राय यह है कि स्पर्शवर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ स्पर्शों के बाद पञ्चम स्पर्श वर्ण होने पर यम का प्रादुर्भाव होता है। उदाहरण रुक्क्मः (सं०पा० १२।१) यहाँ पर क्क्म में दो ककार एवं मकार का संयोग है जिसमें द्वितीय ककार एवं मकार के मध्य में यम अथवा विच्छेद का प्रादुर्भाव होता है। यम के उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि स्पर्शों के प्रथम, द्वितीय तृतीय तथा चतुर्थ वर्णों के बाद स्पर्शवर्गीय पञ्चम (अनुनासिक) वर्ण होने से दोनों (अपंचम वर्ण एवं पंचम वर्ण) के संयुक्त उच्चारण में नासिक्य (यम) ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है।[३]

यम का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार

ध्वनिविज्ञान के आधार पर यम के सिद्धान्त को सरलता से समझा जा सकता है। संस्कृत में पुरोगामी समीकरण (Progressive Assimilation) की अपेक्षा। (Regressive Assimilation) पश्चगामी समीकरण अधिक प्रभावशाली रहा है। परवर्ती ध्वनि अपनी पूर्ववर्ती ध्वनि को प्रभावित कर लेती है, फिर नासिका का थोड़ा सा तभी प्रभाव पड़ने पर ध्वनि नासिक्य हो जाती है। यहाँ पर अननुनासिक और अनुनासिक स्पर्श वर्णों के उच्चारण में दो उच्चारणावयवों का स्पर्श होता है। अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए प्राणवायु उच्चारण स्थान पर आती है और दो उच्चारणावयवों का स्पर्श होता है उसके तुरन्त बाद में अनुनासिक स्पर्श का उच्चारण करना होता है जिसके उच्चारण में दो अङ्गों का स्पर्श अन्य स्पर्श वर्णों के समान ही होता है किन्तु साथ ही साथ वायु नासिका-विवर से बाहर निकलती है। जिस समय पूर्ववर्ती अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए दो उच्चारणावयवों

१. अवसितं च। -वा० प्रा० ४।११८।

२. अन्तःपदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदम्। -वा० प्रा० ४।१६३।

३. अपञ्चमैश्चैकपदे संयुक्तं पञ्चमाक्षरम्।
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्ग पूर्वाक्षरस्य। -वा० शि० पृ० १५०।

का स्पर्श होता है उसी समय परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए दो अन्य उच्चारणावयव तैयार हो जाते हैं। इसी समय वायु का नासिका-विवर से निकलना प्रारम्भ हो जाता है। फलतः पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श भी नासिक्य हो जाता है। इस प्रकार नासिक्य बने हुए पूर्व वर्ण को ही यम कहते हैं।

यम का उच्चारण स्थान

वा०प्रा० में यम का उच्चारण स्थान बतलाते हुए यह कहा गया है कि यम वर्णों का स्थान नासिका है।[१] वा०प्रा० १।८२ में सूत्रकार ने बतलाया है कि यमों का नासिका मूलकारण है।[२] वा० प्रा० में यम वर्णों का अङ्गत्व बतलाते हुए कहा गया है कि यम अपने पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अङ्ग होता है।[३] भाष्यकार उवट एवं अनन्त के मतानुसार यम अपने पूर्ववर्ती वर्ण के साथ पूर्व स्वर का अङ्ग्ग होता है।[४]

यमों की संख्या

यमों की संख्या के विषय में वा०प्रा० में कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं है। वा० प्रा० ८।२४ में कुँ खुँ गुँ घुँ ये चार यम निदिष्ट है।[५] इस सूत्र पर भाष्य करते हुए उवट ने यम की बीस संख्या बतलाया है और कहा है यम संज्ञक वर्ण बीस हैं यह चतुर्थ अध्याय में कहा गया है।[६] यहाँ यह विचारणीय है कि यमों की चार संख्या मानने पर वा० प्रा० में विहित वर्ण समाम्नाय की पैंसठ संख्या संगत होती है। यमों की बीस संख्या मानने पर वर्णों की संख्या पैंसठ से अधिक हो जाती है।

अनुमान के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि (१) भाष्यकार उवट ने यम की बीस संख्या के निर्देश में वा० प्रा० ४।१६३ के जिस विधान की ओर संकेत किया है वह विधान अननुनासिक स्पर्श वर्णों के द्वित्व होने पर ही प्रवृत्त होता है। अननुनासिक स्पर्श वर्ण बीस है अतः संभावित द्वित्व के साथ यम भी बीस होंगे।

(२) सूत्रकार कात्यायन ने सभी वर्गों के प्रथम स्पर्शों को एक इकाई मानकर द्वितीय स्पर्शों को दूसरी इकाई मानकर तृतीय स्पर्शों की तीसरी इकाई मानकर और चतुर्थ स्पर्शों

---

१. यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके। -वा० प्रा० १।७४।

२. नासिकामूलेन यमाः। -वा० प्रा० १।८२।

३. यमश्च। -वा० प्रा० १।१०३।

४. यमः पूर्वस्याङ्ग भवति। च शब्दात् पूर्ववर्णसहितः। -वा० प्रा० १।१०३ पर उवट।

५. कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः। -वा० प्रा० ८।२४।

६. इति यमसंज्ञककावर्णा विंशतिसंख्यका भवन्तीति व्याख्यातम्। ८।८४ पर उवट।

को चौथी इकाई मानकर यमों की चार संख्या बतलायी है। इन चार यमों को प्रयत्न की दृष्टि से इस प्रकार दिखला सकते हैं।

१- अघोष अल्पप्राण यम- कं, चं, टं, तं, पं

२- अघोष महाप्राण यम- खं, छं, ठं, थं, फं

३- सघोष अल्पप्राण यम- गं, जं, डं, दं, बं

४- सघोष महाप्राण यम- घं, झं, ढं, घं, भं

भाष्यकार उवट ने भी सूत्रकार के उपर्युक्त रहस्यात्मक भाव का आदर करते हुए १।८२ की व्याख्या करते समय यमों की चार संख्या का उल्लेख किया है।[1]

यमापत्ति दोष

वा०प्रा० ४।१६४ के अनुसार ऊष्म वर्णों से स्पर्श वर्गीय पञ्चम वर्ण बाद में होने पर यम का आगम करना दोष है।[2] भाष्यकार उवट के मतानुसार वा० प्रा० ४।१०३ सूत्र द्वारा ऊष्म वर्ण से परवर्ती स्पर्शवर्णो का द्वित्व का विधान किया गया है। इस द्विरुक्ति में द्वित्व से उत्पन्न प्रथम वर्ण में यम का आगम करना दोषयुक्त होता है।[3] यथा--पृश्निः (सं० पा०२४।४) यहाँ पृश्निः इस पद का सामान्यतया उच्चारण न करके पृश्निँः यह यम सम्पृक्त उच्चारण करना दोष युक्त है। इस उच्चारण दोष के निराकरण हेतु वा० प्रा० में सूत्रकार ने यमापति दोष का विधान किया है।

स्फोटन

स्फोटन शब्द अलग करना, पृथक् करना अर्थ वाली स्फुट धातु से बना है। वा० प्रा० ४।१६५ के अनुसार स्पर्श के बाद कवर्ग हो तो विकल्प से स्फोटन होता है।[4] इसी सूत्र पर भाष्य करते हुए उवट का कथन है कि पिण्डीभूत संयोग का पृथक् उच्चारण स्फोटन है।[5] यदि परवर्ती वर्ग का स्पर्शवर्ण पदान्त में स्थित हो और कवर्ग का स्पर्श वर्ण पद के आदि में स्थित हो तो पदान्तस्थ परवर्ती वर्ग का स्पर्शवर्ण मुख द्वार से अधिक निकट होने

---

१. यमाश्चत्वारो । -वा० प्रा० १।८२ पर उवट।

२. ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः। -वा० प्रा० ४।२६४।

३. ऊष्मभ्यः परेषु पञ्चमेषु ऊष्मान्तस्थापूयश्च स्पर्शः (४।१०३) इत्यनेन सूत्रेण पञ्चमानां स्पर्शानां द्विरुक्तौ कृतायां प्रथमानां स्पर्शानां यमापत्तिः सम्भवति स चात्र दोषः। -वा० प्रा० ४।१६४ पर उवट।

४. स्फोटनं च ककारवर्गे वा स्पर्शात्। -वा० प्रा० ४।१६५।

५. स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्। -वा० प्रा०४।१६५ पर उवट।

के कारण पदादि ककार वर्गीय स्पर्श वर्ण से अधिक अच्छी तरह ध्वनित होता है। इस प्रकार पूर्ववर्ती वर्ग के पदादि स्पर्श वर्ण का उच्चारण करने से पूर्व बाद वाले वर्ग पदान्त स्पर्श में वायु वेग का आधिक्य होने से उन दोनों ध्वनियों के उच्चारण के मध्य में एक अतिरिक्त सूक्ष्म ध्वनि आ जाती है जिससे पदान्त स्पर्श का उच्चारण अधिक स्पष्ट होता है। फलस्वरूप दोनों ध्वनियों के मध्य में पृथक्करण सा आ जाता है। यह पृथक्करण ही स्फोटन कहलाता है। जैसे- वषट् कृतम् (सं० पा० ७।२६) प्रस्तुत उदाहरण में ट स्पर्श के बाद कवर्ग का प्रथम स्पर्श वर्ण है। ट स्पर्श पदान्त में स्थित है, अतः अधिक ध्वनियुक्त होकर स्पष्ट उच्चारित होता है। फलतः दोनों के मध्य ध्वन्यागम से पृथक् सा हो जाता है, जिसे स्फोटन कहा गया है।

स्वरभक्ति

संयुक्त व्यञ्जनों की स्वरभक्ति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उच्चारण वैशिष्ट्य है। वा०प्रा० में कही पर भी स्वरभक्ति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु वा०प्रा० ४।१७ में स्वरभक्ति सम्बन्धित नियम को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि, र तथा ल के बाद में ऊष्म वर्ण हो या स्वर हो तो सर्वत्र (दोनों के मध्य में क्रमशः) ऋ, ऌ (स्वरों की आंशिक ध्वनि) का आगम होता है।[1] इसी ध्वनि को स्वरभक्ति कहते हैं। स्वरभक्ति रूपी यह आगम संहितापाठ में तथा पद पाठ में सर्वत्र एक पद के मध्य में तथा भिन्न पद के मध्य में होता है। उदाहरणार्थ (१) गार्हपत्यम् रेफ् के बाद में हकार ऊष्म वर्ण है तथा हकार के पश्चात् स्वर वर्ण अकार है। अतः रेफ और हकार के मध्य में एक अतिह्रस्व ऋ सदृश श्रुति का उच्चारण किया जाता है। यही स्वरभक्ति है। उदाहरण— (२) शतवल्शः यहाँ पर लकार के पश्चात् ऊष्मवर्ण (शकार) है तथा शकार के पश्चात् स्वर वर्ण अकार है। अतः लकार और शकार के मध्य में स्वरभक्ति होती है।

अभिनिधान

वा०प्रा० में सूत्रकार कात्यायन ने अभिनिधान संज्ञा का न तो कोई विधान किया है एवं न तो कहीं पर उल्लेख ही किया है। किन्तु वा० प्रा० ४।१४४ सूत्र मे विहित उच्चारण वैशिष्ट्य के लिए भाष्यकार उवट ने अभिनिधान संज्ञा का प्रयोग किया है। इस सूत्र में विधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि एक पद में दो स्वरों के मध्य में विद्यमान दो वर्णों को श्वास का अवरोध करके एक वर्ण के समान उच्चारित करना चाहिए।[2] उदाहरण— कुक्कुटः में दो उकारों के मध्य में स्थित क्क को श्वास का अवरोध करके एक ककार

---

१. रलावृऌवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र। -वा० प्रा० ४।१७।

२. द्विवर्णमेकवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे। -वा० प्रा० ४।१४४।

के समान उच्चारित करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि जहाँ पर स्वर से परवर्ती संयोग के प्रथम व्यञ्जन के द्वित्व होने का प्रसंग हो वहाँ पर यदि संयुक्त वर्ण एक ही हो अर्थात् समान वर्णों का ही संयोग हो तो संयोग के प्रथम वर्ण का द्वित्व न होकर दोनों वर्णों का एक वर्ण के समान उच्चारण करना चाहिए।

अक्षर का स्वरूप

सामान्यतया लोक में वर्ण और अक्षर पर्यायवाची रूप से प्रसिद्ध हैं, किन्तु प्रातिशाख्यों में अक्षर शब्द का विशेष अर्थ है। अक्षर भाषा की मूल इकाई है। अक्षर का शाब्दिक अर्थ है कभी नष्ट न होने वाला। वर्तमान समय में अक्षर की अनेक परिभाषाएँ की गयी है किन्तु अक्षर की सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। सामान्यतया यह कह सकते हैं कि उच्चारण की दृष्टि से एक या अधिक वर्णों से निष्पन्न एक ऐसी इकाई अक्षर है जिसका उच्चारण वायु के एक झटके से होता है। यह इकाई अपने में पूर्ण होती है जिससे इसे किसी दूसरे का अङ्ग नहीं बनना पड़ता है।

अक्षर का आधार

स्वर-वर्ण अक्षर का अनिवार्य तत्व है। स्वर वर्ण के बिना अन्य किसी वर्ण की सहायता से स्वतः उच्चारित होता है तथा यह अन्य वर्ण का अङ्ग नहीं होता है, अतः यह अक्षर का मूलाधार होता है। व्यञ्जन वर्ण पराश्रित होते हैं इसलिए आधार नहीं बन सकते। यद्यपि वर्णों की अपनी सत्ता है तथा वे अर्थ विशेष के द्योतक भी होते है। उदाहरणार्थ- यूप और कूप इन दोनों पदों में स्वर समान है किन्तु व्यञ्जन वर्ण भिन्न-भिन्न है जिससे इनका अर्थ बदल गया है। इस प्रकार अर्थपक्ष में व्यञ्जन की प्रधानता है तथापि व्यञ्जनों का स्पष्ट उच्चारण स्वर सापेक्ष है। स्वर-वर्ण कम से कम एक मात्रा काल वाले होते हैं जबकि व्यञ्जन का उच्चारणकाल स्वर के उच्चारण काल का आधा होता है अर्थात् अर्धमात्रा। स्वर का उच्चारण अधिक स्पष्टता से और अधिक देर तक किया जा सकता है किन्तु व्यञ्जन का उच्चारण सापेक्ष और अल्पकालिक होता है। अतएव स्वर वर्ण को अक्षर का अपरिहार्य उपकरण माना गया है।

वा०प्रा० में अक्षर का विधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[१] वा० प्रा० में अक्षर के सम्बन्ध में कुछ और विधान मिलते हैं जो निम्न है।

१. आदि में स्थित व्यञ्जन के सहित स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[२]

---

१. स्वरोऽक्षरम्। -वा० प्रा० १।९९, वर्णौ वा। -वा० प्रा० ८।४०।

२. सहाद्यैर्व्यञ्जनैः। -वा० प्रा० १।१००

२. अवसान में स्थित उत्तरवर्ती व्यञ्जन के सहित स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[१] जैसे– वाक्। यहाँ पर पूर्ववर्ती वकार एवं उत्तरवर्ती ककार के सहित आकार अक्षर है।

३. वा०प्रा० १।९९ पर भाष्य करते हुए उवट ने कहा है कि व्यञ्जन सहित अथवा अनुस्वार सहित अथवा शुद्ध (व्यञ्जन एवं अनुस्वार रहित) भी स्वर वर्ण अक्षर संज्ञक होता है।[२]

वा० प्रा० के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि स्वर वर्ण ही अकेला तथा व्यञ्जन के साथ मिलकर अक्षर बनता है।[३] अकेला व्यञ्जन विना स्वर के आश्रय से अक्षर नहीं बन सकता।[४] वा० प्रा० १।१०७ में विधान करते हुए कहा गया है कि व्यञ्जन जिस स्वर वर्ण का अङ्ग होता है उस स्वर वर्ण के सदृश ही उदात्तादि स्वरधर्मों को प्राप्त करता है।[५] महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है कि ये उदात्तादि व्यञ्जन के गुण नहीं है, ये स्वर (अच्) वर्ण के गुण है, उनके (स्वर-वर्णों के) सामीप्य से व्यञ्जन भी उन गुणों को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार दो लाल वस्त्रों के मध्य में रखा हुआ श्वेत वस्त्र उनके (लालवस्त्रों) के गुणों को (लाल रंग को) ग्रहण कर लेता है अथवा जिस प्रकार घटादि पात्र दीपक के प्रकाश से उसके प्रकाश शक्ति को अपना लेता है, उसी प्रकार व्यञ्जन भी स्वर का अड्ग होने के कारण उसके उदात्तादि गुणों को ग्रहण कर लेता है।[६]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यञ्जन स्वर का अङ्ग होता है तथा स्वर ही अकेला अथवा व्यञ्जन के सहित अक्षर कहलाता है।

अक्षर के प्रायोगिक भेद

वा०प्रा० का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोग की दृष्टि से अक्षर दो प्रकार का है (१) गुरु तथा (२) लघु।

गुरु

सामान्यतः दीर्घ स्वर वर्ण गुरु संज्ञक है, किन्तु कतिपय विशेष परिस्थिति में ह्रस्व

---

१. उत्तरैश्चावसितैः। -वा० प्रा० १।१०१।
२. तथा चोक्तम् स्वरोऽक्षरम्। -वा० प्रा० १।९९ पर उवट।
३. तत्समुदायोऽक्षरम्। -वा० प्रा० ८।४०।
४. व्यञ्जनसमुदायस्तु स्वरसंहिता एवाक्षरं भवति। -वा० प्रा०८।४० पर उवट।
५. व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम्। -वा० प्रा० १।१०७।
६. नैते (अनुदात्तादयः) व्यञ्जनस्य गुणाः, अच् एते गुणाः तत्सामीप्यातु व्यञ्जनमपि तदुगुणमुपलभ्यते तद्यथा द्वयोरक्त योर्वस्त्रयोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तदुगुणमुपलभ्यते। -पा० १।२।२९ पर महाभाष्य।

स्वर-वर्ण भी गुरु होता है सामान्यतः अक्षरों की अपेक्षा जिन अक्षरों के उच्चारण में दुगुना काल लगता है, उन्हें गुरु अक्षर कहते हैं। वा० प्रा० ४।१०९ के अनुसार संयोगपूर्व व्यञ्जन में अन्त होने वाले तथा अवसान में स्थित स्वर दो मात्रा कालवाले होते हैं।[1] इसी सूत्र पर भाष्य करते हुए उवट का मत है कि यहाँ दो मात्रा काल से विधान से ह्रस्व-स्वर-वर्ण दीर्घ नहीं होता है, अपितु गुरु होता है।[2] गुरु संज्ञा का अर्थ यह है कि स्वर वर्ण ह्रस्व रहते हुए भी उच्चारण में द्विमात्रिक होता है।

लघु

वा०प्रा० में सूत्रकार कात्यायन ने तथा भाष्यकारों ने लघु संज्ञा का विधान नहीं किया है, किन्तु गुरु संज्ञा का विधान होने से उसके विपरीत लघुसंज्ञक अक्षर स्वभावतः सिद्ध हो जाते हैं। अतएव असंयोगपूर्व, व्यञ्जन में अन्त न होने वाले तथा अवसान में जो स्थित नहीं है ऐसे स्वर वर्ण लघुसंज्ञक होता है। लघु वर्ण का प्रायोगिक रूप एक मात्रिक रहता है।

अक्षर-विभाजन के नियम

वा०प्रा० में १।१०२ से १।१०६ इन पाँच सूत्रों में सूत्रकार ने अक्षर-विभाजन से सम्बन्धित नियमों का विधान किया है, जो निम्न है।

(१) संयोग का आदि (प्रथम) व्यञ्जन वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[3] अभिप्राय यह है कि यदि दो अथवा दो से अधिक व्यञ्जन वर्णों का संयोग हो तो उस संयोग का प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अङ्ग होता है। जैसे- अश्श्वः (सं० पा० २५।१) प्रस्तुत उदाहरण में दो शकार और वकार का संयोग है। इनमें संयोग का प्रथम शकार वर्ण पूर्ववर्ती अकार का अङ्ग है तथा उत्तरवर्त्ती शकार एवं वकार उत्तरवर्ती अकार का अङ्ग है।

(२) यम अपने पूर्ववर्ती वर्ण के सहित पूर्व स्वर का अङ्ग होता है।[4] उदाहरण- रुक्क्मम्। प्रस्तुत उदाहरण में दो ककार, यम एवं मकार का संयोग है। इनमें प्रथम ककार और यम पूर्ववर्ती उकार के अङ्ग है।

(३) क्रम (द्वित्व) से उत्पन्न वर्ण भी पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होते हैं।[5] जैसे— पाश्श्वर्यम्। प्रस्तुत उदाहरण में रेफ, दो शकार, वकार और यकार का संयोग है इनमें प्रथम रेफ वा०

---

१. संयोगपूर्वव्यञ्जनान्ताऽवसानगताः स्वरा द्विमात्राः। -वा० प्रा० ४।१०९।

२. स्वराः द्विमात्रा कालाः भवन्ति न तु दीर्घाः। गुरव एते भवन्ति । -वा० प्रा० ४।१०९।

३. संयोगादिः पूर्वस्य। -वा० प्रा० १।१०२।

४. यमश्च। -वा० प्रा० १।१०-३।

५. क्रमजं च। -वा० प्रा०१।१०४।

प्रा० १।१०२ के विधान के अनुसार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग है शेष वर्णों में प्रथम शकार क्रम से उत्पन्न होने के कारण क्रमज है, अतः प्रस्तुत नियम से क्रमज शकार पूर्ववर्ती स्वर आकार का अ्ड़ग है।

(४) स्पर्श वर्ण बाद में होने पर क्रमज वर्ण से परवर्ती व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अङ्ग होता है।[१] उदाहरण– पाष्ष्ण्र्या। (वा० सं० २५।४०) प्रस्तुत उदाहरण में रेफ, दो षकार, णकार एवं यकार का संयोग है। इनमें क्रमज (द्वित्व) षकार से परवर्ती द्वितीय षकार, णकार स्पर्श वर्ण वाले होने से पूर्ववर्ती स्वर आकार का अङ्ग है। अतः रेफ और दोनों षकार ये तीन वर्ण पूर्ववर्ती स्वरवर्ण आकार के अड्ग है।

(५) अवसान अर्थात् संहिता पाठ या पदपाठ के मध्यान्तादि विराम में स्थित व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[२] जैसे– वाक् (वा० सं० २४।३३) प्रस्तुत उदाहरण में अवसान में स्थित वर्ण ककार है, अतः यह पूर्ववर्ती स्वर वर्ण का अङ्ग है।

---

१. तस्माच्चोत्तरं स्पर्शः। -वा० प्रा० ४।१०५।

२. अवसितं च। -वा० प्रा० ४।१०६।

चतुर्थ अध्याय
सन्धि-प्रकरण

प्रातिशाख्यों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है— पदों से संहितापाठ का निर्माण करना। सन्धि के नियमों के आधार पर ही पदपाठ से संहितापाठ का निर्माण किया जाता है। वा०प्रा० में सन्धि नियमों का विधान करने से पूर्व सूत्रकार ने बतलाया है कि आगे कहे जाने वाले सन्धि-विषयक नियम संहिता में ही लागू होते हैं।[१] पृथक्भूत पदों के मेल से ही संहिता पाठ का निर्माण किया जाता है, अतएव पदों को संहिता-पाठ का मूलकारण माना जाता है। प्रातिशाख्यों में मुख्यतः उन्हीं नियमों का विधान किया गया है जिनकी सहायता से पदों से संहितापाठ सम्पन्न होता है। इस शास्त्र में संहिता को विकृति एवं पद को प्रकृति बतलाया गया है। अतएव षत्व एवं णत्व आदि विकार संहिता के लिए विहित किये गये हैं। प्रकृति होने के कारण पद सिद्ध हैं।

प्रकृति-विकृतिभाव विचार

संहिता और पद में कौन प्रकृति है और कौन विकृति है इस विषय पर आचार्यों ने विभिन्न मत दिया है, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

सूत्रकार एवं भाष्यकारों ने वा०प्रा० में प्रकृति-विकृति भाव का विचार नहीं किया है। निरुक्तकार यास्क के मतानुसार-संहिता पद-प्रकृति है। समस्त प्रातिशाख्य ग्रन्थ पदों को संहिता की प्रकृति मानते हैं।[२] दुर्गाचार्य ने पदप्रकृति संहिता के दो व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं। प्रथम व्याख्या में तत्पुरुष समास के द्वारा पदप्रकृतिः शब्द का विवेचन करते हुए कहा गया है कि संहिता पदों की प्रकृति है। द्वितीय व्याख्या में बहुब्रीहि समास के द्वारा पदप्रकृतिः शब्द का विवेचन किया गया है, जिसका भाव है पद है प्रकृति जिसकी ऐसी संहिता। उपर्युक्त दोनों मतों को प्रस्तुत करने के अनन्तर दुर्गाचार्य ने प्रथम मत को समीचीन बतलाया है अर्थात् उन्होंने संहिता का प्रकृतित्व एवं पद का विकृतित्व माना है एवं निम्न हेतु बतलाया हैं।

(१) मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को मन्त्र संहिता के रूप में प्राप्त हुए हैं, पदों के रूप में नहीं।

---

१. संहितायाम् ।- वा० प्रा० ३।१

२. पदप्रकृतिः संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। -नि० १।१७

(२) श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग पहले संहिता को ही पढ़ाते हैं एवं अध्येता संहिता को ही पहले पढ़ते हैं, पद को नहीं।

(३) यज्ञ-कर्म में मन्त्र संहिता के रूप से ही विनियुक्त होते हैं, पद के रूप से नहीं।[१] वाक्पदीय आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी इस विषय में इसी प्रकार से विचार प्रस्तुत किया गया.है। वाक्पदीय में कहा गया है कि पदों की प्रकृति संहिता है अथवा संहिता पद के आश्रित हैं। इसलिए संहिता की प्रकृति पद है।[२]

आधुनिक विद्वानों ने भी इस विषय पर दृष्टिपात किया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों के आधार पर पद को प्रकृति मानकर पदपाठ प्राचीन है और परवर्ती काल में पदपाठ के आधार पर संहितापठ की रचना हुई है यह कल्पना की है।

संहिता का अर्थ मेल है यह भी कहा जाता है। मेल के लिए दो वस्तुओं का होना अनिवार्य है। जब पद ही नहीं होंगे तब मेल किसका होगा? इसलिए संहिता से पहले पदों का होना आवश्यक ही है। काव्य का सृजन करने में भी कवि के समक्ष प्रथमतः पद होते हैं, उनको वह रमणीयता से लोकोत्तर रूप में मिलकर रखता है, और इस प्रकार पदों का यह सङ्कलन काव्य हो जाता है। पदों के मेल होने पर उनके मौलिक रूप में अनेक प्रकार के विकार सानिध्य के कारण आते हैं। इस प्रकार काव्य को हम पदों का विकृत रूप कह सकते हैं। यही बात संहिता रूप काव्य के विषय में कही जा सकती है। अर्थात् संहिता रूप काव्य पदों का ही विकृत रूप है। इसी कारण प्रायः सभी प्रातिशाख्यों में संहिता पाठ को विकृति एवं पदपाठ को प्रकृति माना गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में विषय प्रतिपादन की सुविधा की दृष्टि से पदपाठ के प्रकृतित्व की कल्पना की गयी है। संहिता पाठ को वास्तविक

---

१. पदानां या प्रकृतिः सेयं पदप्रकृतिः। कि कारणम्? संहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते तस्मात्संहितेक प्रकृतिर्विकारः पदानीत्येवमेके मन्यन्ते। अपरे पुनः पदप्रकृतिः संहितेति पदानि प्रकृतिर्यस्याः सेयं पदप्रकृतिरिति। किं कारणयम्? पदान्येव हि संहन्यमानानि संहिता भवति। तस्मात् पदान्येव हि प्रकृतिर्विकारः संहितेति। आह। किं पुनरत्र साधीयः पदानां प्रकृतित्वं संहिताया विकारत्वमुत वा विकारत्वं पदानां प्रकृतित्वं संहिताया इति? उच्यते संहितायाः प्रकृतित्वं ज्यायः। आह। किं कारणम्? उच्यते। मन्त्रौ ह्यभिव्यज्यमानः पूर्वमृर्षमन्त्रदृशः संहितयेवाभि-व्यज्यते न पदैः। अतश्च संहितामेव पूर्वमध्यापयन्त्यनूचाना ब्राह्मणा अधीयते चाध्येतारः। अपि च यज्ञकर्माणि संहितयैव विनियुज्यन्ते मन्त्राः न पदे। यदि हि पदानि प्रकृतिरभविष्यन्न संहिता पदैरेव मन्त्रोऽभिव्यज्यते पदानि च पूर्वमध्यापयिष्यन्ब्राह्मणा अध्यैष्यन्त चाध्येतारः पदैरेव विन्ययोक्ष्यन्त मन्त्राः कर्मसु। न त्वेतत्सर्वमस्ति। तस्मादेतैर्विशेषहेतुभिः संहितैव प्रकृतिर्न पदानीति पश्यामः। -नि० १।१७ पर दुर्गाचार्य।

१. पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया। -वा० प्रा० २।५९-६०।

तथा पदपाठ को व्यावहारिक आधार के रूप से मानना युक्ति संगत तथा वैज्ञानिक है। अतः प्रातिशाख्यों में पदपाठ को प्रकृति तथा संहितापाठ को विकृत मानने का यह अर्थ लगाना उचित नहीं है कि प्रातिशाख्य पदपाठ को प्राचीन तथा संहितापाठ को अर्वाचीन मानते हैं।

संहिता का लक्षण

वा०प्रा० में संहिता का लक्षण देते हुए कहा गया है कि वर्णों के एक श्वास में उच्चारण को संहिता कहते हैं।[१] अर्थात् पृथग्भूत वर्णों तथा पदों के मिलने से जो संयुक्त रूप निष्पन्न होता है वह संहिता है। वा० प्रा० १।१५८ पर भाष्य करते हुए उवट ने इसे प्राण संहिता कहा है।[२]

संधि और संस्कार

वा०प्रा० में सन्धि और संस्कार दोनों शब्दों का उल्लेख किया गया है। भाष्यकार उवट के मतानुसार संस्कार-लोप, आगम, वर्ण विकार और प्रकृति भाव रूप है।[३] या० शि० में इसी को सन्धि के रूप से बतलाते हुए कहा गया है कि सन्धि चार प्रकार की होती है, लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव।[४] परिणामस्वरूप सन्धि और संस्कार ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से उत्पन्न होता है तथा सन्धि शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक धा धातु से निष्पन्न है। दोनों शब्दों का सामान्यतया अर्थ है संयोग अथवा मेल। प्रातिशाख्यों में वर्णों के पास-पास आ जाने मात्र को ही सन्धि या संस्कार कहते हैं चाहे उनमें विकार हो चाहे विकार न हो किन्तु लौकिक संस्कृत में ऐसी भी स्थिति नहीं है। लौकिक संस्कृत में सन्धि शब्द का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ वर्णों के पास-पास आ जाने से कुछ विकार हो जाता है। जहाँ वर्णों के पास आ जाने से भी विकार नहीं होता है वहाँ सन्धि का अभाव माना जाता है। यह परवर्त्तीकाल में अर्थ-संकोच का प्रभाव है।

सन्धि के प्रकार

वा०प्रा० ३।३ में विधान करते हुए कहा गया है कि सामान्यतः पदान्त और पदादि

---

१. वर्णनामेकप्राणयोगः संहिता। -वा० प्रा० १।१५८।

२. वर्णानामेकोछ्वासोच्चारणयोगः पदे वा वाक्ये विश्रामः सा च प्राण संहिता। -वा० प्रा० १।१५८ पर उवट।

३. संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः। -वा प्रा० १।१ पर उवट।

४. सन्धिश्चतुर्विधो भवति-लोपागमविकाराः प्रकृतिभावश्चेति। -(या० शि० पृ० ८१)।

में सन्धि होती है। संहितागत कतिपय विशेष स्थलों के लिए सूत्रकार ने अन्तःपद में भी सन्धि के विधान बतलाये हैं। वा० प्रा० ३।३ के भाष्य में उवट ने चार प्रकार की सन्धियाँ बतलायी हैं– (१) स्वर सन्धि (२) व्यञ्जन सन्धि (३) स्वर-व्यञ्जन सन्धि (४) व्यञ्जन-स्वर सन्धि।

(१) स्वर-सन्धि

पद के अन्त तथा पद के आदि में आने वाले स्वर वर्णों के मेल को स्वर सन्धि कहते हैं। अर्थात् पूर्वपदान्त और उत्तर पदादि में स्थित दो स्वरों में विकार होना अथवा प्रकृतिभाव से रहना स्वर सन्धि है। पाणिनीय व्याकरण में इस अच्-सन्धि कहते हैं। यथा– आ। इदम् (प०पा०) एदम् (सं०पा० ४।१)। अध्वर्यो। अद्रिभिः (प०पा०) अध्वर्यो अद्रिभिः (सं०पा०२०।२५)।

(२) व्यञ्जन-सन्धि

पदान्त तथा पदादि में आने वाले व्यञ्जन वर्णों के मेल को व्यञ्जन सन्धि कहते हैं। अर्थात् पूर्व पदान्त तथा उत्तर पदादि में स्थित दो व्यञ्जन वर्णों में विकार होना अथवा प्रकृतिभाव से रहना व्यञ्जन सन्धि है। इसे पाणिनीय व्याकरण में हल् सन्धि कहते हैं। जैसे– सम्। यौमि (प०पा०) संय्यौमि (सं०पा० १।२२)। सम्। वपामि (प०पा०) संव्वपामि (सं०पा० १।२२)। वः। सविता (प०पा०) वाः सविता (सं०पा० १।१)।

(३) स्वर-व्यञ्जन सन्धि

पदान्त में स्वर तथा पदादि में व्यञ्जन होने पर दोनों के मेल को स्वर व्यञ्जन-सन्धि कहते हैं। अर्थात् पूर्व पदान्त में स्थित स्वर वर्ण और उत्तर पदादि में स्थित व्यञ्जन वर्ण में विकार होना अथवा प्रकृति भाव से रहना स्वर-व्यञ्जन सन्धि है। यथा- इषे। त्वा (प० पा०) इषे त्वा (सं० पा० १।१) यस्य। छाया (प०पा०) यस्य छाया (सं० पा० २५।१३)

(४) व्यञ्जन-स्वर सन्धि

पदान्त में व्यञ्जन तथा पदादि में स्वर होने पर दोनों के मेल को व्यञ्जन-स्वर-सन्धि कहते हैं। अर्थात् पूर्व पदान्त में स्थित व्यञ्जन वर्ण और उत्तर पदादि में स्थित स्वर वर्ण में विकार होना अथवा प्रकृतिभाव से रहना व्यञ्जन स्वर सन्धि है। यथा– उत्। एनम् (प०पा०) उदेनम् (सं०पा० १७।५०)।

सन्धि-विषयक परिभाषा

सन्धियों को अच्छी प्रकार से समझने के लिए सूत्रकार ने परिभाषा सूत्रों की रचना की है जिनकी सहायता से सन्धि के नियमों को आसानी से समझा जा सकता है। सन्धियों

के सम्यक् अवबोध के लिए इन सूत्रों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(१) वा०प्रा० ३।३ में विधान करते हुए कहा गया है कि पदान्त और पदादि में सन्धि होती है।[१] जैसे– आ। इदम् (प०पा०) एदम् (सं०पा० ४।१) यहाँ पर पूर्व पद के अन्त में आ है और उत्तर पद के आदि में इ है। इन दोनों में सन्धि होकर एदम् रूप सिद्ध होता है।

(२) वा०प्रा० ३।४ में विधान करते हुए कहा गया है कि परकाल की सन्धि के बाद पुनः पूर्वकाल की सन्धि प्राप्त होने पर परकाल की सन्धि नहीं रहती अर्थात् असिद्ध हो जाती है।[२]

(३) वा०प्रा० ३।५ में विधान करते हुए कहा गया है कि सन्धि-विधानों में 'हि' शब्द के द्वारा काल का निर्धारण किया जाता है।[३] तात्पर्य यह है कि सन्धि विधानों में पूर्वकाल सन्धि एवं परकाल सन्धि का विभाग 'हि' शब्द के द्वारा वा० प्रा० में किया गया है। परिणाम स्वरूप 'हि' सूत्र के पूर्ववर्ती सन्धि-विधान पूर्वकाल के एवं 'हि' सूत्र के परवर्ती सन्धि-विधान परकाल के हैं।

पदान्तीय वर्ण

सन्धि का मुख्य रूप से पद से सम्बन्ध होने के कारण प्रातिशाख्यकार कात्यायन ने वा०प्रा० में संज्ञा-परिभाषा प्रकरण में पदान्तीय वर्णों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने यद्यपि साक्षात् वैसा प्रयत्न नहीं किया है तथापि उनकी प्रवृत्ति से जो मालूम होता है वह अधोलिखित है–

(१) वा०प्रा० १।८५ में विधान करते हुए कहा गया है कि चकार एवं ञकार को छोड़कर स्पर्शवर्ग के सभी प्रथम एवं उत्तम (पञ्चम) वर्ण पदान्तीय होते हैं।[४] अर्थात् क, ट, त, प एवं ङ, ञ, न, म ये आठ वर्ण पदों के अन्त में आते हैं। पाणिनि झलां जशोऽन्ते ८।२।३९ इस सूत्र से पदान्त में साधारणतया वर्गों के तृतीय (ग, ज, ड, द, ब) वर्णों का विधान करते हैं और अवसान में (वाऽवसाने अ० ८।४।५६) विकल्प से प्रथम वर्णों को पदान्तीय मानते हैं।

(२) वा०प्रा० १।८६ में विधान करते हुए कहा गया है कि विसर्जनीय वर्ण पदान्तीय

---

१. पदान्तपदाद्योः सन्धिः। -वा० प्रा० ३।३।

२. न परकालः पूर्वःकाले पुनः। -वा० प्रा० ३।४।

३. ह्यन्तराः कालाः। -वा० प्रा० ३।५।

४. प्रथमोत्तमाः पदान्तीया अच्ञौ। -वा० प्रा० १।८५।

होता है।[1] अभिप्राय यह है कि अयोगवाह वर्ण विभाग के अन्तर्गत आने वाले वर्णों में केवल विसर्जनीय ही पदान्तीय होता है। पाणिनीय मत में विसर्जनीय मौलिक वर्ण नहीं है। इसीलिए वर्ण-समाम्नाय में इसका समावेश नहीं किया है। पाणिनीय-प्रक्रिया में रेफ और सकार पदान्तीय है। पदान्तीय सकार ससजुषोरुः (पा० ८।२।६६) से रेफ होता है एवं रेफ खरवसानयोर्विसर्जनीयः (पा० ८।३।१५) से विसर्जनीय हो जाता है।

(३) वा०प्रा० १।८७ में विधान करते हुए कहा गया है कि ऌकार को छोड़कर शेष सभी वर्ण पदान्तीय होते हैं।[2] अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ ये बारह स्वर वर्ण पदों के अन्त में आते हैं। पाणिनीय प्रक्रिया में भी पदों को पदान्तीय स्वीकार किया गया है।

सूत्रकार कात्यायन ने उपर्युक्त नियमों के अनन्तर णकार एवं ऋकार के लिए वा०प्रा० में विशेष विधान किया है। वा० प्रा० १।८८ में विधान करते हुए कहा गया है कि णकार और ऋकार अवग्रह अर्थात् समस्त पद के पूर्वपद में ही पद के अन्त में आते हैं।[3] सामान्यतः णकार एवं ऋकार पदान्तीय नहीं होते हैं। वा० प्रा० में पदों के आदि में आने वाले वर्णों का विधान नहीं है।

वा०प्रा० में विहित पदों के अन्त में आने वाले वर्ण तथा पदों के अन्त में न आने वाले वर्णों को अधोलिखित रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

वर्ण	पदों के अन्त में आने वाले वर्ण	पदों के अन्त में न आने वाले वर्ण
स्वर	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ (केवल अवग्रह में) ऐ, ओ, औ।	ऌ
स्पर्श	क, ट, त, प, ङ, ण (केवल अवग्रह में) न, म	ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ञ, ठ, ड, थ, द, ध, फ, ब, भ,
अन्तःस्था		य, र, ल, व

१. विसर्जनीयः। -वा० प्रा० १।८६।

२. स्वराश्च ऌकारवर्जम्। -वा० प्रा० १।८७।

३. णकारर्कारावग्रहे। -वा० प्रा० १।८८।

ऊष्म		श, ष, स, ह
अयोगवाह	विसर्जनीय (:)	ᳵक, ᳵप, अनुस्वार (अं) नासिक्य (हुँ) यम (कुँ, खुँ, गुँ, घुँ)।

वा०प्रा० में भाष्य करते हुए भाष्यकार उवट एवं अनन्त ने सन्धियों का क्रम लोप, आगम, वर्ण-विकार और प्रकृति भाव निर्धारित किया है। पाणिनीय व्याकरण में अच्, हल्, एवं विसर्ग सन्धि का विधान किया गया है।

लोप-सन्धि

लुप्त होना अर्थ वाली लुप् धातु से लोप शब्द निष्पन्न होता है। वा०प्रा० १।१४१ के अनुसार लोप शब्द का अर्थ वर्ण का अदर्शन है।[१] भाष्यकार उवट के मतानुसार वर्ण की अनुपलब्धि लोप है।[२] अर्थात् सन्धि-विधान के द्वारा किसी वर्ण की अनुपलब्धि को लोप कहते हैं। निरुक्त २।१ में लोप शब्द का प्रयोग अदर्शन के अर्थ में किया गया है।[३] वा०प्रा० में विहित लोप के विधान अधोलिखित है।

(१) पदान्त नि शब्द बहुलरूप[५] से लोप प्राप्त करता है।[६] उदाहरणार्थ– (१) प्रवृत्ति– शृङ्गाणि शृङ्गा (प०पा०) चत्वारि– शृङ्गा (सं०पा० १७।९१) प्रस्तुत उदाहरण में शृङ्गाणि पद प्राप्त था किन्तु लोप की प्रवृत्ति होने के कारण शृङ्गा पद प्रयुक्त हुआ है।

(२) अप्रवृत्ति- नामानि अध्न्ये। नामानि (प०पा०) अध्न्ये नामानि (सं०पा० ८।४३) बाहुलक लोप होने के कारण यहाँ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई है।

(३) अन्यथाप्रवृत्ति-निष्कर्त्ताम् इष्कर्त्तारम् (प०पा) इष्कर्त्तारम् (सं०पा० १२।११०)

---

१. वर्णस्यादर्शनं लोपः। -वा० प्रा० १।१४१।

२. दृशिधातुरुपलब्धिवचनः। अनुपलब्धिरदर्शनं वर्णस्य लोप इत्युच्यते। -वा० प्रा० १।१४१ पर उवट।

३. अथाप्यन्तलोपो भवति। गत्वा, गतमिति। -नि० २।१

४. लुङ्मुदिजित्परे। -वा० प्रा० ३।१३।.

५. बहुलक का अर्थ है विभिन्न प्रकार से होने वाला। सूत्रविहित विधान जब विभिन्न रूप में होते हैं अर्थात् कहीं लागू हो जाते हैं, कहीं लागू ही नहीं होते, कहीं आंशिक रूप से लागू होते है, कहीं विकल्प से लागू होते हैं तो उन्हें बाहुलक शब्द से कहा जाता है।

६. निशब्दो बहुलम्। -वा० प्रा० ३।१८।

यहाँ सूत्र की अन्यथा प्रवृत्ति होने के कारण नि का लोप न होकर केवल पदादि न का लोप हुआ है।

१. वेद में विकल्प नहीं होता है, अतः विकल्प से लोप होने का उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है।

२. नपुंसक लिङ्ग शब्द के नकार से सम्बन्धित इकार का लोप हो जाता है।[१] उदाहरण एमनि एमन् (प०पा०, सं०पा० १३।५३) भस्मनि मस्मन् (प०पा०, सं०पा० १३।५३)।

भाष्यकार अनन्त का मत है कि नपुंसकलिङ्ग का यह दृढ़ विशेषण नहीं है अतएव नपुंसक लिङ्ग से अन्यत्र भी इकार का लोप होता है।[२] जैसे अशमनि अश्मन् (प०पा०) अश्मन्नूर्जम् (सं० पा० १७।१)।

(३) वा०प्रा० ४।४१ के अनुसार जास्पत्य पद में यकार और आकार का लोप हो जाता है।[३] उदाहरण— जायास्पत्यम् जास्पत्यम्। जाः—पत्यमितिजाः पत्यम् (प०पा०) सज्ञास्पत्यम् (सं० पा० ३३।१२)।

यहाँ पद का मूल स्वरूप जायास्पत्यम् है। इस मूल रूप में प्रस्तुत विधान के अनुसार यकार एवं आकार का लोप होकर जास्पत्य पद बनता है।[४]

४. वा०प्रा० ४।४२ के अनुसार मांस्पचनी शब्द में अकार का लोप हो जाता है।[५] उदाहरण— मांस्पचन्याः (प०पा०) मांस्पचन्याः (सं०पा० २५।३६)।

यहाँ मूल रूप मांसपचन्याः है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार अकार लोप हो जाने पर मांस्पचन्याः रूप बनता है।

५. वा०प्रा० ४।९९ के अनुसार उत् उपसर्ग के बाद में स्थित स्तभान पद का सकार लुप्त हो जाता है।[६] उदाहरणार्थ— उत्। स्तभान्। (प०पा०) दिवमुत्तभान (सं०

---

१. नपुंसकादिकारस्य। -वा० प्रा० ३।१३८।
२. अत्र नपुंसकादिति सम्भवाभिप्रायेण। तेन पुल्लिङ्गेऽपि भवति। यथा अश्मन्नूर्जम् इत्यादि। —वा०प्रा० ३।१३८ पर अनन्त।
३. याकारारयोर्जास्यपत्ये पदे। -वा० प्रा० ४।४१।
४. जायास्पत्यमिति प्राप्त यकाराकारयोर्लोपे कृते जास्पत्यमिति सं भवति। -वा० प्रा० ४।४१ पर उवट।
५. अलोपो मांस्पचन्याः। -वा० प्रा० ४।४२।
६. उदस्तभाने लोपम्। -वा० प्रा० ४।९९।

सं०पा० १७।७२)।

६. वा०प्रा० ४।१२७ के अनुसार दो स्वर वर्णों के मध्य में वर्तमान पदान्तीय[१] यकार वकार का लोप हो जाता है।[२] उदाहरणार्थ— महान्। इन्द्रः (प० पा०) महाँ य् इन्द्रः (वा०प्रा० ३।१४२ द्वारा) महाँ इन्द्रः (सं०पा० ७।३९)। तौ। उभौ (प०पा०) ता व् उभौ ता उभौ (सं०पा० २३।२०)।

७. वा०प्रा० ४।१३० के अनुसार प्रउगम् पद में यकार का लोप होता है।[३] उदाहरण— -प्रयुगम् प्रउगम् (प०पा०, सं०पा० १५।११)।[४]

अपवाद (१) वा०प्रा० ३।१३९ के अनुसार सप्तमी एवं आमन्त्रित विभक्ति में स्थित नकारेतर इकार का लोप नहीं होता है।[५] उदाहरण— सधिषि (प०पा०) अपान्त्वा सधिषि (सं०पा० १३।५३), पृथिवि (प०पा०) पृथिवि देवयजनि (सं०पा० १।२५)।

(२) वा०प्रा० ४।१२८ में विधान किया गया है कि कतिपय आचार्यों के मतानुसार असवर्ण स्वर बाद में होने पर पूर्ववर्ती पदान्तीय वकार का लोप नहीं होता है।[६] उदाहरण— विष्णो इति विष्णो। एते (प०पा०) विष्णवेते (सं०पा० ५।१६)।

(३) वा०प्रा० ४।१२९ में विधान किया गया है कि आचार्य शाकटायन के मत में असमानस्थानीय स्वर वर्ण बाद में होने पर पूर्व में स्थित असौ पद का वकार लुप्त नहीं होता है।[७] उदाहरण नसौ। एहि। (प० पा०) असावेहि (सं० पा० ३८।२)।

---

१. वा०प्रा० में यकार वकार की पदान्तीय वर्णों में गणना नहीं हुई है। अतः पदान्तीय का अर्थ पदान्त में संस्कार विधान से प्राप्त य्, व् समझना चाहिए। इस प्रकार के तीन विभाग वा०प्रा० में मिलते हैं (१) नकार को प्राप्त यकार (२) विसर्जनीय को प्राप्त यकार (३) सन्ध्यक्षरों को प्राप्त अय्, अव्, आय्, आव् आदेश। इन्हीं नियमों से आगत पदान्तीय य्, व् का लोप विहित।

२. यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः। -वा० प्रा० ४।१२७।

३. प्रउगमिति यकारलोपः। -वा० प्रा० ४।१३०।

४. भाष्यकारों के प्रयुज्यत इति प्रयुगम् इस व्युत्पति के अनुसार प्रयुगम् पद में युज् धातु का यकार इसी विधान से लुप्त होता है। यकार लुप्त हो जाने पर काल विधान सामर्थ्य से स्वर सन्धि (प्र उ प्रो) नहीं होती है।

५. न सप्तम्यामन्त्रितयोः। -वा० प्रा० ३।१३९।

६. न वकारस्यासस्थान एकेषाम्। -वा० प्रा० ४।१२८।

७. असौ च शाकटायनः। -वा० प्रा० ४।१२९।

भाष्यकार उवट के अनुसार कतिपय आचार्य इस सूत्र का वा० प्रा० में पाठ करते हैं वह उचित नहीं है क्योंकि ४।१२८ के अनुसार ही कार्य सिद्ध हो जाता है।[1] भाष्यकार अनन्त के अनुसार शाकटायन का यह मत काण्वशाखा से सम्बन्धित है। काण्वशाखा में वा० प्रा० ४।१२७ के अनुसार सर्वत्र वकार का लोप होता है, किन्तु असौ पद के विकारी वकार का लोप नहीं होता है। इसके अतिरिक्त अनन्त ने यह भी कहा है कि इस सूत्र में अनथों शब्द का भी पाठ किया जाता है।[2] तदनुसार असौ पद का विकारी वकार अथो शब्द बाद में होने पर लोप प्राप्त करता है, यह अर्थ भी होता है। उदाहरण -असौ। अथो असा अथौ (का० स० पा०)

आगम

आ उपसर्ग पूर्वक गम् धातु से आगम शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है अतिरिक्त वर्ण का आ जाना। आगम सन्धि स्थल में बिना कोई परिवर्तन किये होता है। आगम मित्रवत् होता है– ऐसा वैयाकरणों का कथन है। भाष्यकारों ने वा०प्रा० में आगम को व्यवधान कहा है।[3] अतः आगम को व्यवधान भी कह सकते हैं, क्योंकि दो पदों या वर्णों के मध्य में आया हुआ वर्ण पूर्ववर्ती एवं परवर्ती वर्णों के बीच व्यवधान का कार्य करता है। वा०प्रा० में संहिता एवं पदपाठ इन दोनों के आगमों का विधान है। यहाँ संहिता पाठ के आगम विधानों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

(१) ऋ, ऌ, सदृश श्रुति का आगम

स्वर-युक्त ऊष्म वर्ण (श, ष, स, ह) बाद में होने पर पूर्ववर्ती रेफ और लकार क्रमशः ऋ, ऌ सदृश श्रुति का आगम प्राप्त करते हैं। यह आगम संहिता एवं पद सर्वत्र होता है।[4] उदाहरण– अर्श। सः (प०पा०) अर्शः स (सं०पा० १२।९७) शतवल्श इति (प०पा०) शतवल्शा (सं०पा० ५।४३)। वनर्षदः (प०पा०) वनर्षदः (सं०पा० ३३।१)। गार्हपत्य इति (प०पा०) गार्हपत्यः (सं०पा० ३।३९)।

---

१. एके एतत्सूत्रं पठन्ति सोऽपपाठः पूर्वेणेव सिद्धत्वात्। -वा० प्रा० ४।१२९ पर उवट।

२. अत्र अनथो इति शेषं पूरयन्ति अथो शब्दं वर्जयित्वेत्यर्थः। तेन सुप्रजास्त्वाय चासा अथो जीव। -वा० प्रा० ४।१२९ पर अनन्त।

३. प्रगृह्यसंज्ञकं यत्पदं तच्चर्चायां परभूतायामितिना आगमिकेन व्यवधीयते। -वा० प्रा० ४।१८ पर उवट।

४. रत्नावृऌवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र। -वा० प्रा० ४।१७।

(२) ककार एवं तकार का आगम

वा०प्रा० ४।१५ के अनुसार सकार बाद में होने पर (पूर्ववर्ती) ङकार और नकार के मध्य में क्रमशः ककार एवं तकार का आगम होता है।[१] यथा— प्राङ्। सोमः (प०पा०) प्राङ्त्क्सोमः (सं०पा० १९।३) त्रीन्। समुद्रान् (प०पा०) त्रीन्त्समुद्रान (सं०पा० १३।३१) परन्तु वा०प्रा० ४।१६ के अनुसार आचार्य दालभ्य के मत में ये उपर्युक्त आगम नहीं होता।[२] इस प्रकार यहाँ विकल्प है। उदाहरण— प्राङ्। सोमः (प०पा०) प्राङ्सोमः (सं०पा० १९।३) त्रीन्। समुद्रान् (प०पा०) त्रीन्समुद्रान् (सं०पा० १३।३१)।

चकार का आगम

वा०प्रा० ४।२५ के अनुसार स्वर पूर्व में होने पर तथा छकार बाद में होने पर दोनों के मध्य में सर्वत्र (संहिता, पद, क्रम आदि पाठों में) चकार का आगम होता है।[३] उदाहरण अ छ अच्छ (प०पा०) अच्छा वदामसि (सं०पा० १६।४)।

रेफ का आगम

वा०प्रा० ३।४९ के अनुसार वेट् शब्द पूर्व में नहीं है ऐसे वन इस पूर्व पद और सद उत्तर पद के मध्य में रेफ का आगम होता है।[४] उदाहरण— वनसदः इति वनसदः (प०पा०) वनर्षदः (सं०पा० ३३।१)। पाश्चात्य विद्वान् यहाँ पर मौलिक रेफ मानते हैं।[५]

शकार का आगम

वा०प्रा० ३।५४ के अनुसार सु शब्द पूर्व में रहे तथा चन्द्र शब्द बाद में रहे, तो दोनों के मध्य में शकार का आगम होता है।[६] उदाहरण— सुचन्द्रे तिसु चन्द्र (प०पा०) सुश्चन्द्र (सं०पा० १५।४३)।

षकार का आगम

वा०प्रा० ३।५३ के अनुसार परि शब्द पूर्व में हो तथा कृत शब्द बाद में हो, तो

---

१. ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे। -वा० प्रा० ४।१५।
२. न दालभ्यस्य। -वा० प्रा० ४।१६।
३. स्वरश्छकारे चकारेण सर्वत्र। -वा० प्रा० ४।२५।
४. वन सदेऽवटो रेफेण। -वा० प्रा० ३।४९।
५. द्र० वैदिक व्याकरण (डॉ० राम गोपाल) पृ० १६८, १६९ टि० ९९।
६. चन्द्रे सु शकारेण। -वा० प्रा० ३।५४।

दोनों के मध्य में षकार का आगम होता है।[१] उदाहरण— परिकृताऽइतिपरि-कृता (प० पा०) परिष्कृताः (सं०पा० २१।४२)।[२]

सकार का आगम

(१) वा०प्रा० ३।५० के अनुसार वन शब्द पूर्व में होने तथा पति शब्द बाद में होने पर दोनों के मध्य में सकार का आगम होता है।[३] उदाहरण— वनस्पतिः (प०पा०) वनस्पतिः (सं०पा० २९।३५)।

(२) वा०प्रा० ३।५१ के अनुसार ऋत शब्द पूर्व में हो तथा पति शब्द बाद में होने पर एवं अवर शब्द पूर्व में तथा पर शब्द बाद में होने पर सकार का आगम होता है।[४] उदाहरण— ऋतपतऽइत्यृत-पते (प०पा०) ऋतस्पते (सं०पा० २७।३४)। अवरपराये-त्यवर-पराय (प०पा०) अवरस्पराय (सं०पा० ३०।१९)। यहाँ पर पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् (पा० ६।१।१५४) इस सूत्र से सुट् (स्) का आगम होता है।

(३) वा० प्रा० ३।५२ के अनुसार तत् और बृहत् शब्द पूर्व में होने पर तथा क्रमशः कर और पति शब्द बाद में होने पर मध्य में सकार का आगम होता है, एवं पूर्व पद के तकार का लोप भी होता है।[५] उदाहरण— तत्। करान् (प० पा०) तस्करान् (सं०पा० ११।७८) बृहत्। पतिः (प० पा०) बृहस्पतिः (सं० पा० २५।१९) यहाँ पर पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम् (पा० ६।१।१५४) इस सूत्र से सुट् (स्) का आगम होता है।

अपवाद

(१) आचार्य दालभ्य के मत में सकार शब्द बाद में होने पर और ङ्, न वर्ण पूर्ववर्ती होने पर दोनों के मध्य में ककार और तकार का आगम नहीं होता है।[६] उदाहरण— प्राङ्। सोमः (प०पा०) प्राङ्सोमः। त्रीन्। समुद्रान् (प०पा०) = त्रीन्समुद्रान् (सं०पा० १३।१)।

(२) वा० प्रा० ४।२६ के अनुसार छकार बाद में होने पर तथा पूर्ववर्ती यस्य, अतिहाय और सह पद होने पर चकार का आगम नहीं होता है।[७] उदाहरण— यस्य। छाया (प०पा०)

---

१. परि कृते षकारेण। -वा० प्रा० ३।५३।

२. सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे। -पा० ६।१।१३४।

३. पत्यौ च सकारेण। -वा० प्रा० ३।५०।

४. ऋतावरौ च पतिपरयोः। -वा० प्रा० ३।५१।

५. तद्बृहतौ करपत्योस्तलोपश्च। -वा० प्रा० ३।५२।

६. न दालभ्यस्य। -वा० प्रा० ४।१६।

७. यस्यातिहायसहेति न। -वा० प्रा० ४।२६।

यस्य छाया (सं०पा० २५।१३) अतिहाय। छिद्रा (प०पा०)=अतिहाय छिद्रा=(सं०पा० २५।४३) सह। छन्दसः (प०पा०)=सह छन्दसः (सं०पा० ३४।४९)।

वर्ण-विकार

वर्ण विकार, सन्धि का एक उपयोगी अंश है। पदों के अन्त एवं पदों के आदि अथवा पदों के बीच में स्थित स्वर या व्यञ्जन में विकार होने को वर्ण-विकार कहते हैं। यहाँ पर सर्वप्रथम स्वर वर्णों के विकार को प्रस्तुत किया जाता है–

स्वर वर्णों के विकार

वा०प्रा० में स्वरों के सम्बन्ध में निम्न प्रकार के विधान मिलते हैं– (१) एकीभाव (२) अन्तःस्थीभाव (३) अयादिभाव (४) अभिनिधान भाव (५) ह्रस्वभाव (६) छान्दस् दीर्घभाव।

एकीभाव

पदान्तीय स्वर वर्ण एवं पदादि-स्वर वर्ण के स्थान पर एक स्वर-वर्ण हो जाने को एकीभाव या एकादेश कहते हैं। वा० प्रा० ४।५१ के अनुसार पूर्व एव उत्तर वर्ण मिलकर एक वर्ण होते हैं।[१]

सवर्ण दीर्घ विधान

(१) वा०प्रा० ४।५२ के अनुसार सिम् संज्ञक स्वर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ) अपने सवर्णी स्वर वर्ण के बाद में होने पर दीर्घ एकादेश प्राप्त करते हैं।[२] उदाहरण प्र। अर्पयतु (प०पा०) प्रार्पयतु (सं०पा० १।१)। नासत्या। अश्वावत् (प.पा.) नासत्याश्वावत् (सं०पा० २०।८१)। स्रुचि। इव (प०पा०) स्रुचीव (सं०पा० २०।७९)। अनु। उत् (प०पा०) अनूज्जेषम् (सं०पा० २।१५) वाजसनेयिचरण में ऋकार के पदान्ताभाव के कारण इसका उदाहरण नहीं मिलता है।

(२) उक्त ४।५२ द्वारा विहित दीर्घ एकादेश में यदि पदान्त या पदादि में सानुनासिक वर्ण है तो पूर्ववर्ती एवं परवर्ती समान स्थान वाले वर्ण मिलकर सानुनासिक दीर्घता ही प्राप्त करते हैं।[३] उदाहरण– उप। अंशुना (प०पा०) उपांशुना (सं०पा० १७।८९)। वा०प्रा० ४।५३ पर भाष्य करते हुए उवट ने कहा है कि जिस शाखा में उपर्युक्त उदाहृत स्थलों

---

१. अथैकमुत्तरश्च। -वा० प्रा० ४।५१।

२. सिं सवर्णे दीर्घम्। -वा० प्रा० ४।५२।

३. अनुनासिकवत्यनुनासिकम्। -वा० प्रा० ४।५३।

में वा०प्रा० ४।४। द्वारा विहित उपधानुनासिक्य पक्ष मान्य है उसको दृष्टि में रखकर ही यह विधान प्रतिपादित है।[२] माध्यन्दिन शाखा में उपर्युक्त स्थलों में उपधानुनासिक्य न होकर अनुस्वार होता है, अतः यह विधान माध्यन्दिन शाखा में समादृत नहीं है।

एकार, ओकार विधान

(१) वा०प्रा० ४।५४ के अनुसार कण्ठ्य स्वर (अ, आ) के बाद में आने वाला इवर्ण (इ, ई) पूर्ववर्ती कण्ठ्य वर्ण के सहित एकार हो जाता है।[३] उदाहरण— वरुणा। इह (प०पा०) वरुणेह (सं०पा० १८।४९) आ। इदम् (प०पा०) एदम् (सं०पा० ४।१)।

(२) वा०प्रा० ५।५५ के अनुसार कण्ठ्य स्वर (अ, आ) के बाद में आने वाला उकार (उ, ऊ) पूर्ववर्ती कण्ठ्य वर्ण के सहित ओकार हो जाता है।[४] उदाहरण— त्वा। उत्तरतः, (प० पा०) त्वोत्तरतः (सं०पा० २।३)। त्वा। ऊर्जे। (प०पा०) त्वोर्जे (सं०पा० १।१)।

ऐकार, औकार विधान

(१) वा०प्रा० ४।५८ के अनुसार कण्ठ्य स्वर (अ, आ) से बाद में पदादि सन्ध्यक्षर वर्ण ए, ऐ, होने पर ऐकार एकादेश एवं पदादि सन्ध्यक्षर वर्ण ओ, औ होने पर औकार एकादेश होता है।[५] उदाहरण— स्वाहा। एकताय। (प०पा०) स्वाहैकताय (सं०पा० २२।३४)। इन्द्राय। ऐन्द्रम्। इन्द्रायैन्द्रम् (सं०पा० १९।१८)। इन्द्र। औजिष्ठ (प०पा०) इन्द्रौजिष्ठ (सं०पा० ८।३९) प्र। औक्षन् (प०पा०) प्रौक्षन् (सं०पा० ३१।९)।

अपवाद

(१) वा० प्रा० ४।५६ के अनुसार कण्ठ्य स्वर (अ, आ) पूर्व में होने पर, समुद्रस्येमन्, स्वमेन्, और त्वोद्मन् इन तीन स्थलों में उत्तर सन्ध्यक्षर स्वरूप (ए, ओ) एकादेश निपातित होता है।[६] उदाहरण— समुद्रस्य। एमन् (प०पा०) समुद्रस्येमन् (सं०पा० १३।१७) त्वा। एमन् (प०पा०) त्वेमन् (सं०पा० १३।५३)। त्वा। ओद्मन् (प०पा०) त्वोद्मन् (सं०पा० १३।५३)।

---

१. अनुनासिका चोपधा (वा० प्रा० ४।४) इत्यादिना एकस्मिन् पक्षे उपधानुनासिक्यम् एकस्मिन् पक्षे अनुस्वारो विहितः। तत्र यस्मिन् पक्षे उपधानुनासिक्यं तमधिकृत्योच्यत एतत्। — वा०प्रा० ४।५३ पर उवट।

२. कण्ठ्यादिवर्ण एकारम्। -वा० प्रा० ४।५४।

३. उवर्ण ओकारम्। -वा० प्रा० ४।५५।

४. सन्ध्यक्षर ऐकारोकारौ। -वा० प्रा० ४।५८।

५. समुद्रस्येमंस्त्वेमंस्त्वोद्मन्निति। -वा० प्रा० ४।५६।

(२) वा० प्रा० ४।५७ में विधान करते हुए कहा गया है कि कुछ आचार्यों के मत में अवर्ण पूर्व में हो तथा एजति एवं औजः पद बाद में हो तो क्रमशः एकार ओकार एकादेश होता है।[१] उदाहरण– न। एजति (प०पा०) नेजति (सं०पा० ४०।५)। सह। ओजः (प०पा०) सहोजः (सं०पा० ३६।१)।

आ एवं आर् विधान

(१) वा०प्रा० ४।६० में विधान करते हुए कहा गया है कि अपृक्त कण्ठ्य स्वर (आ) के पश्चात् ऋकार होने पर पूर्व एवं पर के स्थान पर आर एकादेश होता है।[२] उदाहरण– आ। ऋत्ये (प०पा०) आर्त्यै (सं०पा० ३०।९)।[३]

(२) वा०प्रा० ४।६१ के अनुसार-अपृक्त कण्ठ्य स्वर (आ) से परवर्ती ऌकार होने पर आल् एकादेश होता है।[४] उदाहरण आ। ऌकारः। आल्कारः। वा०प्रा० ४।६१ पर भाष्य करते हुए उवट का मत है कि यह विधान निरर्थक होने से कतिपय आचार्य इसे समाम्नात नहीं करते हैं।[५] वा०प्रा० ४।६१ पर भाष्यकार अनन्त ऐसे विधानों को शाखान्तरीय उदाहरण सिद्धि के लिए उपर्युक्त मानते हैं।[६]

२. अन्तःस्थीभाव

वा०प्रा० ४।४७ में विधान करते हुए कहा गया है कि असमान स्थान वाला स्वर वर्ण के बाद में होने पर, पूर्ववर्ती भावि (अ, आ से भिन्न इ, उ आदि) वर्ण अन्तःस्थ वर्ण हो जाते हैं।[७] उदाहरण---त्रि। अम्बकम् (प०पा०) त्र्यम्बकम् (सं०पा० ३।६०)। वाजी। अर्वन्। (प०पा०) वाज्यर्वन् (सं०पा० ११।४४)। द्रु। अन्नः (प०पा०) द्रवन्नः (सं०पा० ११।७०)।

(३) अयादिभाव-विकार

वा०प्रा० ४।४८ के अनुसार पूर्ववर्ती सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) के पश्चात् स्वर

---

१. एजत्योजोरेकेषाम्। -वा० प्रा० ४।५७।

२. आरमृकारोऽपृक्तात्। -वा० प्रा० ४।६०।

३. उपसर्गादृति धातौ। -पा० अ० ६।१।९१।

४. ऌकारश्चाल्कारम्। -वा० प्रा० ४।६१।

५. इदं सूत्रं केचिन्नपठन्ति व्यर्थत्वात्। -वा० प्रा० ४।६१ पर उवट।

६. संहितायामुदाहरणाभावेऽपि यल्लक्षणमुच्यते शाखान्तरोदाहरणसिध्यर्थ यमित्यवधेयम्। – वा० प्रा० ४।६१ पर अनन्त।

७. स्वरे भाव्यन्तस्थाम्। -वा० प्रा० ४।४७।

हो तो पूर्ववर्ती सन्ध्यक्षर वर्ण को क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होता है।[१] उदाहरण– इडे। आ। इहि। (प०पा०) इडऽएहि (सं०पा० ३।२७)। कृशनो। एते (प०पा०) कृशानवेते (सं०पा० ४।२७)। सरस्वत्ये। अग्रजिह्वम् (प०पा०) सरस्वत्याऽअग्रजिह्वम् (सं० पा०२५।१)। हिरण्यरूपौ। उषसः (प०पा०) हिरण्यरूपाऽउषसः (सं० पा० १०।१६)।

यहाँ अयादि भाव विकार सन्धि के प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ उदाहरणों में यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः (वा० प्रा०४।१२७) से य्, व् का लोप हो जाता है, किन्तु द्वितीय उदाहरण में 'न' वकारस्यासंस्थान एकेषाम्' (वा० प्रा०४।१२८) सूत्र के अनुसार वकार का लोप नहीं होता है।

अभिनिधान (पूर्वरूप)

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में अभिनिहित और अभिनिधान ये दो शब्द उपलब्ध होते हैं। भाष्यकार उवट ने वा०प्रा० में भाष्य करते हुए उक्त दोनों पदों को एक ही अर्थ–पूर्वरूप का अभिधायक मानकर ग्रन्थ में व्यवहार किया है। अभिनिधान शब्द को भाष्यकार उवट ने स्पष्टतः पूर्वरूप का वाचक बतलाया है।[२] अभि तथा नि उपसर्ग पूर्वक धा धातु से अभिनिहित एवं अभिनिधान दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं।

अभिनिधान में एकार ओकार के बाद में आने वाला अकार अपने पूर्ववर्ती स्वर में समाहित हो जाता है। संहिता-पाठ में अकार की इस समाहिता को ऽ चिह्न द्वारा द्योतित किया जाता है। वा०प्रा० ४।६२ में अभिनिधान-भाव का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि एकार-ओकार के बाद में आने वाला अकार पूर्व रूप को प्राप्त करता है।[३] उदाहरण– ते। अवन्तु (प०पा०) तेऽवन्त्वस्मान् (सं०पा०१८।५७)। स्तुपः। असि (प०पा०) स्तुपोऽसि (सं०पा०२।२)। वा० प्रा० में विहित अभिनिधान-भाव-विधान के लिए पाणिनीय-अष्टाध्यायी में पूर्वरूप-सन्धि का विधान किया गया है।

उपर्युक्त सामान्य नियम के अतिरिक्त वा० प्रा० में अभिनिधान-सन्धि के और विधान उपलब्ध होते हैं जिन्हें निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) पूर्व पद मूलक अभिनिधान (२) उत्तरपद मूलक अभिनिधान (३) द्विपद मूलक अभिनिधान (४) यज्ञप्रकरण मूलक अभिनिधान (५) सङ्क्रम-पाठ मूलक अभिनिधान।

---

१. सन्ध्यक्षरमयवायावम्। -वा० प्रा० ४।४८।

२. अभिनिधानं च पूर्वरूपता। -वा० प्रा० ४।६५ पर उवट।

३. एदोद्भ्यां पूर्वमकारः। -वा० प्रा० ४।६२।

(१) पूर्वपद मूलक अभिनिधान

(१) वा०प्रा० ४।६५ के अनुसार गाहमानो, शिवो, भरन्तो, द्वेषोभ्यो, जम्भयन्तो, वाजे, वाजजितो, मदन्तो, शौचे, अवसे, सुषुवे, ज्योते, सुपर्णो, वीरुधो, सुवीरो, धातवे, सूनवे, द्रूणानो, आशवो, वहतो, सङ्क्रन्दनो, बाहवो, अध्युध्यो एवं अद्रहो पदों के एकार ओकार के बाद में आने वाला अकार अभिनिहित हो जाता है।[1] उदाहरण– गाहमानः। अदयः (प०पा०) गाहमानो अदयः गाहमानोऽदयो (सं०पा० १७।३९)। वाजे। अवत (प० पा०) वाजेऽवत (सं० पा० ९।१८) इत्यादि।

भाष्यकार उवट के मतानुसार सूत्रोक्त उदाहरणों में यद्यपि अभिनिधान भाव वा०प्रा० ४।६२ सामान्य नियम से ही प्राप्त था फिर भी पृथग्योगकर ऋचाओं में अभिनिहित निषेध (वा० प्रा०४।८२) के अपवाद रूप में है।[2] शुक्ल-यजुर्वेद में सामान्यतया मन्त्रोच्चारण से ऋग्यजुः का भेद करना कठिन है, इसीलिए सूत्रकार ने उपर्युक्त विधान में अपवादात्मक रूप नहीं अपनाया है।

(२) वा० प्रा० ४।६७ के अनुसार ये पूर्वपद के बाद अन्न और पदों का अकार पूर्व रूप हो जाता है।[3] उदाहरण– ये। अन्नेषु (प० पा०) येऽन्नेषु (सं० पा० १६।६२)। ये। अत्र (प० पा०) येऽत्र (सं० पा० १२।४५)।

(३) वा० प्रा० ४।७२ के अनुसार सूर्यो तथा अग्ने पद पूर्व में होने पर परवर्ती अभिशब्द का अकार पूर्वरूप हो जाता है।[4] उदाहरण-सूर्यः। अभि। (प० पा०) सूर्यो अभि। सूर्योऽभि (सं० पा० १३।३०)। अग्ने। अभ्यावर्तिनित्यभि-आवर्तिन् (प० पा०) अग्नेऽभ्यावर्तिन् (सं० पा० १२।७)।

(४) वा० प्रा० ४।७३ के अनुसार रिषो, यवसे, पुरुप्रियो, अन्नपते एवं अर्णव पदों के एकार, ओकार के बाद में आने वाले अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[5] उदाहरण– रिषः। अम्ब (प०पा०) रिषो। अम्ब रिषोऽम्ब (सं०पा० ११।६८)। यवसे। अविष्यन् (प०

---

१. गाहमानः शिवो भरन्तो---बाहवोऽयुध्योऽदुहः। -वा० प्रा० ४।६५।

२. ननु एदोदभ्यां पूर्वमकारः (वा० प्रा० ४।६२) इत्यनेनेवाभिनिहितः सिद्धः। किमर्थ गाहमानादिभ्य उत्तरस्याकारस्याभिनिधान मुच्यते? नैवभिनिहितः सिद्धः प्रकृतिभाव ऋक्षु (वा०प्रा० ४।८२) इति प्रकृतिभावऋक्षु वक्ष्यति। तस्यायं पुरस्तादपवादः (-वा० प्रा० ४।६५ पर उवट)।

३. येऽन्नात्रयोः। -वा० प्रा० ४।६७।

४. सूर्योऽग्नेऽभौ। -वा० प्रा० ४।७२।

५. रिषो यवसे पुरुप्रियोऽन्नपतेऽर्णवे। -वा० प्रा० ४।७३।

पा०) यवसेऽविष्यन् (सं०पा० १५।६२)। अन्नपते। अन्नस्य (प०पा०) अन्नपतेऽन्नस्य (सं०पा० ११।८३)। इत्यादि।

(५) वा० प्रा० ४।७५ के अनुसार गवे, मे, मनसो, वाजयन्तः, सोभ्यासो, पाशिनो, विदानो, अनृते, मूजवतो, वृष्णे, अपको, दीदिवो, त्रयस्त्रिंशे, ब्रह्मणे, यको, रथो, विश्वतो, पादो एवं वसन्तो पदों के बाद में आने वाला अकार पूर्वरूप हो जाता है।[1] उदाहरण गवे। अश्वाय (प०पा०) गवेऽश्वाय (सं०पा० ३।५९)। मे। अङ्गानि (प०पा०) मेऽङ्गानि (सं०पा० २०।८) मनसो। असि (प०पा०) मनसोऽसि (सं०पा० २०।३४)। इत्यादि।
(६) वा०प्रा० ४।७७ के अनुसार पणयः, जहीमः एवं अम्बिके पदों के एकार ओकार के बाद में आने वाला अकार पूर्व रूप हो जाता है।[2] उदाहरण– पणयः। असुम्नाः (प०पा०) पणयो। असुम्नाः पणयोऽसुम्नाः (सं०पा० ३५।१)। जहीमः। अशिवाः (प०पा०) जहीमो। अशिवाः जहीमोऽशिवाः (सं०पा० ३५।१०)। अम्बिके। अम्बालिके (प०पा०) अम्बिकेऽम्बालिके (सं०पा० २३।१८)।

(७) वा०प्रा० ४।७९ के अनुसार ब्राह्मणः पद के ओकार के बाद में आने वाला अकार पूर्वरूप हो जाता है।[3] उदाहरण– ब्राह्मणः। अस्य (प०पा०) ब्राह्मणो अस्य ब्राह्मणोऽस्य (सं०पा० ३१।११)।

उत्तरपद मूलक अभिनिधान

(१) वा०प्रा० ४।६८ के अनुसार ये पद पूर्व में होने पर अविद्या एवं असम्भूति पद का अकार पूर्वरूप हो जाता है।[4] ये। अविद्याम् (प०पा०) येऽविद्याम् (सं०पा० ४०।१२)।ये। असम्भूतिम् (प०पा०) येऽसम्भूतिम् (सं०पा० ४०।९)।

(२) वा०प्रा० ४।७४ के अनुसार एकार ओकार के बाद में आने वाला अकार पूर्वरूप हो जाता है यदि अकार के बाद में यकार एवं वकार है।[5] सहस्र योजनऽइति सहस्र योजने। अव (प०पा०) सहस्रयोजनेऽव (सं०पा० १६।५४)। तिग्मतेजो। अयस्मयम् (प० पा०) तिग्मतजोऽयस्मयम् (सं०पा० १२।६३)।

---

१. गवे मे मनसो--- वसन्तः। -वा० प्रा० ४।७५।
२. पणयो जहीमोऽम्बिके। -वा० प्रा० ४।७७।
३. ब्राह्मणः। -वा० प्रा० ४।७९।
४. अविद्यासम्भूत्योश्च। -वा० प्रा० ४।६८।
५. व्यपरे च। -वा० प्रा० ४।७४।

द्विपद मूलक अभिनिधान

(१) वा०प्रा० ४।६६ के अनुसार वोऽहं, सोऽहं सोऽस्माकं, तेऽभिगरः, वोऽर्वाची इन द्विपदों में अकार का पूर्वरूप होता है।[1] उदाहरण वः। अहम् (प०पा०) वोऽहम् (सं०पा० ९।४)। सः। अहम् (प०पा०) सोऽहम् (सं०पा० १८।३५) इत्यादि।

(२) वा०प्रा० ४।६९ के अनुसार उपस्थेऽन्तः, एवं तेभ्योऽकरम् इन द्विपदों में अकार का पूर्वरूप होता है।[2] उदाहरण उपस्थे। अन्तः (प०पा०) उपस्थेऽन्तः (सं०पा० १२।३९)। तेभ्यो। अकरम् (प०पा०) तेभ्योऽकरम् (सं०पा० १६।८)।

(३) वा०प्रा० ४।७६ के अनुसार अवोस्तु, अग्ने गृहपतेऽभि, सत्वानोऽहं, नोऽस्त्रया, विमानोऽजस्रः सुतेऽश्विना, नमोऽग्नये, तेऽग्रं, तेऽग्रेवृक्षस्य, प्रथमोऽन्तः, तेऽन्येन इन द्विपदों में अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[3] उदाहरण– अवः। अस्तु (प०पा०) अवोऽस्तु (सं०पा० ३।३१) अग्ने। गृहपते। अभिद्युम्नम् (प०पा०) अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नम् (सं०पा० ३।३९)। सत्वानो। अहम्। (प०पा०) सत्वानोऽहम् (सं०पा० १६।८)।

(४) नोनुमोऽदुग्धा इव, प्रचेतसोऽश्वान्, नरोऽस्माकम्, वृषपाणयोऽश्वाः, प्रदिशोऽनु, उदितेऽनागा, अन्धसोऽर्चा, पनस्यतेऽद्धा, यज्ञियेभ्योऽमृतत्वम्, विपश्चितोऽभि, जनोऽन-मीवः, आयवोऽनु, नोऽद्य, देशेऽभवत्, वश्रुनेऽजनिष्ट, विघ्नापसोऽजायन्त, पूर्व्यासोऽरेण-वो, नोऽश्मा, नोऽदितिः, नोऽहिः- इन द्विपदों में अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[4] उदाहरण– -नोनुमः। अदुग्धा (प०पा०) नोनुमोऽदुग्धा (सं० पा० २७।३५)। इत्यादि।

यज्ञ प्रकरण मूलक अभिनिधान

(१) वा० प्रा० ४।७० के अनुसार सौत्रामणि यज्ञ प्रकरण (मा० सं० १९-२१) को छोड़कर अन्यत्र नमोऽस्तु पद में पूर्वरूप होता है।[5] उदाहरण– नमः। अस्तु (प० पा०) नमोऽस्तु (सं० पा० १३।६) यह उदाहरण अग्निचयन प्रकरण से लिया गया है।

सौत्रामणि यज्ञ प्रकरण (१९-२१ अध्याय) के अन्तर्गत होने के कारण अग्रिम स्थल में पूर्व रूप नहीं होता है। जैसे–नमः। अस्तु (प०पा०) नमोऽअस्त्वद्य(सं०पा० १९।६६)।

(२) वा० प्रा० ४।७१ के अनुसार अग्नि चयन यज्ञ प्रकरण को छोड़कर अन्यत्र विश्वे,

---

१. वोऽहं सोऽहं सोऽस्माकं तेऽभिगरो वोऽर्वाची। -वा० प्रा० ४।६६।

२. उपस्थेऽन्तस्तेभ्योऽकरम्। -वा० प्रा० ४।६९।

३. अवो स्त्वग्ने--- प्रथमोऽन्तस्तेऽन्येन। -वा० प्रा० ४।७६।

४. नोनुमोऽदुग्धा इव--नोदितिर्वोहिः। -वा० प्रा० ४।७८।

५. नमोऽस्त्वसौत्रामण्याम्। -वा० प्रा० ४।७०।

अग्रे, विशो एवं रायो पद के बाद में आने वाला अकार पूर्वरूप हो जाता है।[1] उदाहरण– विश्वे। असुम् (प०पा०) विश्वेऽसुम् (सं०पा० ८।१९)। अग्रे। अश्वम् (प०पा०) अग्रेऽश्वम् (सं०पाठ० ९।७) इत्यादि।

अग्निचयन प्रकरण में पठित होने के कारण अग्रिम स्थलों में पूर्वरूप नहीं होता है। विश्वे। अद्य (प०पा०) विश्वेऽअद्य मरुतः (सं०पा० १८।३१)। इत्यादि।

सङ्क्रम पाठ मूलक अभिनिधान

(१) वा०प्रा० ४।८१ के अनुसार ऋक् एवं यजुर्मन्त्रों के सङ्क्रम पाठ में एकार ओकार के बाद में आने वाले अकार का पूर्वरूप हो जाता है।[2] शूद्रे यदर्ये (सं.पा. २०/१४) शूद्रे। अर्ये (प०पा०) (यहाँ यत् पद अपठित होने से गलत्पद है) शूद्रेऽर्यै (सङ्क्रम पाठ)।

(२) वा० प्रा० ४।८० के अनुसार यजुष् मन्त्रों एकार ओकार के बाद में आने वाला अकार पूर्वरूप हो जाता है।[3] उदाहरण कः। असि (प०पा०) कोऽसि (सं०पा० ७।२९)।ते। अप्सरसाम् (प०पा०) तेऽप्सरसाम् (सं०पा० २४।३७)।

अपवाद

(१) गाहमानः (वा० प्रा० ४।६५-८१) आदि सूत्रों में कथित ऋगभिनिधान के अतिरिक्त अन्यत्र ऋक् रूप मन्त्रों में पूर्वरूप नहीं होता है, अपितु अकार प्रकृतिवत् रहते हैं।[4] उदाहरण–हस्तासः। अस्य (प०पा०) हस्तासो अस्य (सं० पा० १७।९१) इत्यादि।

(२) वा० प्रा० ४।८३ के अनुसार अध्वन् भिन्न पद बाद में होने पर जुषाणो पद से परवर्ती अकार पूर्वरूप को नहीं प्राप्त करता है।[5] उदाहरण– जुषाणः। अप्तु (प० पा०) जुषाणो अप्तु (सं०पा० ५।३५)।

(३) वा० प्रा० ४।८४ के अनुसार अनुदात ते पद से बाद में स्थित अनुदात्त अकार का पूर्वरूप नहीं होता है।[6] उदाहरण– **ते। अग्रे** (प० पा०) **ते। अग्रे** (सं० पा० ५।८)।

(४) वा० प्रा० ४।८५ के अनुसार हेडो, आपो, गुवो, अपाग्रे, धीरासो, देवासो उरौ, रक्षाणौ, मो, वैश्वानरौ, वृषभौ, वचौ, प्राणो, उदानो, इमामो वृष्णौ, दशमास्यो, अन्धौ,

---

१. विश्वेऽग्रे विशो रायोऽनग्नौ। -वा० प्रा० ४।७१।

२. सङ्क्रमे च सर्वत्र। -वा० प्रा० ४।८१।

३. युजष्षु च। -वा० प्रा० ४।८०।

४. प्रकृतिभाव ऋक्षु। -वा० प्रा० ४।८२।

५. जुषाणश्चानध्वनि। -वा० प्रा० ४।८३।

६. ते चानुदात्तमनुदात्ते। -वा० प्रा० ४।८४।

आवित्तो, अरिष्टो अर्जुनः, प्रत्याश्रावो, स्विष्टो, घासे, प्रणीतौ, तेभ्यो, नमो अस्तु, दूरे, नौ, यज्ञै, सधस्थे, सो, इन्द्रे, हिरण्यपर्णो, द्वारो, देवो, अब्दो, रथिभ्यो, महद्भ्यो एवं संसदो पदों के एकार ओकार के बाद में आने वाले अकार का पूर्वरूप नहीं होता है, अपितु प्रकृतिवत् रहता है।[१] उदाहरण– हेडः। अव। (प०पा०) हेडौऽअवया (सं०पा० २१।३) इत्यादि।

(५) वा० प्रा० ४।८६ के अनुसार छन्दो पद पूर्व में होने पर अङ्कुपम्, अङ्काङ्कम् एवम् अस्त्रीवयः पदों के अकार पूर्वरूप नहीं होते हैं, अपितु प्रकृतिवत् रहते हैं।[२] उदाहरण– छन्दः। अङ्कुपम् (प०पा०) छन्दो अङ्कुपम् (सं०पा० १५।४)। छन्दः। अङ्काङ्कम् (प०पा०) छन्दो अङ्काङ्कम् (सं०पा० १५।५) छन्दः। अस्त्रीवयः (प०पा०) छन्दो अस्त्रीवयः (सं०पा० १४।१८)।

ह्रस्वभाव

वा०प्रा० ४।५० में विधान करते हुए कहा गया है कि ऋकार बाद में होने पर पूर्व में स्थित कण्ठ्य स्वर (अ, आ) ह्रस्व (अ) हो जाता है।[३] उदाहरण– विश्वकर्मा।. ऋषिः (प०पा०) विश्वकर्माऽऋषिः (सं०पा० १३।५८)। यत्र। ऋषयः (प०पा०) यत्रऽऋषयः (सं०पा० १८।५२) वा० प्रा० ४।५० पर भाष्यकार उवट का मत है कि यहाँ ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व का जो विधान किया जा रहा है वह अन्य संहिता की निवृत्ति करता है।[४] निवृत्ति रूप संहिता ही यहाँ होती है, स्वर संहिता नहीं।[५] पाणिनीय व्याकरण में इस सन्दर्भ में विधान करते हुए कहा गया है कि– ऋत् (ह्रस्व ऋकार) बाद में होने पर पदान्त अक् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) को विकल्प से ह्रस्व होता है।[६] उदाहरण– ब्रह्मा ऋषि इस विग्रह में पदान्त अक् (अकार) को ऋकार बाद में होने पर ह्रस्व हो गया। इस प्रकार ब्रह्म ऋषिः पद सिद्ध हुआ। तब ह्रस्वविधान सामर्थ्य से पहले के समान सन्धि (गुण) नहीं हुआ। ह्रस्व के अभाव पक्ष में गुण आ होकर ब्रह्मर्षिः पद सिद्ध होता है।

दीर्घभाव

वा०प्रा० ३।९६ सूत्र से दीर्घ का अधिकार प्रारम्भ किया गया है। इस सांहितिक

---

१. हेडऽआपो---महद्भ्यः संसदः। -वा० प्रा० ४।८५।
२. छन्दो अङ्कुपमङ्काङ्कमस्त्रीवयः। -वा० प्रा० ४।८६।
३. कण्ठ्य ऋकारे ह्रस्वम्। -वा० प्रा० ४।५०।
४. ह्रस्वस्य स्थाने ह्रस्वो विधीयमानोऽन्यस्याः संहिताया निवृतिं करोति। विवृतिसंहितैवात्र भवति न स्वर-संहिता। -वा० प्रा० ४।५० पर उवट।
५. ऋत्यकः। -पा० अ० ६।१।१२८।
६. दीर्घम्। -वा० प्रा० ३।९६।

दीर्घ के अन्तर्गत वे स्थल आते हैं जो पदपाठ में ह्रस्व रूप में ही रहते हैं, किन्तु संहितापाठ में व्यञ्जन बाद में होने पर दीर्घ हो जाते हैं। सांहितिक दीर्घ अन्तः पद एवं पदान्त दोनों में होता है। पाणिनीय व्याकरण में संहितायाम् (पा० ६।३।११४) इस सूत्र से सांहितिक दीर्घ का विधान किया गया है। वा० प्रा० में विहित दीर्घ विधानों का विवरण इस प्रकार है।

सांहितिक दीर्घ-विधान

(१) वा०प्रा० ३।९७ के अनुसार वकार बाद में होने पर अश्व, रश्मि, मति, सुमति, श्व, सुत, चारय, घृणि, सैदिम, इन्द्रिय, धारय, चित्र, भङ्गुर, बयुन, अश्वस्य, हृदय, घुष्य, ऋत, अभि, अवत, अधि, अर्च, शक्ति, परु एवं शचि पदों का अन्तिम ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है।[1] उदाहरण— अश्ववतीमित्यश्व-वतीम् (प०पा०) अश्वावतीम् (सं०पा० १२।८१)। रश्मिवतीमिति रश्मि-वतीम् (प०पा०) रश्मिवतीम् (सं०पा० १५।५३) इत्यादि।

(२) वा०प्रा० ३।१०१ के अनुसार सह्, भुव, पुष और वसु पद बाद में आने पर पूर्ववर्ती विश्व पद दीर्घ हो जाता है।[3] उदाहरण— विश्वसहमितिविश्व-सहम् (प० पा०) विश्वासाहम् (सं०पा०७।३६)। विश्वपुषमितिविश्व-पुषम् (प०पा०) विश्वापुषम् (सं०पा० २५।४६)। विश्ववसुरितिविश्व वसु (प०पा०) विश्वावसु (सं०पा० २।२)।

(३) वा०प्रा० ३।१०२ के अनुसार नर, हा, मित्र, शब्द बाद में होने पर भी विश्व पद का अकार दीर्घ हो जाता है।[4] उदाहरण— विश्वानराय (प०पा०) विश्वानराय (सं०पा० ३३।२३)। विश्वाहा (प० पा०) विश्वाहा (सं० पा० १७।४८)। विश्वामित्र (प० पा०) विश्वामित्र (सं० पा० १३।५७)।

(४) वा०प्रा० ३।१०४ में विधान करते हुए कहा गया है कि वन, शृङ्ग और यास पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती प्र पद का अकार दीर्घ हो जाता है।[5] यथा— प्रवणेभिरितिप्र वणेभिः (प० पा०) प्रावणेभिः (सं० पगा० १२।५०)। प्रशृङ्गाऽइतिप्र शृङ्गा (प० पा०) प्राशृङ्गा (सं०पा० २४।१७)। प्रयासायेतिप्र यासाय (प०पा०) प्रायासाय (सं० पा० ३९।११)।

१. अश्वरश्मि------पुरुशचि वकारे। -वा० प्रा० ३।९७।
२. मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतो। -पा० अ० ६।३।१३१।
३. विश्व सहमुवपुषवसुषु। -वा० प्रा० ३।१०१।
४. नरहामित्रेषु च। -वा० प्रा० ३।१०२।
५. प्र वणजृङ्गयासेषु। -वा० प्रा० ३।१०४।

(५) वा०प्रा० ३।१०५ के अनुसार अवग्रह ने रहने पर नि उपसर्ग का दीर्घ हो जाता है यदि बाद में वार एवं हार शब्द हों।[१] उदाहरण– नीहारेण (प०पा०) नीहारेण (सं०पा० १७।३२)। नीवाराः (प०पा०) नीवारश्च (सं०पा० १८।१२)।

(६) वा०प्रा० ३।१०७ के अनुसार धारयाम, योज, अव, सचस्व, नुद, मोषु, जयत, उरुष्य, रक्ष, यज, यच्छ, मत्सथ, पिपृत, गायत, आतु और येन पद का अन्तिम ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है, यदि बाद में नकार हो तो।[२] यथा– धारयाम। नमोभिः (प०पा०) धारयामा नमोभिः (सं० पा० १७।९०) योज। नु (प०पा०) योजान्विन्द्र (सं० पा० ३।५२) इत्यादि।

(७) वा० प्रा० ३।१०८ के अनुसार नकार बाद में होने पर भव पद का अकार दीर्घ हो जाता है।[३] यथा– भव। नः (प०पा०) भवानः (सं०पा० १२।११७)।

(८) वा०प्रा० ३।१०९ के अनुसार सचा, वरूथय, वाजस्य और पायुः पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती भव पद का अकार दीर्घ हो जाता है।[४] उदाहरण– भव। सचा (प० पा०) भवा सचा (सं० पा० ३४।५६)। भव। वरूथ्य (प० पा०) भवा वरूथ्यः (सं पा० ३।२५) इत्यादि।

(९) वा०प्रा० ३।११० में विधान करते हुए कहा गया है कि सु पद बाद में होने पर अपृक्त उकार दीर्घ हो जाता है।[५] उदाहरण– ऊँ इत्यूँ। सु (प०पा०) ऊषुणः (सं० पा० ११।४२)।

(१०) वा०प्रा० ३।१११ के अनुसार तकार और नकार बाद में होने पर रथि पद का इकार दीर्घ हो जाता है।[६] उदाहरण– रथितममितिरथि-तमम् (प०पा०) रथीतमम् (सं०पा० १२।५६)। रथिनामितिरथि-नाम् (प०पा०) रथीनाम् (सं०पा० १२।५६)।

(११) वा०प्रा० ३।११२ के अनुसार यकार बाद में होने पर श्रथ उदारिथ, शोच, पनय, सादय, ऋजु, वृष, शत्रु, सलक्ष्य, घ, अघ, अराति, ऋत और भवत पद के अन्तिम

---

१. निवारहारयोरनवग्रहे। -वा० प्रा० ३।१०५।

२. धारयाम योजाव सचस्व---येन नकारे। -वा० प्रा० ३।१०७।

३. भव च। -वा० प्रा० ३।१०८।

४. सचावरूथ्यवाजस्यपायुषु च। -वा० प्रा० ३।१०९।

५. अपृक्तः सौ। -वा० प्रा० ३।११०,

६. रथि तकारनकारयोः। -वा० प्रा० ३।१११।

ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाते हैं।[१] उदाहरण— श्रथयेति-श्रथय (प०पा०) श्रथाय (सं० पा० १२।१२) इत्यादि।

(१२) वा० प्रा० ३।११३ के अनुसार वृध एवं वृज बाद में होने पर पूर्व में स्थित व का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है।[२] उदाहरण— ववृधऽइति ववृधे (प० पा०) वावृधे (सं० पा० ७।३९)। ववृजऽइति ववृजे (प०पा०) वावृजे (सं०पा० ३३।४४)।

(१३) वा०प्रा० ३।११४ के अनुसार तम्, हकार, चकार, भवत, वृणीमहे एवं देव पद बाद में आने पर पूर्ववर्ती अद्य पद का अन्तिम ह्रस्व अकार दीर्घ हो जाता है।[३] उदाहरण— अद्य। तम् (प०पा०) अद्या तमस्य (सं०पा० ३३।९७)। अद्य। हुवेम (प०पा०) अद्या हुवेम (सं०पा० ८।४५)। अद्य। च (प०पा०) अद्याच (सं०पा० २१।१) इत्यादि।

(१४) वा०प्रा० ३।११६ के अनुसार मकार बाद में रहने पर शृणुत, त्विषि, ध्रजि, भवतु, पिब, इत, स्म, तिष्ठ, रक्ष पदों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।[४] उदाहरण— शृणुत। मे (प०पा०) शृणुता मे (सं०पा० ७।३४)। त्विषिमत इति, त्विषि-मते (प० पा०) त्विषीमते (सं०पा० १६।१७)। इत्यादि।

(१५) वा०प्रा० ३।११७ के अनुसार वति शब्द बाद में होने पर विश्वदेव्य और सोम पदों का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है।[५] यथा— विश्वदेव्यवतीति विश्वदेव्य-वती (प० पा०) विश्वदेव्या-वती (सं० पा० ११।६१)। सोमवतीति सोमवती (प० पा०) सोमावती (सं०पा० १२।८१)।

(१६) वा०प्रा० ३।११८ के अनुसार महोभिः, नक्त, ईम्, ईकार, एकार, ओकार, नकार पूर्व में रहने पर परवर्ती उष पद दीर्घ हो जाता है।[६] उदाहरण— महोभिरितिमहः-भिः। उषासानक्ता। उषासानक्ता। उषसानक्तैत्युषसानक्ता (प०पा०) महोभिः। उषासानक्ता (सं०पा० २०।३३-३४)। इत्यादि।

(१७) वा०प्रा० ३।१२० के अनुसार पूष्णः, जहीमः और ते पद बाद में होने पर

---

१. श्रथोदारिथ--भवत यकारे। -वा० प्रा० ३।११२।

२. व वृघवृजोः। -वा० प्रा० ३।११३।

३. अद्य तहकारचकारभवतवृणीमहेदेषु। -वा० प्रा० ३।११४।

४. शृणुत त्विषि ध्रजि भवत पिबेत स्म तिष्ठ रक्षा मकारे। -वा० प्रा० ३।११६।

५. विश्वदेव्यसोमौ वत्याम्। -वा० प्रा० ३।११७।

६. उष महोमिर्नक्तेभीकारेकारौकारनकारेभ्यः। -वा० प्रा० ३।११८।

अत्र पद का अन्त्य अकार दीर्घ हो जाता है।[१] उदाहरण– अत्र। पूष्णः (प०पा०) अत्रा पूष्णः (सं०पा० २५।२७)। अत्र। जहीमः (प०पा०) अत्रा जहीमः (सं०पा० ३५।१०)। अत्र। ते (प०पा०) अत्रा ते (सं०पा० २९।१८)।

(१८) वा० प्रा० ३।१२१ के अनुसार नरः, सप्त ऋषीन्, नः, त आहुः और नियुद्भिः बाद में रहने पर पूर्ववर्ती यत्र का अन्त्य अकार दीर्घ हो जाता है।[२] उदाहरण- यत्र पत्र। सप्तऋषीन् (प०पा०) यत्रा सप्तऋषीन् (सं०पा० १७।२६)। यत्र। नरः (प० पा०) यत्रा नरः (सं०पा० २९।४८)। यत्र। नः (प०पा०) यत्राः नः (सं०पा० २५।२२)। इत्यादि।

(१९) वा०प्रा० ३।१२२ के अनुसार अभिमाति, पृतनासु, सपत्न, धूः, विश्व, समत्सु, पृतना और व्रात पद के बाद में स्थित सह धातु के रूप दीर्घ हो जाते हैं।[३] उदाहरण– अभिमाति सहऽइत्यभिमाति सहः (प०पा०) अभिमातिषाहः (सं०पा० १२।११३)। पृतनासु। सासहिम्। ससहिमिति ससहिम् (प०पा०) पृतनासु सासहिम् (सं०पा० ११।७६) इत्यादि।

(२०) वा०प्रा० ३।१२३ के अनुसार उक्थ शब्द के बाद में आने वाली शस् धातु के रूप को दीर्घ हो जाता है।[४] उदाहरण– उक्थशसऽइत्युक्थ-शसः (प०पा०) उक्थशासः (सं०पा० १७।३१)।

(२१) वा०प्रा० ३।१२४ के अनुसार व्यञ्जन वर्ण के पूर्ववर्ती एव, अच्छ, चकृम और अथ पदों का अन्त्य ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाते हैं।[५] उदाहरण– एव। नः एवा नो (सं०पा १३।२०) अच्छ। वदामसि (प०पा०) अच्छा वदामसि (सं०पा० १६।४) चकृम। वयम् (प०पा०) चकृमा वयम् (सं०पा० ३।४५)। अथ। अन्दस्व (प०पा०) अथामन्दस्व (सं०पा० २६।२५)।

(२२) वा०प्रा० ३।१२६ के अनुसार यत्, ग्रा और वायु पद बाद में होने पर अध पद का दीर्घ हो जाता है।[६] उदाहरण– अध। सपत्नानिति० (प०पा०) अधा सपत्नान् (सं०पा० १७।६४)। अध। यथा (प०पा०) अधा यथा (सं०पा० १९।६८)।

---

१. पूष्णोजहीमस्तेष्वत्र। -वा० प्रा० ३।१२०।

२. नरस्सप्तऋषीन्नस्तआहुर्नियुद्भिष्णु यत्र। -वा० प्रा० ३।१२१।

३. अभिमाति पृतनासु सपत्न धूर्विश्व समत्सु पृतना व्रातेभ्यः सहेः। -वा० प्रा० ३।१२२।

४. उक्थाच्च शसेः। -वा० प्रा० ३।१२३।

५. एवाच्छचकृमाथ। -वा० प्रा० ३।१२४।

६. अधायत्स्मग्रावायुषु। -वा० प्रा० ३।१२६।

(२३) वा०प्रा० ३।१२७ के अनुसार वायु शब्द रहित द्वन्द्व-समास में पदान्तस्वर वर्ण दीर्घ हो जाता है।[१] यथा– अग्नि षोमौ अग्नीषौमौ (प०पा०) अग्नीषौमौ (वा०सं० २।१५)। मित्र-वरुणौ मित्रावरुणौ (प०पा०) मित्रावरुणौ (वा०सं० २।३)।

(२४) वा०प्रा० ३।१२८ में विधान करते हुए कहा गया है कि कतिपय आचार्यों के मतानुसार शय पद बाद में आने पर पूर्ववर्ती हरि पद दीर्घ हो जाता है।[२] उदाहरण– हरि। शया (प०पा) हरीशया (सं०पा० ५।८)। भाष्यकार अनन्त के मतानुसार दीर्घपाठ काण्वशाखीय तथा ह्रस्वपाठ अन्य शाखीय (माध्यन्दिनीय) है।[३]

(२५) वा०प्रा० ३।१२९ के अनुसार पिबासामम्, पिबा सुतस्य, स्थामयोभुवः, नूरणे, शीमष्व, मामहानः, मामहन्ताम्, अशीतम, रिरिषः, रीरिषत, यामयन्ति, हिष्माते, वर्धयारयिम्, श्रुधीहवम्, चरासोम, सूयवासिनी, श्रोताग्रावणः, धर्षामानुषः, पाथादिवः, युक्ष्वाहि, गमयातमः, सिञ्चतासुतम्, परीवापः, उक्थासास्त्राणि, अत्ताहवींषि, आच्याजानु, क्षामारेरिहत् क्षमाभिदन्तः, रुहेमास्वस्तये, जनयथाच, घारयाम, पितरामघः, बोघामे, विचृताबन्धम्, अवताहवेषु, शृणुधीगिरः, रक्षातोकम्, चर्षणीसहाम्, चर्षणीघृतः, येनासमत्सु, वनेमा ते, श्रध्यामाते, शिक्षासखिभ्यः, तत्रारथम्, दीयारथेन, इताजयत, वर्धयात्वम्, प्रब्रवामाधृतस्य, आजगन्थापरस्याः, ररिमाहि, पुरीतता, प्लीहाकर्णः, शुण्ठाकर्णः नीकाशाः, अनुकाशेन, चक्राजरसम्, मिथूकः, तरतासखायः, सासह्वान्, अपामार्गः, उभयादतः, ऋतीषहम्, अभीषु, सुष्टरीमा, जुषाणा, यजादेवान्, येनापावक, अश्वायन्तः, यदीसरमा, स्वदयासुजिह्व, निषद्या दधिष्व, सदतना रणिष्टन, भरा चिकित्वान्, चिकित्सा गविष्ये, अवाददत्, रक्षा च, आयुनक्, सृजारराणः और सादन्यम् इन सूत्रोक्त पदों में दीर्घ होता है।[४] उदाहरण– पिब। सोमम् (प०पा०) पिबा सोमम् (सं०पा० २६।४)। पिबा। सुतस्य (प०पा०) पिबा सुतस्य (सं०पा० ३३।७०)। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी दीर्घ होता है।

स्वरमूलक दीर्घ भाव

वा०प्रा० ३।१०३ में विधान करते हुए कहा गया है कि तिष्ठ पद आद्युदात होने पर दीर्घ हो जाता है।[५] उदाहरण– तिष्ठ। देवः (प०पा०) तिष्ठा देवो (वा०सं० ११।४२)

---

१. पूर्वो द्वन्द्वेष्ववायुषु। -वा० प्रा० ३।१२७।

२. हरि शयेत्येके। -वा० प्रा० ३।१२८।

३. तथा च प्रथमशाखिनां काण्वानां दीर्घपाठः अन्येषां ह्रस्व इत्यर्थः। -वा० प्रा० ३।१२८ पर अनन्त।

४. पिबा सोमं-----सादन्यमिति च। -वा० प्रा० ३।१२९।

५. तिष्ठाद्युदात्तम्। -वा० प्रा० ३।१०३।

तिष्ठ। रथम् (प०पा०) तिष्ठा रथम् (सं०पा० १०।२२)।

यज्ञ प्रकरण मूलक दीर्घ भाव

वा०प्रा० ३।१२५ में विधान करते हुए कहा गया है कि सौत्रामणि यज्ञ प्रकरण में पठित न होने पर विद्म पद का दीर्घ हो जाता है।[1] उदाहरण— विद्म। ते (प०पा०) विद्मा ते (वा०सं० १२।१९)। यह विद्म पद अग्निचयन यज्ञ प्रकरण में पठित है। इसलिए दीर्घ हो जाता है। सौत्रामणि यज्ञ प्रकरण में पठित विद्म पद का दीर्घ नहीं होता है। यथा- विद्म। यान (प०पा०)–विद्मयान (वा० सं० १९।६७)। यह उदाहरण सूत्र का प्रत्युदाहरण है।

दीर्घ का निपातन

वा०प्रा० ३।११९ के अनुसार अवसान में स्थित पुरुष पद में दीर्घ होता है।[2] यथा— पूरुषः। पुरुषऽइति पुरुषः (प०पा०) पुरुषः (वा०सं० १२।१९)।

दीर्घभाव के अपवाद

(१) वा०प्रा० ३।९८ में विधान करते हुए कहा गया है कि हिरण्य शब्द पूर्व में रहने पर अश्ववत् पद में दीर्घ नहीं होता है।[3] उदाहरण— अश्ववदित्यश्व -वत् (प० पा०) हिरण्यवदश्ववत् (वा०सं० ८।६३)।

(२) वा०प्रा० ३।९९ के अनुसार विख्येषम्, वीर, विश्व, वृत्र और वाजयन्त पद बाद में होने पर अभि पद का दीर्घ नहीं होते है।[4] यथा— अभिविख्येषमित्यभि-विख्येषम् (प० पा०) स्वरभिविश्येषम् अभिवीरऽइत्यभि-वीर (प०पा०) अभिवीरो (सं०पा०१७।३७)। इत्यादि।

(३) वा०प्रा० ३।१०० में विधान करते हुए कहा गया है कि वाजिनः पद बाद में होने पर अश्वस्य पद का दीर्घ नहीं होता है।[5] उदाहरण— अश्वस्य। वाजिनः (प० पा०) अश्वस्य वाजिन (वा०सं० २२।३७)।

(४) वा०प्रा० ३।१०६ में विधान करते हुए कहा गया है कि नयामि पद बाद में स्थित रहने पर पूर्ववर्ती अव पद का दीर्घ नहीं होता है।[6] उदाहरण— अव। नयामि (प०

---

१. विद्मासौत्रामण्याम्। -वा० प्रा० ३।१२५।

२. पूरुषोऽवसाने। — वा०प्रा० ३।११९।

३. नाश्ववद्धिरण्यात्। -वा० प्रा० ३।९८।

४. अभिविख्येषं वीर विश्व वत्स वृत्र वाजयन्तेषु। -वा० प्रा० ३।९९।

५. अश्वस्य वाजिन इति च। -वा० प्रा० ३।१००।

६. नाव नयामि। -वा० प्रा० ३।१०६।

पा०) अव नयामि (वा० स० ५।२५)।

(५) वा०प्रा० ३।११५ में विधान करते हुए कहा गया है कि होतृ उत्तर पद होने पर पूर्ववर्ती अद्य पद दीर्घ नहीं होता है।[1] उदाहरण– अद्य। होतः (प०पा०) अद्य होतरिषतः (सं० पा० २९।३४)।

व्यञ्जन वर्णों के विकार

पदान्त तथा पद के आदि में स्थित व्यञ्जनों के विकार का प्रतिपादन वा०प्रा० में किया गया है। पदान्त तथा पदादि में स्थित व्यञ्जनों के विकार को पाणिनीय व्याकरण में हल् (व्यञ्जन) सन्धि कहते हैं। वा०प्रा० में वर्णमाला के अन्तर्गत स्पर्श, अन्तः,स्था, ऊष्म एवं अयोगवाह वर्ण आते हैं। अतएव इसी क्रम से व्यञ्जनों के विकारों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) प्रथम स्पर्श का द्वितीय स्पर्शभाव

वा०प्रा० ४।१२२ में विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्य शौनक के मतानुसार असमान उच्चारण स्थान वाला मुत्संज्ञक वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती प्रथम स्पर्श-वर्ण अपने वर्ग का द्वितीय स्पर्श वर्ण हो जाता है।[2] यथा– अनुष्टप्। शारदी (प०पा०) अनुष्टुफ़ शारदी (सं०पा० १३।५७)। सम्यक्। स्रवन्ति (प०पा०) सम्यख् स्रवन्ति (सं०पा० १३।३८)। इस सन्दर्भ में वार्तिककार ने विधान करते हुए कहा है कि पौष्करसादि आचार्य के मतानुसार चयों (वर्गों के प्रथम वर्णो) के स्थान में द्वितीय वर्ण आदेश हो, शर (श, ष, स) बाद में रहने पर।[3]

पौष्करसादि के मतानुसार कहने से यह स्पष्ट होता है कि पाणिनि के मत में यह नहीं होता, अतः विकल्प से कार्य होता है। विकल्पार्थक वा आदि शब्दों से विकल्प अर्थ न कहकर आचार्य के नाम के उल्लेख करना आदर के लिए है। उदाहरण-- प्राङ्क् षष्ठः यहाँ पर ककार चय् है एव शर (सकार) बाद में है। अतः ककार के स्थान द्वितीय वर्ण खकार हो जायेगा। इस प्रकार प्राङ् ख् षष्ठः यह सिद्ध होता है। विकल्प न होने पर ककार एवं षकार मिलकर क्षकार बनकर प्राङ्क्षष्ठः बनता है।

(२) प्रथम स्पर्श वर्ण का तृतीय स्पर्शभाव

वा०प्रा० ४।१२० में विधान करते हुए कहा गया है कि स्वर एवं धि संज्ञक वर्ण

---

१. न होतरि। -वा० प्रा० ३।११५।

२. असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य। -वा० प्रा० ४।१२२।

३. चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। -पा० अ० ८।३।२८ पर वार्तिक।

बाद में होने पर पूर्ववर्ती पञ्चम से अन्य (अर्थात् प्रथम) स्पर्श वर्ण अपने वर्ग का तृतीय स्पर्श वर्ण हो जाता है।[१] उदाहरण– उत्। एनम् उदेनम् (सं०पा० १७।४९)। यत्। ग्रामे=यद् ग्रामे (सं०पा० ३।४.५)।

(३) अपञ्चम (तृतीय) स्पर्श वर्ण का प्रथम स्पर्श भाव

वा०प्रा० ४।१२१ में विधान करते हुए कहा गया है कि जित्संज्ञक वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती अपञ्चम (तृतीय) स्पर्श वर्ण स्ववर्गीय प्रथम स्पर्श वर्ण हो जाते हैं।[२] उदाहरण– ऊर्ग्। च (प०पा०) ऊर्क् च (सं०पा० १८।९)।

(४) अपञ्चम (प्रथम) स्पर्श वर्ण का पञ्चम स्पर्श

वा०प्रा० ४।१२३ में विधान करते हुए कहा गया है कि पञ्चम स्पर्श वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती अपञ्चम स्पर्श वर्ण अपने वर्ग का पञ्चम वर्ण हो जाता है।[३] उदाहरण– वाक्। मात्या वाङ्मात्या (सं०पा०१३।५८)। बट्। महान् बण्महान् (वा०सं० ३३।३९)।

(५) जकार का यकार भाव

वा०प्रा० ४।१६६ में विशिष्ट विधान है कि ऋकार के अतिरिक्त स्वर बाद में रहने पर, समानपद में स्थित स्वर-वर्ण पूर्व वाला जकार कतिपय शाखा के पाठ में यकार हो जाता है।[४] उदाहरण–अजो ह्यग्ने अयो ह्यग्ने (सं०पा०)। सूत्र में विहित विधान के अनुसार पाठ काण्व एवं माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में नहीं है। अनुपलब्ध शाखा में संभवतः कहीं ऐसा पाठ रहा होगा।

टवर्ग के विकार

(१) वा०प्रा० ३।४७ के अनुसार संख्या वाचक दश एवं वय वाचक दन्त शब्द बाद में रहने पर पूर्ववर्ती षट् शब्द का अन्तिम वर्ण उपधा सहित ओकार हो जाता है।[५] उदाहरण– षट्। दश=षोडश (प०पा०)=षोडश (सं०पा० १८।२५)। षट्। दन्तः=षोडन्तः।

(२) वा०प्रा० ४।१४६ में विधान करते हुए कहा गया है कि कतिपय आचार्यों के मतानुसार डकार एवं ढकार वर्ण दो स्वरों के मध्य में एवं समान पद में होने पर क्रमशः

---

१. स्पर्शोऽपञ्चमः स्वरधौ तृतीयम्। -वा० प्रा० ४।१२०।

२. जिति प्रथमम्। -वा० प्रा० ४।१२१।

३. पञ्चमे पञ्चमम्। -वा० प्रा० ४।१२३।

४. स्वरात् स्वरे समानपदे जो यन्नतु ऋकारे। -वा० प्रा० ४।१६६।

५. षड् दशदन्तयोः संख्यावयोऽर्थयोश्च। -वा० प्रा० ३।४७।

ळकार एव ळह्कार हो जाते हैं।[1] उदाहरण– इडे=इळे, अषाढा=अषाळ्हा।[2]

तवर्ग के विकार

(१) वा०प्रा० ४।१३ के अनुसार लकार बाद में होने पर पूर्ववर्ती तकार लकार हो जाता है।[3] उदाहरण– आसीत्। लोकम् (प०पा०) आसील्लोकम् (सं०पा० १४।३१)।

(२) वा०प्रा० ४।१४ के अनुसार लकार बाद में होने पर पूर्ववर्ती नकार अनुनासिक लकार हो जाता है।[4] उदाहरण– अस्मिन्। लोके अस्मिल्ँ लोके (सं०पा० ३।२१)।

(३) वा०प्रा० ४।९६ के अनुसार चवर्ग बाद में होने पर पूर्व पदान्तीय तवर्ग के वर्ण च वर्ग के वर्ण हो जाते है।[5] उदाहरण- तत्। चक्षुः (प० पा०) तच्चक्षुः (सं पा० ३६।२४)। आरात्। चित्=आराच्चिद्वेषः (सं० पा० २०।५२)। इत्यादि।

(४) वा०प्रा० ४।९७ के अनुसार शकार बाद में रहने पर पूर्व पदान्तीय तवर्ग का चवर्ग हो जाता है।[6] उदाहरण– तत्। शकेयम=तच्छकेयम् (सं०पा० १।५) आदित्यान्। श्मश्रुभिः=आदित्याञ्श्मश्रुभिः इत्यादि।

(५) वा०प्रा० ३।५५ के अनुसार दुघुक्षन् का धकार दकार हो जाता है।[7] उदाहरण– दुघुक्षन् दुदुक्षन्। (वा० सं० ३३।२८)।

(६) वा०प्रा० ३।४८ के अनुसार आद्या शब्द के बाद में स्थित तकार टकार हो जाता है यदि वह जाया शब्द आडम्बर शब्द के बाद में न हो।[8] उदाहरण– दार्वाघात इति दारु-आघातः (प०पा०) दार्वाघाटः (सं०पा० २४।३५)।

नकार तथा मकार के विकार

नकार तथा मकार अत्यधिक परिवर्तनशील स्पर्श वर्ण हैं। परिस्थिति के अनुसार ये दोनों वर्ण अनेक विकारों को प्राप्त करते हैं। वा०प्रा० में नकार एवं मकार के विकार दो

१. डढौ ळळ्हावेकेषाम्। -वा० प्रा० ४।१४६।
२. भाष्यकार इसे परकीय शाखा का विधान मानते हैं क्योंकि माध्यन्दिन शाखा में ये दोनों वर्ण नहीं होते हैं।
३. तकारो ले लम्। -वा० प्रा० ४।१३,
४. नुश्चानुनासिकम्। -वा० प्रा० ४।१४।
५. तकारवर्गश्चकारवर्गे चकारवर्गम्। -वा० प्रा० ४।९६।
६. शकारे च। -वा० प्रा० ४।९७।
७. दुधुक्षन् धौ दकारम्। -वा० प्रा० ३।५५।
८. त आद्यादनाऽम्बरात्। -वा० प्रा० ३।४८।

प्रकार के मिलते हैं। (१) उपधानुनासिकता सहित विकार (२) उपधानुनासिकता रहित विकार। नकार तथा मकार के उपधानुनासिकता के सन्दर्भ में वा०प्रा० में दो प्रकार के मत है—

प्रथम मत

वा०प्रा० ३।१३० में आचार्य कात्यायन ने विधान करते हुए कहा है कि विकारी नकार या मकार के बाद में स्वर या व्यञ्जन होने पर नकार और मकार से पूर्ववर्ती उपघा स्वर वर्ण का अनुनासिक हो जाता है।[1] उदाहरण गवयान्। त्वष्ट्रे (प०पा०) गवयाँस्त्वष्ट्रे (वा०सं० २४।२८)।

द्वितीय मत

(१) औपशवि आचार्य के मतानुसार विकारी नकार तथा मकार के बाद में केवल स्वर वर्ण होने पर ही उपधा को अनुनासिकता होती है।[2] उदाहरण- महान्। इन्द्रः (प०पा०) महाँ इन्द्रः (सं०पा० २६।१०)।

(२) वा०प्रा० ३।१३२ के अनुसार जिन विकारी नकार तथा मकार के बाद में व्यञ्जन वर्ण हैं ऐसे स्थलों पर औपशवि आचार्य नकार की उपधा में अनुस्वारागम का विधान करते हैं।[3] उदाहरण— प्लुषीन्। चक्षुषे (प०पा०) प्लुषींश्चक्षुषे (सं०पा० २४।२९)।

भाष्यकार उवट एवं अनन्त के मतानुसार अनुस्वारागम का औपशवि आचार्य का यह विधान उन्हीं स्थलों तक सीमित है जहाँ न,म वर्ण को सकार एवं शकार विकार होता है।[4]

नकार के विकार

उपधानुनासिकता सहित नकार के विकार

(१) वा०प्रा० ३।१३४ के अनुसार च और छ वर्ण बाद में होने पर पूर्व में स्थित नकार शकार हो जाता है तथा उपधा को अनुनासिक हो जाता है। उदाहरण— अहीन्। च (प०पा०) अहींश्च (वा०सं० १६।५) विद्वान्। छकारः (प०पा०) विद्वाँश्छकारः।

---

१. अनुनासिकमुपधा प्रागन्तः स्थायाः। -वा० प्रा० ३।१३०।

२. स्वर औपशविः। -वा० प्रा० ३।१३१।

३. अनुस्वारेण व्यञ्जने। -वा० प्रा० ३।१३२।

४. यत्र नकारस्य शकारः सकारौ वा विहितस्तत्रापि भवति। अनुस्वारं रोष्मसु इति वचनात्। वा०प्रा० ३।१३२ पर उ० भा०।

५. चछयोः शम्। -वा० प्रा० ३।१३४।

(२) वा०प्रा० ३।१३५ के अनुसार तकार एवं थकार वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती नकार सकार हो जाता है एवं उपधा को अनुनासिक होता है।[१] उदाहरण— गवयान्। त्वष्ट्रे (प०पा०) गवयाँस्त्वष्ट्रे (वा०सं० २४।२८)। अन्यान्। ते (प०पा०) अन्याँस्ते (वा०सं० १७।११)।

(३) वा०प्रा० ३।१४० के अनुसार पकार बाद में होने पर पूर्ववर्ती नॄन् पद का नकार विसर्जनीय हो जाता है एवं उपधा को अनुनासिक होता है।[२] उदाहरण— नॄन्। पाहि (प०पा०) नॄँ पाहि (सं०पा० १३।५२)।

(४) वा०प्रा० ३।१४१ के अनुसार स्वर वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती शत्रून्, परिधीन् क्रतून् और वनस्पतीन् पदों का नकार रेफ हो जाता है एवं उपधा को अनुनासिक होता है।[३] उदाहरण— शत्रून्। अप (प०पा०) शत्रूँरप (सं०पा० ७।३७) इत्यादि।

(५) वा०प्रा० ३।१४२ के अनुसार आकारोपध नकार यकार हो जाता है, तथा उपधा को अनुनासिक होता है। यदि स्वर बाद में हो।[४] उदाहरण— महान्। इन्द्रः (प० पा०) महाँ इन्द्रः (सं० पा० ७।४०)।

प्रस्तुत उदाहरण में नकार का यकार हो जाने पर वा० प्रा० ४।१२७ 'यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः' से उस यकार का लोप होकर महाँ इन्द्रः यह रूप बनता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पूर्वोपदिष्ट नियम के अनुसार लोप होने पर उपधानुनासिकता नहीं होती, अतः यहाँ किस प्रकार उपधा को अनुनासिकता विहित होती है। इसका उत्तर भाष्यकारों ने इस प्रकार दिया है—

(१) जहाँ साक्षात् न, म वर्ण का लोप होता है, वहाँ उपधानुनासिकता नहीं होती परन्तु यहाँ साक्षात् लोप नहीं है।

(२) यहाँ पर यकार लुप्त होने पर भी अपने व्यञ्जनत्व का कार्य कर रहा है। अतएव महाँ पद के आकार एवं इन्द्र पद के इकार में सन्धि नहीं होती। अतएव उपधानुनासिकता उचित है।[५]

---

१. तथयोः सम्। -वा० प्रा० ३।१३५।

२. नॄन् पकारे विसर्जनीयम्। -वा० प्रा० ३।१४०।

३. शत्रून् परिधीन् क्रतून् वनस्पतीन् स्वरे रेफम्। -वा० प्रा० ३।१४१।

४. आकारोपधो यकारम्। -वा० प्रा० ३।१४२।

५. ननु यथा- दधन्वान् स्ववान् यकारे लोपः (३।१३६) इति नकारलोपे कृते सत्युपधानुनासिक्यं न प्रर्वतते, एवमिहापि नकारस्य यकारम् तस्याश्रवणादुपधानुनासिक्यं न प्रवर्त्तते। अतः स्वकार्यकरणादुपधानुनासिक्यमपि भवति। वा० प्रा० ३।१४२ पर उवट। क्रमशः ..

(३) वा०प्रा० ४।९ के अनुसार ऊष्म-भिन्न वर्ण बाद में हों ऐसे ककार, खकार तता पकार, फकार वर्ण बाद में होने पर आम्रेडित (द्विरुक्त) पद का नकार सकार हो जाता है तथा उपधा का अनुनासिक हो जाता है।[1] उदाहरण– कान्। कान्=काँस्कान्।

उपधानुनासिकता-रहित विकार

(१) नकार का अनुस्वार भाव

वा०प्रा० ४।२ के अनुसार रेफ बाद में न होने पर (अर्थात् श, ष, स, ह वर्ण बाद में होने पर) पद मध्यवर्ती नकार अनुस्वार हो जाता है।[2] उदाहरण– जक्षिवान्। सः (प०पा०) जक्षिवांसः (वा०सं० ८।१९)। इस स्थिति में पूवर्वत् अपदान्त होने के कारण मकार के स्थान में अनुस्वार आदेश होकर 'आक्रंस्यते' पद सिद्ध होता है।

(२) नकार का सानुनासिक लकार भाव

वा०प्रा० ४।१४ में विधान करते हुए कहा गया है कि लकार बाद में रहने पर पूर्ववर्ती नकार सानुनासिक लकार हो जाता है।[3] उदाहरण-अस्मिन्। लोके (प०पा०) अस्मिँल्लोके (सं०पा० ३।२१)। त्रीन्। लोकान् (प०पा०) त्रीलॅंलोकान् (सं०पा० ९।३१)।

(३) नकार का लोप

नकार-लोप का विधान आचार्य कात्यायन ने वा०प्रा० में किया है, वा०प्रा० के आधार पर नकार लोप प्रस्तुत किया जाता है।

(१) यकार बाद में होने पर पूर्व में स्थित दधन्वान् और स्ववान् पद के नकार लुप्त हो जाते हैं।[1] उदाहरण– दधन्वान्। यः (प०पा०) दधन्वा यो (सं०पा० १९।२)।

(२) वा०प्रा० ३।१३७ के अनुसार रयिवृधः पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती नकार लुप्त हो जाता है।[2] उदाहरण– पीवोऽन्नानितिपीवः-अन्नान्। रयिवृधः (प०पा०) पीवोऽन्नारयि वृधः (सं० पा० २७।२३)।

ननु लोपे कृते उपधारञ्जनं न भवतीत्युक्तम्।

अन्यथा स्वरयोः सन्धिरपि स्यात्। -वा० प्रा० ३।१४२ पर अनन्त।

१. नुश्चाम्रेडिते। -वा० प्रा० ४।९।

२. नुश्चान्तः पदेऽरेफे। -वा० प्रा० ४।२।

३. नुश्चानुनासिकम्। -वा० प्रा० ४।१४।

४. दधन्वान् स्ववान्यकारे लोपम्। -वा० प्रा० ३।१३६।

५. रयिवृधे च। -वा० प्रा० ३।१३७।

(३) वा०प्रा० ४।४-५ के विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्य काश्यप एवं शाकटायन के मतानुसार रेफ एवं ऊष्म वर्ण बाद में रहने पर पूर्ववर्ती नकार लुप्त हो जाता है एवं उपधा को अनुनासिक भी होता है।[१] उदाहरण— तपून्-षिं=तपूँषि (सं०पा० १३।१०)। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नकार का लोप होने पर सामान्यरूप से उपधा को अनुनासिक नहीं होता किन्तु सूत्रकार कात्यायन ने अनुनासिका चोपधा (वा०प्रा० ४।४) विशेष सूत्र का विधान करके उपधानुनासिकता विधान प्रारम्भ किया है।

नकार विकार के अपवाद

(१) वा०प्रा० ३।१४३ के अनुसार तम पद बाद में होने पर पूर्व वाले नकार का सकार नहीं होता है।[२] उदाहरण— मदिन्-तमानामिति (प०पा०) मदिन्तमान्त्वा (सं०पा० ८।४६)।

(२) वा०प्रा० ३।१४४ के अनुसार निर्जगन्वान् के बाद तमस् पद आने पर निर्जगन्वान् पद का नकार विकार प्राप्त नहीं करता है।[३] उदाहरण— निर्जगन्वान्। तमसः (प० पा०) निर्जगन्वान्तमसः (सं०पा० १२।१३)।

(३) वा०प्रा० ३।१४२ के अनुसार धामन्, शत्रून्, चिकित्वान्, त्वम्, पूषन् और अर्वन् पदों के नकार विकृत नहीं होते हैं।[४] उदाहरण— धामन्। ते० (प०पा०) धामन्ते (सं०पा० १९।९९)। शत्रून्। तादि (प०पा०) शत्रून्तादि (सं०पा० १८।७१)। आदि।

(४) वा०प्रा० ३।१४६ के अनुसार अश्व से प्रारम्भ होने वाले अध्याय (माध्यन्दिन संहिता अध्याय २४ एवं काण्व संहिता अध्याय २६) में स्वर परे रहने पर आकारोपध नकार में विकार नहीं होता है।[५] उदाहरण— शिशुमारान्। आ (प०पा०) शिशुमारानालभते (सं०पा० २४।१९)। मण्डूकान्। उद्भ्यः (प०पा०) – मण्डूकानुद्भ्यो (सं०पा० २४।२)।

(५) वा०प्रा० ३।१४७ के अनुसार उत् उपसर्ग बाद में होने पर मनुष्यान्, तान्, लोकान् एवं अमित्रान् पदों के नकार प्रकृति भाव से रहते हैं। उदाहरण— मनुष्यान्। उत् (प०

---

१. अनुनासिका चोपधा। -वा० प्रा० १४।४, लोपं काश्यपशाकटायनौ। -वा० प्रा० ४।५।

२. न तमे। -वा० प्रा० ३।१४३।

३. निर्जगन्वान् तमसि। -वा० प्रा० ३।१४४।

४. धाम छत्रूञ्चिकित्वान्त्वं पूषन्नर्वन्निति च। -वा० प्रा० ३।१४५।

५. अश्वादौ चाध्याये। -वा० प्रा० ३।१४६।

पा०) मनुष्यानुद (सं०पा०९।३१) तान्। उत् (प०पा०) तानुज्जेषम् (सं०पा० ९।३१) इत्यादि।[1]

(६) वा०प्रा० ३।१४८ के अनुसार आप्नोति एवं इति पद परे रहने पर पूर्ववर्ती नकार अविकृत रूप से रहता है।[2] उदाहरण– भक्षान्। आप्नोति (प०पा०) भक्षानाप्नोति (सं०पा० १९।२९)। श्रपयान्। इति (प०पा०) श्रपयानिति (सं०पा० ११।५९)।

(७) वा०प्रा० ३।१४९ के अनुसार वैष्णवान् पद का नकार सङ्क्रम[3] (क्रम-संहिता) स्थल में प्रकृतिवत् रहता है।[4] उदाहरण– वैष्णवानव (क्रम सं०पा०)।

(८) वा०प्रा० ३।१५० के अनुसार गृहानेमि, गृहानुपह्वयामहे, वर्चस्वानहम्, मनुष्यानन्तरिक्षम्, अग्निष्वात्तानृतुमतः, पयस्वानग्ने, तानश्विना, पतङ्गानसन्दितः स्वर्गानपांपतिः, सपत्नानिन्द्रः, सपत्नानिन्द्राग्नी, नभस्वानार्द्रदानुः, विद्वानग्नेः देवानस्रेधत, अनड्वानाशुः, अथेतानष्टौ, विरूपानालभते, एतावानस्य, आयुष्मानग्ने, वायव्यानारण्याः, प्र विद्वानग्निना, अनड्वानधोरामौ, शत्रूननु यम्, यातुधानानस्थात्, अस्मानरिष्टेभिः- इन पदों के पूर्व पदान्तीय नकार विकार को प्राप्त नहीं करते है।[5] उदाहरण– गृहान्। उप (प०पा०) गृहानुपह्वयामहे (सं० पा० ३।४१) इत्यादि।

मकार के विकार

उपधानुनासिकता सहित मकार के विकार

(१) वा०प्रा० ४।७ के अनुसार चकार बाद में होने पर उकार युक्त पकार अर्थात् पु से परवर्ती मकार को शकार हो जाता है एवं उपधा को अनुनासिक हो जाता है।[6] उदाहरण– पुम्। चली=पुँश्चली (वा०सं० ३०।२२)।

---

१. मनुष्यांस्तांल्लोकानमित्रानुदि। -वा० प्रा० ३।१४७।

२. आप्नोतीत्योश्च। -वा० प्रा० ३।१४८।

३. सङ्क्रम को पारिभाषिक शब्द कहते हैं। वा० प्रा० ४।१६८, १६९, १७०-१८० तक के विधानों में सङ्क्रम पाठ का विधान किया गया है। इन विधानों के अनुसार संहिता पाठ के पद जब पदपाठ में अपठित होते हैं तब बीच के न पढ़े जाने वाले पदों को गलत्पद कहते हैं। गलत्पदों के पूर्ववर्ती पद एवं उत्तरवर्ती पदों के मध्य में सन्धि होना ही सङ्क्रम कहलाता है।

४. सङ्क्रमे च वैष्णवान्। -वा० प्रा० ३।१४९।

५. गृहानैमि गृहानुपह्वायमहे--अस्मानरिष्टनेभिः। -वा० प्रा० ३।१५०।

६. शं चे पकारादुकारोदयात्। -वा० प्रा० ४।७।

(२) वा०प्रा० ४।८ के अनुसार ऊष्म वर्णों से असंपृक्त क, ख, तथा प, फ बाद में होने पर अन्तःपदीय मकार को सकार हो जाता है एवं उपधा को अनुनासिक होता है।[1] उदाहरण– सम् (प०पा०) कृतिः-संस्कृतिः (सं० पा० ७।१४)। पुम्। पुत्रः पुंस्पुत्रः।

(३) वा०प्रा० ४।५ में विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्य काश्यप एवं शाकटायन के मतानुसार रेफ एवं ऊष्म वर्ण बाद में रहने पर पूर्वपदान्तीय मकार का लोप हो जाता है एवं उपधा को अनुनासिक होता है।[2] उदाहरण– अपाम्। रसेन (प० पा०) अपाँ रसेन (सं०पा०)। त्वाम्। शश्वन्तः (प०पा०) त्वाँ शश्वन्तः (सं०पा०)।

उपधानुनासिकता रहित मकार के विकार

(१) मकार का अनुस्वारभाव (२) वा०प्रा० ४।१ के अनुसार रेफ एवं ऊष्म वर्ण परे रहते पूर्वपदान्तीय मकार को अनुस्वार हो जाता है।[3] उदाहरण– अपाम्। रसम् (प० पा०) अपांरसम् (सं०पा० ९।३)। त्वाम्। शश्वन्तः (प०पा०) त्वां शश्वन्तः (सं०पा० १७।७६)।

(२) वा०प्रा० ४।२ के अनुसार ऊष्म वर्ण बाद में रहने पर पद के मध्य में स्थित मकार को भी अनुस्वार हो जाता है।[4] किं शिलाय (सं० पा० १६।४३) आदि।

मकार का सानुनासिक अन्तःस्थ भाव

वा०प्रा० ४।१० में विधान करते हुए कहा गया है कि अन्तःस्थ वर्ण बाद में होने पर पूर्व में स्थित मकार सानुनासिक पर सवर्ण अन्तःस्थ वर्ण हो जाता है।[5] उदाहरण– सम्। योमि (प०पा०) सँय्योमि (सं०पा० १।२२)। तम्। लोकम् (प०पा०) तँल्लोकम् (सं०पा० २०।२५)।

मकार का स्पर्शीय परपञ्चमभाव

वा०प्रा० ४।१२ के अनुसार स्पर्श वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती मकार परवर्ती स्पर्श का पञ्चम वर्ण हो जाता है।[6] उदाहरण– व्रतम्। कृणुत (प०पा०) व्रतङ्कृणुत (सं०पा० ४।११)। व्रतम्। चरिष्यामि (प०पाठ) व्रतञ्चरिष्यामि (सं०पा० १।५)।

---

१. समन्तःपदे कखपफेष्वनूष्मपरेषु। -वा० प्रा० ४।८।
२. लोपं काश्यपशाकटायनौ। -वा० प्रा० ४।५।
३. अनुस्वारं रोष्मसु मकारः। -वा० प्रा० ४।१।
४. नुश्चान्तःपदेऽरेफे। -वा० प्रा० ४।२।
५. अन्तःस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्। -वा० प्रा० ४।१०।
६. स्पर्शे परपञ्चमम्। -वा० प्रा० ४।१२।

मकार का प्रकृतिभाव

वा०प्रा० ४।६ के अनुसार राट् एवं राज्य शब्द परे रहते सम् सम्बन्धी मकार प्रकृतिभाव से रहता है।[1] उदाहरण– सम्राडिति सम्-राट् (प०पा०) सम्राट्चक्षुः (सं०पा० २०।५)। साम्राज्यमितिसाम्-राज्यम् (प०पा०) साम्राज्यम् (सं०पा० २।२४)।

ऊष्म वर्णों के विकार

(१) वा०प्रा० ४।९८ के अनुसार स्पर्श से भिन्न वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती तवर्गीय वर्ण से बाद में आने वाला पदादि शकार छकार हो जाता है।[2] उदाहरण– तत्। शकेयम् (प०पा०) तच्छकेयम् (सं०पा०१।५) स्वधावान्। शुक्रः(प०पा०) स्वधावाञ्छुक्रः (सं०पा० ३३।५)।

(२) वा०प्रा० ४।१०० के अनुसार संज्ञार्थक अश्व शब्द से बाद में आने वाले स्थ पद का सकार तकार हो जाता है।[3] उदाहरण– अश्वस्थ। वः (प०पा०) अश्वत्थेवोः (सं०पा० १२।९७)।

(३) वा०प्रा० ३।४५ के अनुसार अनस् शब्द के सकार को डकार हो जाता है, वाह शब्द बाद में होने पर।[4] उदाहरण– अनड्-वाहम् (प०पा०) अनड्वाहम् (सं०पा० ३५।११)।

(४) वा०प्रा० ४।१२४ में विधान करते हुए कहा गया है कि तृतीय स्पर्श में परिणत (वा०प्रा० ४।१२० द्वारा) अपञ्चम स्पर्श से बाद वाला हकार पूर्ववर्ती स्पर्श वर्ग का चतुर्थ वर्ण हो जाता है।[5] उदाहरण– उत्। हर्षय (प०पा०) उद् हर्षय=उद्धर्षय (सं०पा० १७।४२)।

(५) वा०प्रा० ४।१२५ में विधान करते हुए कहा गया है कि जातुकर्ण्य आचार्य के मतानुसार ऋकार से परवर्ती एवं तृतीय भाव प्राप्त स्पर्शोतरवर्ती हकार स्पर्शवर्गीय चतुर्थ वर्ण में परिवर्तित नहीं होता।[6] उदाहरण– सममुस्रोत। हृदः (प०पा०) सममुस्रोत हृदः (सं०पा० १८।५८)।

---

१. प्रकृत्या सम्राट्साम्राजि। -वा० प्रा० ४।६।

२. परश्चास्पर्शपरम्। -वा० प्रा० ४।९८।

३. अश्वात् स्थे तकारं संज्ञायाम्। -वा० प्रा० ४।१००।

४. अनसो वाहो सकारो डकारम्। -वा० प्रा० ३।४५।

५. हश्च तस्मात्पूर्वचतुर्थम्। -वा० प्रा० ४।१२४।

६. नकारपरो जातूकर्ण्यस्य। -वा० प्रा० ४।१२५।

वा०प्रा० में मूर्धन्यभाव (नति) का विधान

वा०प्रा० के तृतीय अध्याय में नति विषयक नियमों का सविस्तार विधान किया गया है। तृतीय अध्याय में मुख्यरूप से सकार एवं नकार के मूर्धन्य भाव का विधान किया गया है। वा०प्रा० ३।७९ में केवल लकार एवं थकार के मूर्धन्यभाव का विधान किया गया है। वा०प्रा० के अनुसार अब नति सन्धि का विवेचन किया जाता है–

नकार का मूर्धन्यभाव

(१) वा०प्रा० ३।८४ के अनुसार समान पद में ऋकार, षकार एवं रेफ से परवर्ती नकार मूर्धन्य (णकार) हो जाता है।[१] उदाहरण– नृणाम् (प०पा०) नृणाम् (वा० सं० ११।२७)। पूष्णः (प०पा०) पूष्णः (सं०पा० १।१०)। पूर्णा (प०पा०) पूर्णा (सं०पा० ३।४९)।

(२) वा० प्रा० ३।८५ के अनुसार ऋकार, षकार एवं रेफ से बाद में स्थित समानपदीय नकार स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग, पवर्ग के द्वारा व्यवहित होने पर भी णकार हो जाता है।[२] उदाहरण– नृमनाऽइति नृ-मनाः (प०पा०) नृमणा (सं०पा० १२।२८)। पुरीषवाहनऽइति पुरीष-वाहनः (प०पा०) पुरीषवाहणः (सं०वा० ११।४४)। इत्यादि।

(३) वा०प्रा० ३।८८ के अनुसार प्र उपसर्ग पूर्वक नि, एवं नुद् धातु के सभी रूप तथा हिनोमि पद का नकार णकार हो जाता है।[३] उदाहरण– प्र। नय (प०पा०) प्रणय (सं०पा० ११।८)। प्र। नुद। नः (प०पा०) प्रणुदानः (सं०पा० १५।१) प्र। हिनोमि (प०पा०) प्र हिणोमि (सं०पा० ३५।१९)।

निपातन से नकार का मूर्धन्यभाव

(१) वा०प्रा० ३।८६ के अनुसार निषण्णाय, रथवाहणम्, इन्द्र एणम्, परिणीयते, समिन्द्रणः, उरुष्याणः, रक्षाणः, मोषूणः, षुणः, तुषुणासत्या, स्वर्ण, अस्थूरिणो और प्रणऽआयूंषि पदों में नकार निपातन से णकार हो जाता है।[४] उदाहरण– निसन्नायेति-नि सन्नाय (प०पा०)– निषण्णाय (सं०पा० २२।८)। रथवाहनमितिरथ वाहनम् (प०पा०) रथवाहणम् (सं०पा० २९।४५)। इत्यादि।

---

१. ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे। -वा० प्रा० ३।८४।

२. स्वरयवहकपेश्च। -वा० प्रा० ३।८५।

३. प्र नैतिनुदातिहिनोमीनाम्। -वा० प्रा० ३।८८।

४. निषण्णाय रथवाहणं--प्रणऽआयूंषि। -वा० प्रा० ३।८६।

(२) आचार्य शाकटायन के मत परिणः पद का नकार निपातन से णकार होता है (३।८७)।[1] उदाहरण– परि। नः (प०पा०) परि णो (सं०पा०)।

नकार मूर्धन्यभाव के अपवाद

सूत्रकार ने णत्व के अपवाद को प्रकृत्या शब्द से बतलाया है। अपवाद के उदाहरण समानपदीय हैं जो इस प्रकार है।

(१) वा०प्रा० ३।८९ के अनुसार पदान्तीय नकार मूर्धन्य नहीं होता अर्थात् प्रकृत रूप में रहता है।[2] उदाहरण– पितॄन् (प०पा०) पितॄन् (सं०पा० १९।७०)। पूषन् (प० पा०) पूषन्तव (सं०पा० ३४।४१)।

(२) वा०प्रा० ३।९० के अनुसार एक पद में स्थित नि, वनि, नसः और प्रपीनम् शब्द के नकार का मूर्धन्य नहीं होता है अर्थात् यथास्थित रूप में रहता है।[3] उदाहरण– बभ्रुनिकाशाऽइति ब्रभुनिकाशाः (प०पा०) बभ्रुनीकाशाः (सं०पा० २४।१८)। ब्रह्मवनीति-ब्रह्मवनि (प०पा) ब्रह्मवनि (सं०पा० १।१७)। इत्यादि।

(३) वा०प्रा० ३।९१ में विधान करते हुए कहा गया है कि कतिपय आचार्यों के मत के अनुसार श्रीमनाः पद का नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[4] उदाहरण– श्रीमनाः (प०पा०) श्रीमनाः (सं०पा० १७।५६)।

(४) वा०प्रा० ३।९२ के अनुसार इन्द्राग्नी, चित्रभानो, वार्त्रध्यनम्, दुःष्वप्न्यम्, ध्रुवयोनिः, पुरोऽनुवाक्याभिः, पुरोऽनुवाक्याः और चर्मम्नम् पदों के नकार प्रकृतिभाव से रहते हैं।[5] उदाहरण– इन्द्राग्नी (प०पा०) इन्द्राग्न्योः (सं०पा० २।१५)। चित्रभानो (प० पा०) चित्रभानो (सं०पा० २०।७८)।

(५) वा०प्रा० ३।९३ के अनुसार तवर्ग बाद में होने पर णत्व योग्य नकार प्रकृतिभाव से रहता है।[6] उदाहरण– तृम्पन्तु। होत्राः (प०पा०) तृम्पन्तु होत्राः (सं०पा० ३।९५)।

(६) वा०प्रा० ३।९४ के अनुसार षकार से परवर्ती ऋकार संयुक्त नकार प्रकृतिभाव

---

१. परि ण इति शाकटायनः। -वा० प्रा० ३।८७।

२. प्रकृत्या पदान्तीयः। -वा० प्रा० ३।८९।

३. नि वनि नसः प्रपीनम्। -वा० प्रा० ३।९०।

४. श्रीमना इत्येके। -वा० प्रा० ३।९१।

५. इन्द्राग्नी चित्रभानो---पुरोऽनुवाक्याश्चर्मम्नम्। -वा० प्रा० ३।९२।

६. त वर्गे च। -वा० प्रा० ३।९३।

से रहता है।[1] उदाहरण— त्वेषनृम्णइति त्वेष-नृम्णः (प०पा०) त्वेष नृम्णः (सं०पा० ३३।८०)।

(७) वा०प्रा० ३।९५ के अनुसार ऋ, ष, एवं रेफ से बाद में स्थित नकार यदि शकार, लकार, सकार, चवर्ग, टवर्ग एवं तवर्ग के वर्णों से व्यवहित होता है तो वह प्रकृतिभाव से रहता है।[2] उदाहरण— दृशानः (प० पा०) दृशानः (सं० पा० १२।१)। कृशानुः (प० पा०) कृशानुः (सं०पा० ५।३२) आदि।

सकार का मूर्धन्यभाव (नति)

(१) वा० प्रा० ३।५६ के अनुसार एक ही पद में वर्तमान भावि (अ, आ को छोड़कर सभी) स्वर वर्ण से बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है।[3] उदाहरण— सीसधाम (प० पा०) सीषधाम (सं०पा० २५।४६)।

(२) वा०प्रा० ३।५७ के अनुसार भावि (अ, आ से भिन्न स्वर) स्वर से पश्चाद्वर्ती समानपदीय सकार अनुस्वार से व्यवहित होने पर भी षकार हो जाता है।[4] उदाहरण— तपूंषि (प०पा०) तपूंषि (सं०पा०१३।९) हवींषि (प०पा०, हवींसि सं०पा० १९।२०)।

(३) वा०प्रा० ३।५८ के अनुसार क् एवं रेफ से परवर्ती होने पर समानपदीय सकार षकार हो जाता है।[5] उदाहरण— दिक्षु (प०पा०, सं०पा० १६।६) गीषु (प०पा०, सं०पा० ३३।१)।

(४) वा० प्रा० ३।५९ के अनुसार नि के पश्चात् सदित पद का सकार षकार हो जाता है।[6] उदाहरण— निसीदत (प०पा०) निषीदत (सं०पा० ७।३४)।

(५) वा०प्रा० ३।६० के अनुसार नि से पश्चात् ससाद पद का सकार षकार हो जाता है।[7] उदाहरण— नि-ससाद। (प०पा०) निषसाद (सं०पा० १०।२७)।

---

१. षादन्तर ऋकारे। -वा० प्रा० ३।९४।
२. शिलिसिवर्गमध्यमव्यवहितोऽपि। -वा० प्रा० ३।९५।
३. भाविभ्यः सः षं समानपदे। -वा० प्रा० ३।५६।
४. अनुस्वाराच्च तत्पूर्वात्। -वा० प्रा० ३।५७।
५. करेफाभ्यां च। -वा० प्रा० ३।५८।
६. नेः सीदतेः। -वा० प्रा० ३।५९।
७. ससाद च। -वा० प्रा० ३।६०।

(६) वा०प्रा० ३।६१ के अनुसार ओकारान्त पद से पश्चात्वर्ती सु पद का सकार षकार हो जाता है।[1] उदाहरण– मो। सु (प०पा०) मोषूणः (सं०पा० ३।४६)।

(७) वा०प्रा० ३।६२ के अनुसार अपृक्त ऊकार से पश्चात्वर्ती सु पद का सकार षकार हो जाता है।[2] उदाहरण– ऊंऽइत्यूं। सु (प०पा०) ऊषुणः (सं०पा० ११।४२)।

(८) वा०प्रा० ३।६३ के अनुसार अभि उपसर्ग से पश्चात्वर्ती सु पद का सकार षकार हो जाता है।[3] उदाहरण– अभि। सु (प०पा०) अभीसूणः (सं०पा० ३६।६)।

(९) वा०प्रा० ३।६४ के अनुसार परि उपसर्ग से पश्चात्वर्ती सिञ्चति पद का सकार षकार हो जाता है।[4] उदाहरण– परि। सिञ्चन्ति (प०पा०) परिषिञ्चन्ति (सं०पा० १९।२)।

(१०) वा०प्रा० ३।६५ के अनुसार अकार से व्यवहित होने पर भी अभि से परवर्ती सिञ्चति धातु का सकार षकार हो जाता है।[5] उदाहरण– अभि। असिञ्चन् (प०पा) अभ्याषिञ्चन् (सं०पा० १०।१)

(११) वा०प्रा० ३।३६ के अनुसार वि उपसर्ग से परवर्ती यकार संयुक्त सकार षकार हो जाता है।[6] उदाहरण– वि। स्यामि (प० पा०) विष्यामि (सं० पा० १२।६५)।

(१२) वा०प्रा० ३।६७ के अनुसार हि शब्द से पश्चाद्धवर्ती सकार षकार हो जाता है यदि उसके बाद मकार अथवा थकार हो।[7] उदाहरण– हि। स्मा (प०पा०) हिष्मा ते (स०पा० ३।४६)। हि। स्था (प०पा०) हिष्ठा (सं० पा० ११।५०)।

(१३) वा०प्रा० ३।६८ के अनुसार मकार या थकार परे रहते द्यवि पद से परवर्ती सकार षकार हो जाता है।[8] उदाहरण– द्यवि-स्थ (प०पा०) द्यविष्ठ (सं० पा० ३३।५३)।

(१४) वा०प्रा० ३।६९ के अनुसार निः उपसर्ग से पश्चात्वर्ती स्त्या एवं स्तन् धातु

---

१. ओकारात्सु। -वा० प्रा० ३।६१।
२. ऊश्चापृक्तात्। -वा० प्रा० ३।६२।
३. अमेश्च। -वा० प्रा० ३।६३।
४. परेश्च सिञ्चतेः। -वा० प्रा० ३।६४।
५. अव्यवहितोऽपि। -वा० प्रा० ३।६५।
६. वेर्युदयः। -वा० प्रा० ३।६६।
७. हेर्मथोदयः। -वा० प्रा० ३।६७।
८. द्यवेश्च। -वा० प्रा० ३।६८।

का सकार षकार हो जाता है।[१] उदाहरण– निः। स्त्यायताम् (प०पा०) निष्ट्यायताम् (सं०पा० ६।१५)। निः। स्तनिहि (प०पा०) निष्टनिहि (सं०पा० २९।५६)।

(१५) वा०प्रा० ३।७० के अनुसार ततक्षु बाद में होने पर निः (निस्) उपसर्ग का सकार षकार हो जाता है।[२] निः। ततक्षुः (प०पा०) निष्टतक्षुः (सं०पा० १७।८५)।

(१६) वा०प्रा० ३।७१ के अनुसार अनु से परवर्ती स्तुवन्ति पद का सकार षकार हो जाता है।[३] उदाहरण– अनु। स्तुवन्ति (प०पा०) अनुष्टुवन्ति (सं०पा० ३३।९७)।

(१७) वा०प्रा० ३।७३ के अनुसार वन्दारु और माकिः पदों के विसर्ग के स्थान पर होने वाला सकार षकार हो जाता है।[४] उदाहरण– वन्दारुः। ते (प०पा०) ते वन्दारुष्टे (सं०पा० १२।४२)। माकिः। ते (प०पा०) माकिष्टे (सं०पा० १३।११)।

(१८) वा०प्रा० ३।७५ के अनुसार सधिः, अंशुः, और अदितिः पदों के विसर्जनीय के स्थान पर होने वाला सकार षकार हो जाता है।[५] उदाहरण– सधिः। तव (प०पा०) सधिष्टव (सं०पा० १२।३६)। अंशुः। ते (प०पा०) अंशुष्टे (सं०पा० ५।७)। अदितिः त्वा (प०पा०) अदितिष्ट्वा (सं०पा० ११।६१)।

(१९) वा०प्रा० ३।७६ के अनुसार वायुः, अग्निः एवं अग्नेः पदों के विसर्जनीय के स्थान पर होने वाला सकार षकार हो जाता है, यदि बाद में एकाक्षर पद हो।[६] उदाहरण– वायुः। ते (प०पा०) वायुष्टे (सं०पा० १४।१४)। अग्निः। ते (प०पा०) अग्निष्टे (सं०पा० १३।२४)। इत्यादि।

(२०) वा०प्रा० ३।७७ के अनुसार एकाक्षर पद से पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार षकार हो जाता है, यदि उस एकाक्षर पद के परे सकार हो।[७] उदाहरण– वृहस्पतिः। त्वा। सुम्ने (प०पा०) वृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने (सं०पा० ४।२१)।

(२१) वा०प्रा० ३।७८ के अनुसार मातृभिः, अर्चिभिः, पायुभिः एवं वरुत्रीः पदों

---

१. नेः स्त्यास्तनोः। -वा० प्रा० ३।६९।

२. ततक्षो। -वा० प्रा० ३।७०।

३. अनोः स्तुवन्त्याम्। -वा० प्रा० ३।७१।

४. वन्दारुर्माकिः। -वा० प्रा० ३।७३।

५. सधिरंशुरदितिः। -वा० प्रा० ३।७५।

६. वायुरग्निरग्नेरेकाक्षरे। -वा० प्रा० ३।७६।

७. सकारे च। -वा० प्रा० ३।७७।

के विसर्जनीय का सकार षकार हो जाता है, यदि बाद में एकाक्षर पद हो।[1] उदाहरण– मातृभिः। त्वम् (प०पा०) मातृभिष्ट्वम् (सं०पा० १२।३२)। पायुभिः। त्वम् (प०पा०) पायुभिष्ट्वम् (सं०पा० ३३।६९) इत्यादि।

निपातन से सकार का मूर्धन्यभाव

(१) वा०प्रा० ३।७२ के अनुसार दुःष्वप्र्यम् पद में सकार का मूर्धन्यभाव षकार निपातन से होता है।[2] उदाहरण– दुःष्वप्न्यम्। दुःष्वप्न्यमितिदुः-स्वप्न्यम् (प०पा०) दुःष्वप्न्यम् (सं०पा० ३५।११)।

भाष्यकार उवट ने निपातन का हेतु बतलाते हुए कहा है कि सामान्य नियमानुसार समान पद में भावी स्वर वर्ण से पश्चाद्धवर्ती सकार षकार होता है, किन्तु यहाँ विसर्ग का व्यवधान होने से उक्त विधान लागू नहीं होता, अतएव षत्व का निपातन किया जाता है।[3]

(२) वा०प्रा० ३।७४ के अनुसार पृतना शब्द से परे रहने पर सह शब्द का सकार निपातन से षकार होता है।[4] उदाहरण– पृतनासाह्यायिति पृतनासाह्याय पृतनाषाह्याय (सं० पा० १८।६८)।

भाष्यकार उवट के अनुसार यहाँ कण्ठ्य वर्ण पूर्व में होने पर सामान्य नियम के अनुसार षत्व प्राप्त नहीं था। अतएव इस विशेष विधान द्वारा षत्व का निपातन किया गया है।[5]

सकार के मूर्धन्यभाव के अपवाद

मूर्धन्यभाव के अपवाद के सन्दर्भ में सूत्रकार कात्यायन का मत है कि यद्यपि सूत्रों में परिगणित स्थलों के समान पदीय एवं नानापदीय सकार मूर्धन्या भाव प्राप्त नहीं करते हैं, अपितु प्रकृतिवत् रहते हैं। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि नानापद में स्थित सकार, तकाल बाद में होने पर ही प्रकृतिवत् रहते हैं।[6] सकार के मूर्धन्यभाव के अपवाद निम्न है।

(१) वा०प्रा० ३।८१ के अनुसार अनुसन्तनोतु, बृहस्पतिसुतस्य, सुसमिद्धाय, सुस-न्दृशम्, अभिसत्वा, अभिसंविशन्तु, सस्याः, अतिस्थूलम्, मुसले, पत्नीसंयाजान्, क्रतुस्थला,

---

१. मातृभिरर्चिभिः पायुभिर्वहत्रीः। -वा० प्रा० ३।७८।

२. दुःष्वप्न्यम्। -वा० प्रा० ३।७२।

३. भाविभ्य उत्तरस्य सकारस्य षत्वमित्युक्तं समानपदे। इह तु विसर्जनीयेन व्यवधानान्न प्राप्नोति अतः षत्वं निपात्यते। -वा० प्रा० ३।७२ पर उवट।

४. सहेः पृतनायाः। -वा० प्रा० ३।७४।

५. अभाविपूर्वत्वात् षकारो न प्राप्नोति। -वा० प्रा० ३।७४ पर उवट।

६. प्रकृत्या नानापदस्थे तकारे। -वा० प्रा० ३।८०।

अञ्जिसक्थः, दिविस्पृशा, हृदिस्पृशम्, हिंसीः, ऋक्सामयोः, ऋक्सामाभ्याम्, सीसेन, सीसाः, सीसम्, पशुसनि, गोसनि, प्रतिसदृङ्, प्रतिसदृक्षासः और चतुस्त्रिंशत् पदों के सकार का मूर्धन्यभाव नहीं होता अपितु प्रकृतिभाव से रहते हैं।[१] उदाहरण– अनुसन्तनोतु (प०पा०, का०सं०पा० २।५३) वृहस्पतिसुतस्येति बृहस्पति-सुतस्य (प०पा०) बृहस्पतिसुतस्य (सं०पा० ८।९) इत्यादि।

(२) वा०प्रा० ३।८२ के अनुसार ऋकार, रेफ और अर् परे रहने पर भावी स्वरों से बाद में आने वाला सकार मूर्धन्य नहीं होता है।[२] उदाहरण– तिसृभिः (प०पा०, सं०पा० १४।२८)। तिस्रश्च (प०पा०, सं०पा १७।२४)। विसर्जनम् (प०पा०, सं०पा० १।१५)।

(३) वा०प्रा० ३।८३ के अनुसार पृथिवि, दिवि, उपरि, चर्षणि, शकुनि एवं यासि पद पूर्व में रहने पर परवर्ती सकार मूर्धन्य नहीं होता है।[३] उदाहरण पृथिविसदमितिपृथिवि-सदम् (प०पा०) पृथिविसदन्त्वा (सं०पा० ९।२)। दिविसदमिति दिवि-सदम् (प०पा०) दिविसदन्त्वा (सं०पा० ९।२)। इत्यादि।

तकार और थकार का मूर्धन्यभाव (नति)

वा० प्रा० ३।७९ के अनुसार मूर्धन्य षकार से बाद में आने वाले तकार एवं थकार वर्ण क्रमशः मूर्धन्य वर्ण टकार एवं ठकार हो जाते हैं।[४] उदाहरण– वरुत्रीः। त्वा (प० पा०)= वरुत्रीष् त्वा वरुत्रीष्ट्वा (सं०पा० ११।६१)। आखरेष्ठ इत्याखरेस्थः (प० पा०)= आखरेष्ठः (सं०पा० २।१)।

विसर्जनीय के विकार (विसर्ग-सन्धि)

वैदिक सन्धियों में विसर्ग-सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वा०प्रा० ३।६ से विसर्जनीय सन्धि का अधिकार प्राप्त होता है।[५] विसर्जनीय वर्ण सर्वदा पदान्तीय होता है किन्तु कतिपय पदों के मध्य में भी यह वर्ण प्राप्त होता है, उदाहरणार्थ– दुःष्वप्न्यम् (सं० पा० ३५।११)।

विसर्ग सन्धि के सन्दर्भ में रिफित और अरिफित इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रायः प्रयोग किया जाता है। विसर्जनीय दो प्रकार का होता है– (१) रिफित (२) अरिफित। वा०प्रा० १।१६८ तक नौ सूत्रों में रिफित विसर्जनीय पदों को गिनाया गया है, जिनका

---

१. अनुसन्तनोतु---प्रतिसदृक्षासश्चतुस्त्रिंशत्। -वा० प्रा० ३।८१।
२. ऋकाररेफारुदयश्च। -वा० प्रा० ३।८२।
३. पृथिविदिव्युपरिचर्षणिशकुनियासिभ्यः। -वा० प्रा० ३।८३।
४. षातथौ मूर्धन्यम्। -वा० प्रा० ३।७९।
५. विसर्जनीयः। -वा० प्रा० ३।६।

उल्लेख प्रस्तुत के संज्ञा-परिभाषा प्रकरण में किया गया है। विसर्गान्त स्वरूप वाले जिन पदों को रिफित संज्ञा के अन्तर्गत नहीं गिनाया गया है वे सभी पारिशेष्यात् अरिफित विसर्जनीय हैं। वा०प्रा० ४।३५ में रित् शब्द से रिफित विसर्जनीय का संकेत किया गया है।[१] अब विसर्जनीय के विकारों का विवरण किया जाता है–

विसर्जनीय का उकार भाव

(१) वा०प्रा० ३।४२ के अनुसार दकार बाद में रहने पर दुःपद का विसर्जनीय उकार हो जाता है तथा उकार से परवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य हो जाता है।[२]उदाहरण–दुः-दभः (प०पा०) दूडभः (सं०पा० ३।३६)।

(२) वा०प्रा० ३।४३ के अनुसार नाश बाद में होने पर भी दुः पद का विसर्जनीय उकार हो जाता है तथा दन्त्य वर्ण मूर्धन्य हो जाता है।[३] उदाहरण– दुः-नाशः दूणाशः।

(३) वा०प्रा० ३।४४ के अनुसार दाश पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती पुरःपद का विसर्जनीय उकार हो जाता है एवं उत्तरवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य हो जाता है।[४] उदाहरण–पुरः-दाशः (प०पा०) पुरोडाशः (सं०पा० ३।४४)।

विसर्जनीय का ओकार भाव

(१) वा०प्रा० ३।४६ में विधान करते हुए कहा गया है कि सिञ्च पद बाद में होने पर हतः पद का विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है तथा उत्तरवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य वर्ण हो जाता है।[५] उदाहरण– इतः। सिञ्चत् (प०पा०) इतोषिञ्चत (सं०पा० १९।२)।

(२) वा० प्रा० ४।४३ के अनुसार धि संज्ञक व्यञ्जन वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती सोपध अरिफित विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है।[६] उदाहरण–अधशंसः। ध्रुवा (प०पा०) अधशंसो ध्रुवा (सं०पा० १।१)। मातरिश्वनः। धर्मः (प०पा०) मातरिश्वनो धर्मः (सं०पा० १।२)।

---

१. भाव्युपधश्च रिद्विसर्जनीयः। -वा० प्रा० ४।३५।

२. उकारं दुर्दे। -वा० प्रा० ३।४२।

३. नाशे च। -वा० प्रा० ३।४३।

४. पुरो दाशे। -वा० प्रा० ३।४४।

५. ओकारमितः सिञ्चतौ सोपधः। -वा० प्रा० ३।४६।

६. सर्वो अःकार ओकारम्। -वा० प्रा० ४।४३।

(३) वा०प्रा० ४।४४ के अनुसार अकार बाद में होने पर पूववर्ती अरिफित विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है।[1] उदाहरण—वेदः। असि (प०पा०) वेदोऽसि (सं०पा० २।२१)।

(४) वा०प्रा० ४।४५ के अनुसार हकार बाद में होने पर एषः पद का विसर्जनीय उपधा सहित ओकार हो जाता है।[2] उदाहरण- एषः। ह (प०पा०) एषो ह (सं०पा० ३२।३) भाष्यकार उवट के मतानुसार यहाँ वा० प्रा० ३।१७ द्वारा विसर्जनीय का लोप प्राप्त था, जिसे असिद्ध कर निपातन द्वारा ओकार का विधान किया गया है।[3]

(५) वा०प्रा० ४।४६ में विधान करते हुए कहा गया है कि रुह धातु एवं रात्रि पद परे रहने पर क्रमशः एवं अहः पद का विसर्जनीय ओकार हो जाता है।[4] उदाहरण—स्वः। रुहाणाः (प०पा०) स्वो रुहाणा (सं०पा०११।२२)। अहः। रात्रि (प०पा०) अहोरात्रि (सं०पा० ३१।२२)।

विसर्जनीय का यकार भाव

वा०प्रा० ४।३८ में विधान करते हुए कहा गया है कि कण्ठ्य वर्ण (अकार) पूर्व में होने पर तथा स्वर वर्ण बाद में रहने पर अरिफित विसर्जनीय यकार हो जाता है।[5] उदाहरण— श्वित्रः। आदित्यानाम् (प०पा०) श्वित्रऽआदित्यानाम् (सं०पा०२४।३९)।

यहाँ पर विसर्जनीय को यकार होने पर वा० प्रा० ४।१२५ विधान द्वारा उस यकार का लोप हो जाता है। इस प्रकार संहितापाठ में श्वित्रऽआदित्यानाम् यह विवृति स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

विसर्जनीय का रेफभाव

(१) वा०प्रा० ३।३९ के अनुसार पति शब्द परे रहने पर अहः पद का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।[6] उदाहरण— अहः। पतये (प०पा०) अहर्पतये (सं०पा० ९।२०)।

---

१. अकारे च। -वा० प्रा० ४।४४।

२. एषो ह च। -वा० प्रा० ४।४५।

३. अवश्यमत्र एष च (३।१७) इत्यनेन एषशब्दस्य व्यञ्जनमात्रे विसर्जनीयलोपो विहितः तेनात्र ओकारो निपात्यते। -वा० प्रा० ४।४५ पर उवट।

४. स्वो रुहावहश्च रात्रयाम्। -वा० प्रा० ४।४६।

५. कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः। -वा० प्रा० ४।३८।

६. अहर्पतौ रेफम्। -वा० प्रा० ३।३९।

(२) वा०प्रा० ३।४१ के अनुसार साम् और सह बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्वः और घूः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है एवं उत्तरवर्ती दन्त्यवर्ण मूर्धन्य हो जाता है।[1] उदाहरण— स्वः। साम् (प०पा०) स्वर्षाम् (सं०पा० ३४।२०)। घूः (साहो (प०पा०) घूर्षाहौ (सं० पा० ४।३३)।

(३) वा०प्रा० ४।३७ के अनुसार विसर्जनीय का रेफ हो जाता है, यदि बाद में स्वर वर्ण या धि संज्ञक वर्ण हो।[2] उदाहरण— अग्निः। एकाक्षरेण (प०पा०) अग्निरेकाक्षरेण (सं०पा० ९।३१)। प्रातः। अग्निम् (प०पा०) प्रातरग्निम् (सं०पा० ३४।३४)। विरुरुचुः। वनेषु (प०पा०) विरुरुचुर्वनेषु (सं०पा० ३।१५)।

विसर्जनीय का शकारभाव

वा०प्रा० ३।७ में विधान करते हुए कहा गया है कि चकार एवं छकार परे रहने पर पूर्व में स्थित विसर्जनीय शकार हो जाता है।[3] उदाहरण— वाजः। च (प०पा०) वाजश्च (सं०पा० १८।१) अस्रीवयः। छन्दः (प०पा०) अस्रीवयश्छन्दः (सं०पा० १४।१८)। प्रातिशाख्यकार विसर्जनीय को मौलिक वर्ण मानकर उसके विकारों का विधान करते हैं, परन्तु पाणिनीय प्रक्रिया के अनुसार पदान्तीय रेफ का खरवसानयोर्विसर्जनीयः (पा० ८।३।१५) से विसर्ग का विधान करते हैं तथा विसर्जनीय सः (पा० ८।३।३४) से विसर्ग का सकार बनता है। पुनश्च स्तोः श्चुना श्चुः (पा०८।४।४०) से सकार का शकार बनता है।

विसर्जनीय का षकार भाव

(१) वा०प्रा० ३।२२,२३ के अनुसार ककार अथवा पकार वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती भावि (अकण्ठ्य) स्वर वर्ण उपधा वाले आविः, निः एवं वसतिः पदों का विसर्जनीय षकार हो जाता है।[4] उदाहरण— आविः। कृणुष्व (प०पा०)आविष्कृणुष्व (सं.पा. १३/१३) निः पर (प० पा०) निष्पर (सं०पा० ६।३६)। वसतिः। कृता (प०पा०) वसतिष्कृता (सं०पा०१२।७९)।

(२) वा०प्रा० ३।३४ के अनुसार पिता पद परे रहने पर पूर्ववर्ती द्यौः पद का विसर्जनीय

---

१. स्वर्धूः सासहयोः। -वा० प्रा० ३।४१।
२. रेफं स्वरधौ। -वा० प्रा० ४।३७।
३. चछयोः शम्। -वा० प्रा० ३।४७।
४. भाव्युपधः षकारम्। आविर्निरिडिडियावसतिरिवः। -वा० प्रा० ३।२२-२३।

षकार हो जाता है।[१] उदाहरण— द्यौः। पिता (प०पा०) द्यौष्पिता (सं०पा० २।११)।

(३) वा०प्रा० ३।३२ के अनुसार कविः करत् एवं कृधि पद परे रहने पर पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय षकार हो जाता है।[२] उदाहरण— वसुः। कविः (प०पा०) वसुष्कविः (सं०पा० १५।३६)।

(४) वा०प्रा० ३।३० के अनुसार समानपद में ककार एवं पकार बाद में होने पर विसर्जनीय षकार हो जाता है।[३] उदाहरण— आयुः। पाः (प०पा०) आयुष्पाः (सं०पा० २२।१)।

अपवाद

(१) वा०प्रा० ३।३८ के अनुसार वाजपतिः पद का विसर्जनीय षकार नहीं होता है।[४] उदाहरण— वाजपतिः। कविः (प०पा०) वाजपतिः कविः (सं०पा० ११।२५)।

विसर्जनीय का सकारभाव

(१) वा०प्रा० ३।८ के अनुसार त और थ वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है।[५] उदाहरण— आखुः। ते (प०पा०) आखुस्ते (सं०पा० ३।५७)। कः। थकारः कस्थकारः (रूपोदाहरण)।[६] (२) वा०प्रा० ३।२३ के अनुसार कण्ठ्य वर्ण (अ, आ) पूर्व में होने पर क तथा प वर्ण बाद में होने पर इडः, इडायाः, और वरिवः पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[७] उदाहरण— इडः। पदे (प०पा०) इडस्पदे (सं०पा० १५।३)। इडायाः। पदम् (प०पा०) इडायास्पदम् (सं०पा० ४।२२)। वरिवः। कृणोतु (प०पा०) वरिवस्कृणोतु (सं०पा० ५।३७)।

(३) वा०प्रा० ३।२४ के अनुसार ककुत् और पृथिवी शब्द बाद में न होने पर पूर्ववर्ती दिवः पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[८] उदाहरण- दिवः। पुत्राय (प० पा०)

---

१. सदो द्यौर्नमस्कृतंपितापथेषु। -वा० प्रा० ३।३४।
२. कविष्करत्कृधिषु। -वा० प्रा० ३।३२।
३. समानपदे च। -वा० प्रा० ३।३०।
४. वाजपतिः---पाश्वर्यमिति च। -वा० प्रा० ३।३८।
५. तथयोः सम्। -वा० प्रा० ३।८।
६. विसर्जनीयथकारसन्धिस्तु संहितायां न विद्यते, उतो रूपोदाहरणं दीयते- वा० प्रा० ३।८ पर उवट।
७. आविर्निरिडइडाया वसतिर्वरिवः। -वा० प्रा० ३।२३।
८. दिवोऽककुत्पृथिव्याः -वा० प्रा० ३।२३।

दिवस्पुत्राय (सं०पा० १५।६६)। दिवः। पृष्ठे (प०पा०) दिवस्पृष्ठे (सं०पा० १५।६६)।

(४) वा०प्रा० ३।२५ के अनुसार पौष एवं पुत्र उत्तरवर्ती होने पर पूर्ववर्ती रायः और सहसः पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[१] उदाहरण—रायः। पोषेण (प० पा०) यस्पोषेण (सं०पा०४।२२)। सहसः। पुत्रः (प०पा०) सहसस्पुत्रः (सं०पा०११।७०)।

(५) वा.प्रा. ३।२६ के अनुसार परस्तात् पद बाद में न होने पर पूर्ववर्ती तमसः का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[२] उदाहरण—तमसः। पारम् (प.पा.) तमसस्पारम् (स.पा.१२।७३)।

(६) वा.प्रा. ३।२७ के अनुसार पृथिव्याम् शब्द बाद में होने पर तपसः पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[३] उदाहरण—तपसः। पृथिव्याम्(प.पा.) तपसस्पृथिव्याम् (सं.पा.३७/१६)।

(७) वा०प्रा० ३।२८ के अनुसार पा धातु बाद में रहने पर अध्वनः, रजसः, रिषः और स्पृशः पदों का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[४] अध्वनः। पातु (प०पा०) अध्वनस्पातु (सं०पा० ३।१९)। रजसः। पाति (प०पा०) रजसस्पाति (सं०पा०१७।६)। रिषः। पातु (प०पा०) रिषस्पातु (सं०पा०१८।७३) इत्यादि।

(१३) वा.प्रा.३।३४ के अनुसार सदः पूर्व में रहे एवं कृतम् बाद में तथा नमः पूर्व में एवं पथ बाद में रहे तो कण्ठयोपध विसर्जनीय सकार हो जाता है।[५] उदाहरण—सदः। कृतम्(प.पा.) सदस्कृतम् (सं.पा.१३।८)। नमः। पथे (प.पा.) नमस्पथे (सं.पा.१८।५४)।

(१४) वा०प्रा० ३।३५ के अनुसार तालव्य स्वर से युक्त पति शब्द परे रहने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है।[६] उदाहरण— वाचः। पतिम् (प०पा०) वाचस्पतिम् (सं०पा०५।४५)।

(१५) वा०प्रा० ३।३६ के अनुसार स्वतंत्र पति शब्द बाद में रहने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है।[७] उदाहरण— वाचः। पतिम् (प.पा.) वाचस्पतिम् (सं.पा. ८।८५)।

---

१. रायः सहसः पोषपुत्रयोः। -वा० प्रा० ३।२५।
२. तमसोऽपरस्तात्। -वा० प्रा० ३।२६।
३. तपसस्पृथिव्याम्। -वा० प्रा० ३।२७।
४. अध्वनो रजसो रिषः स्पृशस्पातौ। -वा० प्रा० ३।२८।
५. सदो द्यौर्नमस्कृतं पितापथेषु। -वा० प्रा० ३।३४।
६. पत्यौ तालव्यस्वरोदये। -वा० प्रा० ३।३५।
७. पदे च। -वा० प्रा० ३।३६।

अपवाद

(१) वा०प्रा० ३।३७ के अनुसार परुषः शब्द बाद में होने पर पूर्ववर्ती परुषः पद का विसर्जनीय सकार भाव को नहीं प्राप्त करता है।[१] उदाहरण— परुषः। परुषः। परि (प०पा०) परुषः परुषस्परि (सं०पा० १३।२०)।

(२) वा०प्रा० ३।३८ के अनुसार वासः, एदिधिषुः, अन्तःपर्शव्येन एवं अन्तःपार्श्वर्यम् पदों का विसर्जनीय सकार भाव को नहीं प्राप्त करता है।[२] उदाहरण— वासः। पल्पूलीम् (प०पा०) वासः पल्पूलीम् (सं०पा० ३।१२)। एदिधिषुः। पतिम् (प०पा०)।

(३) वा०प्रा० ३।२९ के अनुसार कुरु बाद में होने पर पूर्ववर्ती अध्वनः पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है।[३] उदाहरण— अध्वनः। कुरु (प०पा०) अध्वनस्कुरु (सं० पा० २६।१)।

(९) वा०प्रा० ३।३० के अनुसार कण्ठ्य वर्ण पूर्व में होने पर एक ही पद में विद्यमान विसर्जनीय सकार हो जाता है।[४] उदाहरण— श्रेयः कर (प०पा०) श्रेयस्कर (सं०पा० १०।२८)।

(१०) वा०प्रा० ३।३१ के अनुसार अवसान में स्थित परि पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है।[५] उदाहरण— ओषधयः। परि (प०पा०) ओषधयस्परि (सं० पा० १२।९१)।

(११) वा०प्रा० ३।३२ के अनुसार करत् एवं कृधि पद बाद में होने पर पूर्व में विद्यमान कण्ठ्योपध विसर्जनीय सकार हो जाता है।[६] उदाहरण— वस्यसः। करत् (प० पा०) वस्यसस्करत् (सं०पा० ३।५८)। पुनः। कृधि (प०पा०) पुनस्कृधि (सं०पा० ४।१४)।

(१२) वा०प्रा० ३।३३ के अनुसार कृषीः पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है यदि बाद में कृधि पद हो।[७] उदाहरण— कृषीः। कृधि (प०पा०) कृषीस्कृधि (सं०पा० ४।१०)। एदिधिषुः पतिम् (सं०पा० ३०।९)। अन्तः पर्शव्येन (व०पा०) अन्तः पर्शव्येन

१. न परुष परुषि। -वा० प्रा० ३।३७।

२. वाजपतिर्वास--पार्श्वमिति च। -वा० प्रा० ३।३८।

३. अध्वनस्कुर्विति च। -वा० प्रा० ३।२९।

४. समानपदे च। -वा० प्रा० ३।३०।

५. परावसाने। -वा० प्रा० ३।३१।

६. कविष्करत्कृधिषु। -वा० प्रा० ३।३२।

७. कृषींश्च कृधौ सकारम्। -वा० प्रा० ३।३३।

(सं०पा० ३९।८)। इत्यादि।

विसर्जनीय का परसवर्णभाव

वा०प्रा० ३।९ में विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्य शाकटायन के मतानुसार मुत् वर्ण (श ष स) बाद में होने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय परसवर्ण हो जाता है।[१] उदाहरण— आशु। शिशानः (प०पा०) आशुश्शिशानः (सं०पा०)। अदिति। षोड़शाक्षरेण (प० पा०) अदितिष् षोडषाक्षरेण (सं०पा०) इत्यादि।

विसर्जनीय का अविकारभाव

वा०प्रा० ३।१० में विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्य शाकल्य के मतानुसार मुत् (श, ष, स) बाद में रहने पर पूर्व पदान्तीय विसर्जनीय विकार को प्राप्त नहीं करता है।[२] उदाहरण— आशुः। शिशानः (प०पा०) आशुः शिशानः (सं०पा०१७।२३)। अदितिः। षोडशाक्षरेण (प०पा०) अदितिः षोडशाक्षरेण (सं०पा०९।३४)। इत्यादि।

विसर्जनीय का जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीयभाव

वा०प्रा० ३।१२ में विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्य शाकटायन के मतानुसार क ख वर्ण बाद में रहने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय जिह्वामूलीय तथा प फ वर्ण बाद में रहने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय उपध्मानीय हो जाता है।[३] उदाहरण— विष्णोः। क्रमः=विष्णोᳵक्रमः। वसोः। पवित्रम्=वसोᳶपवित्रम् इत्यादि।

विसर्जनीय का प्रकृति भाव

वा०प्रा० ३।११ में विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्य शाकल्य के मतानुसार क ख तथा प फ वर्ण परे रहते पूर्ववर्ती विसर्जनीय प्रकृतिवत् रहता है अर्थात् कोई विकार नहीं होता।[४] उदाहरण— विष्णोः। क्रमः (प०पा०) विष्णोः क्रमः (सं०पा० १२।५)। ततः। खनेम (प०पा०) ततः खनेम (सं०पा०११।२२)। वसोः। पवित्रम् (प० पा०) वसोः पवित्रम् (सं०पा०१।२) इत्यादि।

विसर्जनीय का लोपभाव

(१) वा० प्रा० ३।१३ के अनुसार जित् (क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ)

---

१. प्रत्ययसवर्णं मुदि शाकटायनः। -वा० प्रा० ३।९।

२. अविकारं शाकल्यः शषसेषु। -वा० प्रा० ३।१०।

३. जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः। -वा० प्रा० ३।१२।

४. प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च। -वा० प्रा० ३।११।

से युक्त मुत् (श, ष, स) वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती विसर्जनीय का लोप हो जाता है।[१] उदाहरण- अन्धः। स्थ (प०पा०) अन्धस्थ (सं०पा० ३।२०)। स्थालीभिः। स्थाली (प० पा०) स्थालीभिस्थाली (सं०पा०१९।२७)।

(२) वा०प्रा० ३।१४ के अनुसार उपवसन पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती पीवः, पद के विसर्जनीय का लोप हो जाता है।[२] उदाहरण— पीवः। उपवसनानाम् (प० पा०) पीवोपवसनानाम् (सं०पा०२१।४३)।

(३) वा०प्रा० ३।१५ के अनुसार ओषधी और इम पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती सः पद का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।[३] उदाहरण- सः। ओषधीः (प० पा०) सोषधीः (सं०पा०१२।३६)। सः। इमाम् (प०पा०) सेमाम् (सं०पा० २९।५४)।

(४) वा०प्रा० ३।१६ के अनुसार व्यञ्जन वर्ण परे रहते पूर्ववर्ती सः का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।[४] उदाहरण— सः। नः (प०पा०) स नः (सं०पा० ३।२६)।

(५) वा०प्रा० ३।१७ के अनुसार व्यञ्जन वर्ण बाद में होने पर स्यः एवं एषः पद का विसर्जनीय लुप्त हो जात्ता है।[५] उदाहरण— स्यः। रात्थ्यः (प०पा०) स्यराथ्यो (सं०पा० २२।१३)। एषः। छागः (प०पा०) एषच्छागः (सं०पा० २५।२६)।

(६) वा०प्रा० ४।३६ के अनुसार रेफ बाद में रहने पर पूर्ववर्ती भावी (अकण्ठ्य-स्वर) उपधा वाला विसर्जनीय तथा रिफित संज्ञक विसर्जनीय का लोप हो जाता है तथा उपधा में स्थित वर्ण का दीर्घ हो जाता है।[६] उदाहरण—रुरुः। रौद्रः (प०पा०) रुरू रौद्रः (सं०पा० २४।३९)। मतिभिः। रिहन्ति (प०पा) मतिभी रिहन्ति (सं०पा० ७।१६)।

(७) वा०प्रा० ४।३९ के अनुसार धि संज्ञक वर्ण उत्तरवर्ती होने पर पूर्ववर्ती कण्ठ्योपध विसर्जनीय लुप्त हो जाता है। उदाहरण— अयक्ष्माः। मा (प०पा०) अयक्ष्मा मा (सं०पा० १।१)। शततेजाः। वायुः (प०पा०) शततेजा वायु (सं०पा० १।२४)।

(८) वा०प्रा० ४।५० में विधान करते हुए कहा गया है कि अपृक्त संज्ञक आ पद

---

१. लुङ्मुदि जित्परे। -वा० प्रा० ३।१३।

२. उपसने पीवः। -वा० प्रा० ३।१४।

३. स ओषधीमयोः। -वा० प्रा० ३।१५।

४. व्यञ्जने च। -वा० प्रा० ३।१६।

५. स्य एष च। -वा० प्रा० ३।१७।

६. रेफे लुप्यते दीर्घ चोपधा। -वा० प्रा० ४।३६।

उत्तरवर्ती होने पर पूर्ववर्ती भूमिः पद का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।[1] उदाहरण— भूमिः। आ (प०पा०) भूम्याददे (सं०पा० २६।१६)।

प्रकृतिभाव

संस्कार (सन्धि) के चार प्रभेदों में प्रकृतिभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शब्द का अपने मूलरूप में बने रहने की व्यवस्था को ही प्रकृतिभाव कहते हैं। पाणिनीय व्याकरणनुसार सन्धिगत विकार का न होना ही प्रकृतिभाव है।[2] परन्तु वैदिक व्याकरण में प्रकृतिभाव स्वयं एक सन्धिरूप में परिगणित है। यद्यपि इस सन्धि में थोड़ा सा भी परिवर्तन नहीं दृष्टिगोचर होता फिर भी प्रातिशाख्य ग्रन्थों के नियमानुसार संहितापाठ में प्रकृतिभाव प्राप्त पदों का सन्निकर्ष तो होता ही है।

सन्धियों के अपवाद स्वरूप जो प्रकृतिभाव हैं उन्हें प्रसंगानुसार ततत्स्थलों पर दिया जा चुका है। तदतिरिक्त जो प्रकृतिभाव का विधान वा० प्रा० में मिलता है, उन्हीं का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रगृह्य-संज्ञा

प्रगह्य-संज्ञा एवं प्रकृतिभाव का परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध है। अतएव प्रगृह्य संज्ञक पदों का ज्ञान आवश्यक है। वा०प्रा० के (१।९२, ९३-९८) में प्रगृह्य पद गिनाये गये हैं। ये प्रगृह्य स्वर सन्धि के साधारण नियमों के अनुसार विकार को नहीं प्राप्त करते हैं। प्रकृतिभाव में पदान्तीय एवं पदादि स्तर अपने स्पष्ट रूप में रहते है। संहिता-पाठ, क्रम-पाठ एवं पद-पाठ में ऐसे सभी स्थलों में विवृति होती है। विवृति का तात्पर्य दो स्वरों के मध्य संहिता के एक प्राण योग का सातत्य बनाये रहते हुए एक मात्रा काल का विराम होता है।

प्रकृतिभाव सन्धि के नियम

(१) वा०प्रा० ४।८७ में विधान करते हुए कहा गया है कि ईम्, असदन्, अश्याम्, अकर्म, ऊद्ध्र्वम्, इयम्, अवस्तात्, उत और अस्ति पद बाद में आने पर क्रमशः, ध्रुवा-ऊती, सदना, होतारा, ज्या, स्वधा, पृथिवी, एवं प्रतिभा ये पद प्रकृतिभाव को प्राप्त करते हैं।[3]

(२) वा० प्रा० ४।८८ के अनुसार स्वर वर्ण बाद में रहने पर पूर्ववर्ती प्रगृह्य पद

---

१. लोपन्धौ। -वा० प्रा० ४।३९।

२. भूमेश्चाकारेऽपृक्ते। -वा० प्रा० ४।४०

३. प्रकृत्या सन्धिरूपं विकारं न यातीत्यर्थः। तत्वबोधिनी पा० ६।१।१५।

प्रकृतिभाव को प्राप्त करते हैं।[१] उदाहरण— इन्द्राग्नीइतीन्द्राग्नी। आ (प० पा०) इन्द्राग्नीऽआगतम् (सं०पा० ७।३१) इत्यादि।

प्रकृतिभाव सन्धि के विशेष नियम

(१) वा०प्रा० ४।९३ में विधान करते हुए कहा गया है कि इति पद बाद में आने पर पूर्वपदान्तीय ओकार प्रकृतिभाव को प्राप्त करता है।[२] उदाहरण—चित्रभानोऽइति चित्रभानो (प०पा०) चित्रभानो (सं०पा० २०।७८)। इत्यादि।

(२) वा०प्रा० ४।९१ के अनुसार स्पर्शभिन्न वर्ण से परवर्ती प्रगृह्य अपृक्त उकार प्रकृतिभाव को प्राप्त करता है।[३] उदाहरण— न। वै। ऊँ इत्यूँ (प०पा०) नवा उएतत् (सं०पा० २३।१६)।

(३) वा०प्रा० ४।९० के अनुसार इव पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती विश्पती पद उपस्थित (इतिकरण सहित पद) पाठ में ही प्रकृतिभाव को प्राप्त करता है।[४] उदाहरण— विश्पती इवेति विश्पती-इव (प०पा० ३।४०)।

(४) वा०प्रा० ४।९२ के अनुसार इति पद बाद में रहने पर पूर्ववर्ती प्लुत स्वर प्रकृतिभाव से रहता है।[५] उदाहरण— विवेशा३ इति (क्रम सं० पा०)।

प्रकृतिभाव का अपवाद

(१) वा०प्रा० ४।८९ में विधान करते हुए कहा गया है कि इमे पद बाद में रहने पर पूर्ववर्ती प्रगृह्य रोदसी की पद का प्रकृतिभाव नहीं होता है।[६] उदाहरण— रोदसी। इमे (प०पा०) रोदसीमे (सं०पा० २७।२४)। ।

●

१. का ध्रुवोती सदना---अवस्तादुतास्तिषु। -वा० प्रा० ४।८७।
२. प्रगृह्यं स्वरे। -वा० प्रा० ४।८८।
३. ओकारश्च। -वा० प्रा० ४।९३।
४. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। -वा० प्रा० ४।१६।
५. उकारोऽपृक्तौऽस्पर्शात्। -वा० प्रा० ४।९१।
६. विश्पतीवोपस्थिते। -वा० प्रा० ४।९०।
७. प्लुतमितौ। -वा० प्रा० ४।९२।
८. न रोदसीमे। -वा० प्रा० ४।८९।

पञ्चम अध्याय

स्वर-प्रकरण

स्वरों की महत्ता

वैदिक भाषा में स्वरों का अत्यन्त महत्त्व है। प्रत्येक वेद की अपने उच्चारण, स्वराङ्कन एवं प्रदर्शन की परम्परा है। स्वरों की व्यवस्था एवं तज्जनति उच्चारण-विशेषता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही आचार्यों ने वेदाध्ययन को गुरुमुखोच्चारण सापेक्ष बनाया है। वेद के वास्तविक अर्थ को जानने के जितने भी साधन है, उनमें स्वर-शास्त्र सबसे प्रधान है। व्याकरण और निरुक्त जैसे प्रमुख शास्त्र भी स्वर शास्त्र के अङ्ग बनकर ही वेदार्थ-ज्ञान में सहायक होते हैं। स्वरज्ञान के बिना न केवल मन्त्र का वास्तविक अर्थ ही अस्पष्ट रहता है अपितु स्वरशास्त्र की उपेक्षा से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। समुचित प्रकार से किये गये सस्वर वेद-पाठ की उपयोगिता बतलाते हुए या०शि० में निर्देश किया गया है कि उदात्तादि स्वर एवं वर्णों का शुद्ध प्रयोग तथा हाथ से उनका प्रदर्शनात्मक अध्ययन करने वाला व्यक्ति अपने अधीयमान ऋक् यजु एवं साम से पवित्र होकर ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है।[1]

इसलिए वेदों के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए उदात्त आदि स्वरों का ज्ञान होना आवश्यक है। शबरस्वामी ने स्वरों के महत्त्व को बतलाते हुए मीमांसासूत्र के भाष्य भी लिखा है— उदात्तादि त्रैस्वर्य की जो व्यवस्था है वह मन्त्रों के अर्थ ज्ञान के लिए ही है।[2]

वेद में उदात्तादि स्वर के भेद से अर्थ में भेद किस प्रकार हो जाता है इसका उदाहरण देना उपयुक्त होगा। उदाहरणार्थ सामान्यतया भ्रातृव्य शब्द के दो अर्थ प्रचलित है। शत्रु तथा भतीजा। इन दोनों अर्थों को दृष्टि में रखते हुए भातृव्यस्य वधाय[3] इस मन्त्रांश का कौन सा अर्थ हो? यहाँ एक सन्देह उत्पन्न हो जाता है। भ्रातृव्य शब्द का आद्युदात्त[4] स्वर

---

१. स्वरवर्णान्प्रयुञ्जानो हस्तेना धीतमाचरन्।
ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्।। -या० शि० पृ० ३२

२. अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति? अर्थावबोधनार्था भविष्यति। जे० मी० सूत्र ९।२।३१ पर शाबरभाष्य।

३. वा० सं० १।१८।

४. व्यन् सपत्ने। – पा० ४।१।१४५ सूत्र से व्यन् प्रत्यय तथा नित्वात् ञिनत्यादिर्नित्यम् पा० ६।१।१९४ सूत्र से आद्युदात्त स्वर होता है।

होने पर शत्रु अर्थ तथा अन्तस्वरित स्वर[१] होने पर भतीजा अर्थ होता है। प्रस्तुत उदाहरण में भ्रातृव्य शब्द का आद्युदात्त स्वर है। अतः इसका अर्थ शत्रु है। इस प्रकार स्वरों के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही आचार्यों ने प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रन्थों में इसे विशेष स्थान दिया है। वा०प्रा० के भाष्यकार उवट का मन्तव्य है कि वैदिक मन्त्र किञ्चिन्मात्र भी उदात्तादि स्वर अथवा वर्ण से विपरीत (उच्चारित) होता है तो यज्ञ-कर्म की अपूर्णता हो जाती है। इतना ही नहीं त्रुटि युक्त यज्ञ के कारण प्रत्यवाय भी हो जाता है।[२] पा०शि० में वैदिक शब्दराशि के अयथावत् उच्चारण से होने वाली हानि को बतलाते हुए कहा गया है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्यारूप से प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ को प्रकट नहीं करता है। वह वाग्वज्र बनकर यजमान को ही विनष्ट कर देता है। जैसे स्वर के अपराध में इन्द्रशत्रुः पद यजमान का ही विनाशक बन गया।[३]

ऋग्वेद के भाष्यकार वेंकटमाधव ने वेदार्थ ज्ञान में स्वरों के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अन्धकार में दीपिका (दीपक, मशाल) की सहायता से चलने वाला व्यक्ति कहीं भी गिरता नहीं है, उसी प्रकार स्वरों की सहायता के किये गये अर्थ सन्देह-रहित (स्पष्ट) होते हैं।[४] इस सन्दर्भ में उन आचार्यों का भी स्मरण हो रहा है जो उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले अपने शिष्य के मुँह पर चाँटा लगाकर उसके उच्चारण को शुद्ध करते थे।[५]

स्वर-परिचय

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में स्वर मुख्यतः दो अर्थों में उपलब्ध होता है। (१) अकारादि वर्ण विशेष के अर्थ में (२) उदात्त अनुदातादि वर्ण के धर्म के अर्थ में। अकारादि वर्णात्मक स्वरों के उच्चारण मुखावयवों के उच्च, मध्य एवं नीच स्थिति विशेष के द्वारा होता है, जिन्हें स्वरों का धर्म कहते हैं। जो धर्मी के साथ सर्वदा संबद्ध रहता है उसे धर्म कहते हैं। इसी

---

१. भ्रातृव्यच्च पा० ४।१।१४४ सूत्र सेव्यत् प्रत्यय तथा तित्स्वरितम् पा० ६।१।१८२ सूत्र से अन्तस्वरित स्वर होता है।

२. मन्त्रस्तु यदि मनागपि स्वरतो वर्णतो वा हीनो भवति अथ कर्मासमृद्धिः। न केवलं कर्मासमृद्धिः, किन्तर्हि? दुरिष्टहेतुः प्रत्यवायः स्यात्। -वा० प्रा० ४।१ पर उवट भाष्य।

३. मन्त्रो हीनः स्वरतोवर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। -पा० शि० श्लोक ५२।

४. अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति। -स्वरानुक्रमणी १।८।

५. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते, खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति। -पा०. १।१।१। पर महा०।

विशेष सम्बन्ध के कारण लक्षण या उदात्तादि स्वर धर्मों को भी स्वर ही कहा जाता है। अकारादि वर्ण एवं उदात्तादि स्वरों के मध्य में धर्म-धर्मि सम्बन्ध लोक एवं वेद दोनों में एक समान है। उदात्तादि स्वर-धर्मों के बिना लौकिक वर्णों का भी उच्चारण नहीं किया जा सकता है। लोक में स्वर धर्मों की सत्ता इसलिए नहीं अवभासित होती क्योंकि वहाँ शब्दोच्चारण मूलभूत तान स्वर नामक स्वर से ही होता है। अतएव तान अथवा एकश्रुति स्वर को नित्य स्वर कहा गया है।[१] वेद में यही तान स्वर उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित रूप में विकसित होकर स्पष्टरूप से अवभासित होता है।

स्वर शब्द का अर्थ

स्वर शब्द स्वृ धातु से घ प्रत्यय लगाकर बनता है। स्वर के लिए कहीं स्वार शब्द का भी प्रयोग होता है। स्वार शब्द स्वृ धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर बनता है। दोनों के अर्थ एक समान ही हैं। स्वर शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ स्वयं राजन्ते इति स्वराः है।[२] माहेश्वरसूत्रों के अच् प्रत्याहार के वर्ण स्वर कहे जाते है।[३] अच् प्रत्याहारगत वर्ण स्वर बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता से उच्चरित होते हैं। यही इन स्वरों का स्वयं राजकत्व है। वा०प्रा० में वर्ण सामाम्नाय के अन्तर्गत वर्णस्वरों का वर्णन पहले किया जाता है।[४] आभ्यन्तर प्रयत्नों में विवृत प्रयत्न इनका करण है।[५]

निघण्टु २।१४ में स्वरति शब्द गत्यर्थक धातुओं में पठित है। अतएव स्वर पद का निर्वचन 'स्वर्यन्ते अर्था एभिः' यह होगा। अर्थात् जिनसे पदों के अर्थ प्राप्त किये जाते हैं या जाने जाते हैं, वे स्वर कहे जाते हैं। इस प्रकार वेदार्थ में सहायक होने के कारण उदात्तादि को स्वर कहते हैं।

स्वरों की माघुर्य विश्लेषण निरुक्ति के अनुसार जो कर्णेन्द्रियों में स्वनन् (गूँज) कर मन को रञ्जन (प्रसन्न) कर देता है उसे स्वर कहते हैं।[६] इस व्युत्पत्ति में स्वर शब्द के दो विच्छेद करके क्रमशः स्वनन् या रञ्जन के अर्थ प्रकाशन से स्वर शब्द की निरुक्ति की गयी है।

---

१. तानो वा नित्यत्वात्। -का० श्रो० १।८।१८।

२. महा० १।२।२९।

३. अचः स्वराः। (सिद्धा० संज्ञा-प्रकरण)।

४. तत्र स्वराः प्रथमम्। (वा० प्रा० ८।२)।

५. विवृतं स्वराणाम्। (सिद्धा० संज्ञा-प्रकरण)।

६. स स्वरो यः श्रुतिस्थाने स्वनन्रञ्जयते मनः। -शब्दकल्पदुम।

वा०प्रा० में स्वर विषयक विधान

सभी प्रातिशाख्यों में स्वरों के विषय में सविस्तार विधान किया गया है। वा०प्रा० के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय में चतुर्थ अध्याय के अनेक सूत्रों में तथा षष्ठ अध्याय (१-२४ सूत्र पर्यन्त) में स्वर सम्बन्धी विधान किया गया है। प्रथम अध्याय में स्वर सम्बन्धी अनेक संज्ञाओं एवं परिभाषाओं पर विचार किया गया है। यहाँ पर वा०प्रा० के आधार पर स्वरों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वर-संख्या

वाजसनेयिप्रातिशाख्यकार आचार्य कात्यायन ने संज्ञा-परिभाषा प्रकरण में अत्यन्त संक्षेप में स्वरों के भेद को बतलाया है। वा०प्रा० १।१२७-१३० इन चार सूत्रों में सात, तीन, दो एवं एक स्वर का क्रमशः विधान किया गया है। यद्यपि आचार्य पाणिनि ने अपने तन्त्र में कहीं भी इस प्रकार का निर्देश नहीं किया है। पाणिनीय आचार्यों ने कहीं कहीं पर स्वरों की संख्या का निर्देश करके स्वरों का विधान किया है। अतएव यहाँ पर वा०प्रा० के सूत्रों के आधार पर स्वरों का विवेचन किया जा रहा है।

सप्त स्वर

वा०प्रा० १।१२७ में विधान करते हुए कहा गया है कि सात स्वर होते हैं।[१] भाष्यकार उवट एवं अनन्त उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए साम गायन में प्रयुक्त-षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवत एवं निषाद- इन सात स्वरों को माना है।[२] सूत्रकार कात्यायन ने भाषिक परिशिष्ट ३।१६-१७ में भी उपर्युक्त सात सामस्वर बतलाया है[३] तथा उसी में इन स्वरों का अभिव्यञ्जन स्थान (योनि) भी बतलाया है।[४]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भिन्न प्रकार से त्रैस्वर्य के विश्लेषक सात स्वर बतलाया है। उनके मतानुसार- उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, उदातविशिष्ट स्वरित और एकश्रुति ये सात स्वर है।[५] स्वर-सिद्धान्त-चन्द्रिका के अनुसार छः स्वर हैं।[६] या०शि०

---

१. सप्त। -वा० प्रा० १।१२७।

२. सामसु सप्तस्वरानाहुः, षड्जऋषभधान्गारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादान्। वा० प्रा० ४।१२७ पर उवट।

३. सप्त साम्नाम्। षडज्-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत निषादाः।-भा०परि० ३।१६-१७।

४. द्र० भा० परि० ३।१८-२४।

५. सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः। -पा० १।२।३३ महाभाष्य।

६. द्र० स्व० सि० च० पृ० १४।

में बतलाया गया है कि सामवेद में कहे गये षड्जादि सप्त स्वर ही यजुर्वेद में उदात्तादि तीन स्वर है।[1] अभिप्राय यह है कि वैदिक मूलभूत उदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों में सामवेदीय षड्जादि सप्त स्वर अन्तर्भूत हैं। या०शि० में षड्जादि सप्त स्वरों का उदात्तादि तीन स्वरों में अन्तर्भाव दिखलाते हुए कहा गया है कि निषाद एवं गान्धार को उदात्त में, ऋषभ और धैवत को अनुदात्त में तथा षड्ज, मध्यम एवं पंचम स्वर को स्वरित में अन्तर्भूत समझना चाहिए।[2] इसी आधार पर महाभाष्यकार के सात स्वरों का भी क्रमशः उदात्त में एवं उदात्ततर का, एवं स्वरित में उदात्तविशिष्ट स्वरित, स्वरित तथा एकश्रुति का अन्तर्भाव समझना चाहिए।

वा०प्रा० १।१२७ पर भाष्यकार उवट ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि यजुर्वेद के धर्मप्रतिपादक वा०प्रा० में सामवेदीय सप्त स्वरों के उल्लेख का क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि अग्निचयन याग में यजुर्वेदीय ऋत्विक् अध्वर्यु के लिए सामगायन का विधान है। अतएव सूत्रकार कात्यायन ने यजुर्वेदीय ऋत्विक् के साम गायन की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए सात स्वर का सूत्र में संकेत दिया है।[3] इसी सन्दर्भ में भाष्यकार उवट एवं अनन्त ने षड्जादि सप्त स्वरों के लिए दूसरी भी व्यवस्था दी है। उसके अनुसार स्वरित स्वर के आठ भेद बतलाये गये हैं, उनमें शुक्ल-यजुर्वेद में सात स्वरित प्रकार-जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम और पादवृत्त का ही अवधारण वा०प्रा० १।१२७ में किया जाता है तथा ताथाभाव्य स्वरित का निवारण किया जाता है।[4]

तीन स्वर

वा०प्रा० १।१२८ के अनुसार तीन स्वर होते हैं।[5] भाष्यकार उवट के मतानुसार

---

१. गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ता सप्त षड्जादयः स्वराः। त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः। — या० शि० पृ०४।

२. उच्चे निषादगान्धारो नीचावृषभधैवतो। शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः। — या० शि० पृ०५।

३. ननु यजुर्वेदलक्षणप्रक्रमे एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तौ कः सामलक्षणप्रसङ्गः? उच्यते- अग्नौ यजुर्वेदअध्वर्योः सामगानं विहितम्- नान्योऽध्वर्योर्गा येदिष्टका वा एता विचितोह स्याद्य दन्योऽध्वर्योर्गायेत् (श० ब्रा० ९।१।२) इति शतपथेऽसज्ञित काण्डे। अतोऽध्वर्यु-कर्तृकमिति कृत्वा कश्चिल्लक्षणांशः कृतः सामसु। वा० प्रा० १।१२७ पर उवट।

४. अपरे त्वाहुः जात्याभिनिहित क्षैप्रप्रश्लिष्टतैरोव्यञ्जनतैरोविरामपादवृत्ताः सप्तस्वरा अत्रावधार्यन्ते। ताथाभाव्यस्तु वाजसनेयिनां निबायर्त। -वा० प्रा० १।१२७ पर उवट।

५. त्रीन्। -वा० प्रा० १।१२८।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये तीन स्वर यजुर्वेद में होते हैं। सम्पूर्ण वैदिक स्वरों में तीन स्वर मुख्य है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन वेद के मूलभूत स्वर है।[१] आचार्य पाणिनि के मतानुसार उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये तीन ही धर्म स्वर हैं।[२] एकश्रुति स्वर इन्हीं के अन्तर्गत आता है। वृत्तिकारों ने अठारह प्रकार के अकारों का निर्देश किया है। यह निर्देश इन्हीं तीनों स्वरों को मानने से उपपन्न होता है। ऐसी स्थिति में प्रचय तथा एकश्रुति स्वर की पृथक् स्वर के रूप में कल्पना भ्रममात्र है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि यद्येवं त्रैस्वर्यं न प्रकल्पेत। तत्र को दोषः? त्रैस्वर्येणाधीमहे इत्येतन्नो प्रपद्यते इति।[३] शाकल, माध्यन्दिक काण्व, कौथुम आदि सभी संहिताओं में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित इन तीन स्वरों का ही उच्चारण होता है।

दो स्वर

वा०प्रा० १।१२९ में विधान करते हुए कहा गया है कि दो स्वर होते हैं।[४] भाष्यकार उवट ने मतानुसार भाषिक-संज्ञक दो स्वर-उदात्त एवं अनुदात्त यजुर्वेद के शतपथ-ब्राह्मण में होते हैं।[५]

एक स्वर

वा०प्रा० १।१३० के अनुसार एक स्वर का विधान किया गया है।[६] भाष्यकार उवट ने इस एक स्वर को तान स्वर कहा है, जो यज्ञकर्म में प्रयुक्त होता है।[७] यज्ञकर्मों में वैदिक मन्त्र अनेक विध प्रयुक्त होते हैं। अतएव वा०प्रा० १।१३१ के[८] अनुसार सामगायन, जप तथा न्यङ्ख[९] को छोड़कर अन्यत्र तान स्वर का प्रयोग करना चाहिए। कात्यायन श्रौतसूत्र में आचार्य कात्यायन ने तान स्वर को नित्य स्वर माना है एवं इसी नित्यता के कारण तान स्वर का यज्ञ कर्म में प्रयोग बतलाया है।[१०] कात्याय श्रौतसूत्र १।८।१८ की व्याख्या करते

---

१. उदात्तानुदात्तस्वरितान् यजुर्वेदे त्रीन् स्वरानाहुः। -वा० प्रा० १।१२८ पर उवट।
२. पा० अ० १।२।२९, ३०, ३१।
३. महा० १।२।३१।
४. द्वौ। -वा० प्रा० १।१२९।
५. द्वौ स्वरावुदात्तानुदात्तौ भाषिकलक्षितौ शतपथ-ब्राह्मणे आहुः। -वा० प्रा० १।१२९ पर उवट।
६. एकम्। -वा० प्रा० १।१३०।
७. तानलक्षणमेकं स्वरमाहुर्यज्ञकर्मणि। -वा० प्रा० १।१३० पर उवट।
८. सामजपन्यूङ्खवर्जम्। -वा० प्रा० १।१३१।
९. द्र० आ० श्रौ० ७।१।
१०. तानो वा नित्यत्वात्। -का० श्रौ० १।८।१८।

हुए कर्काचार्य ने कहा है कि स्मृति (व्याकरण या कल्प) ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि यज्ञकर्म में तान स्वर का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि स्मृतिग्रन्थ वेदमूलक हैं और वेद की नित्यता के कारण स्मृतिग्रन्थ भी नित्य हैं। इसलिए नित्य वैदिक वचनों में तान स्वर का ही प्रयोग करना चाहिए।[१] यहाँ यह सन्देह होता है कि याज्ञिकों की दृष्टि से वेद का मुख्य उपयोग एवं अभिप्रायः यज्ञकर्म है। यज्ञक्रिया में अपवादों के अतिरिक्त अन्यत्र सर्वत्र तानस्वर का ही प्रयोग नियमतः है, तब त्रैस्वर्य से वेदाध्ययन एवं उस अध्ययन की स्थिरता के लिए प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों का निर्माण क्यों किया गया? इस प्रश्न को उपस्थापित कर माधवाचार्य ने इसका समाधान देते हुए कहा है कि वैदिक मन्त्रों का अर्थज्ञानपूर्वक यज्ञकर्म में प्रयोग होना प्रशस्त है। अर्थ की निर्भ्रान्तता का निर्णय उदात्तादि स्वरों से ही सम्भव है। अतएव वेदार्थ में किसी प्रकार की अनियमितता न हो इसलिए त्रैस्वर्य पाठ है।[२]

भाषिक परिशिष्ट ३।२७ में ऋक्, साम और अथर्ववेद के कुछ ब्राह्मणग्रन्थों में भी तान स्वर के प्रयोग की बात बतलायी गयी है एवं ३।२८ में वेद के अङ्ग एवं उपाङ्गों का भी तान स्वर से अध्ययन का विधान किया गया है।[३] आचार्यों ने तान स्वर को एक श्रुति (का० श्रौ० १।८।१९) प्रचय (जै० न्या० मा० वि० ९।२।८ वर्णक २)[४] उदात्तमय (वा० प्रा० ४।१३९) तथा प्रचित आदि संज्ञाओं से भी निर्दिष्ट किया है। आचार्य पाणिनि ने अ० १।२।३४ में यज्ञकर्म में एक श्रुति का विधान किया है। महाभाष्य १।२।३३ से यह ज्ञात होता है कि कई आचार्य एक श्रुति को उदात्त श्रुति मानते हैं।[५] महाभाष्य १।२।३३ से यह भी स्पष्ट होता है कि कई आचार्य एक श्रुति को अनुदात्तश्रुति मानते थे।[६]

---

१. अथवा नित्यत्वादिति। नित्यं वैदिकं वचनं स्मृतीनां मूलमित्येवं स्मृतेर्नित्यत्वम्। -का० श्रौ० १।८।१९।

२. न च एक श्रुतित्वे स्वराध्ययनं व्यर्थमिति वाच्यम्। स्वरविशेषेण बहुब्रीहितत्पुरुषसमासादि निश्चये सत्यर्थविशेषस्यावबौधशक्यत्वात्। जपादिषु तु यथाध्ययनं स्वरः प्रयोक्तव्यः। -जै० न्या० मा० वि० ९।२।८।३।

३. तानोऽन्येषां ब्राह्मणस्वरः। तान एवाङ्गोपाङ्गानां तान एवाङ्गोपाङ्गानामिति।

४. तान इत्येकश्रुतेः पूर्वाचार्यसंज्ञा। -जै० न्या० मा० वि० ९।२।८।३।

५. उदात्ता (एकश्रुतिः)। कथं ज्ञायते? यदयमुच्चेस्तरां वा वषट्कार इत्याह। उच्चैर्दृष्ट्वा उच्चैस्तरामित्येतद् भवति।

६. अनुदात्ता च (एकश्रुतिः)। कथं ज्ञायते? यदयम् उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतर इत्याह। सन्नं दृष्ट्वा सन्नतर इत्येतद् भवति।

आलोचनात्मक ढंग से विचार करने पर प्रकृति की दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि उदात्त मुख्य स्वर है। इसी के अन्तर्गत उदात्ततर तथा स्वरितगत उदात्तस्वर अन्तर्भूत है। अनुदात्त मुख्य स्वर है इसके अन्तर्गत अनुदात्ततर स्वर अन्तर्भूत है तथा निघात शब्द अनुदात्त का ही पर्याय है। स्वरित स्वतंत्र स्वर है। अवशिष्ट एकश्रुति स्वर उदात्त स्वर के अतिरिक्त और कोई स्वर नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति की दृष्टि से उदात्तादि मूलतः तीन स्वर है—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित, इनके अतिरिक्त केवल इन्हीं के भेद मात्र है।

उदात्तादि स्वरों का परिचय

उदात्त

वैदिक स्वरों में उदात्त स्वर मुख्य है। यह किसी अन्य स्वर की सन्धि के प्रभाव से परिवर्तित नहीं होता है। प्रातिशाख्यों के विशेष विधान से अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट-सन्धियों में उदात्त स्वर स्वरित रूप में परिवर्तित हो जाता है।

उद् उच्चैरादीयते उच्चार्यते उदात्तः अर्थात् जो वर्णस्वर कण्ठताल्वादि पर ऊँचे स्थान से उच्चरित हो उसे उदात्त कहते हैं यह उदात्त शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। वा०प्रा० १।१०८ में उदात्त के लक्षण के लिए उच्चैरुदातः एक सूत्र उपलब्ध होता है, जिसका तात्पर्य है उच्च ध्वनि से उच्चारित होने वाला स्वर उदात्त कहलाता है। वा० प्रा० के भाष्यकारों के मतानुसार गात्रों के ऊर्ध्वगमन से जो स्वर प्रगट होता है वह उदात्त है।[1]

वा०प्रा० १।३१ में उदात्त स्वर के लिए आयाम को कारण बतलाया गया है।[2] वा०प्रा० १।३१ पर भाष्यकार उवट ने वायु के कारण गात्रों के ऊर्ध्वगमन को आयाम बतलाया है।[3]

इन ऊर्ध्वमुखी क्रियाओं के कारण ही उदात्त को उच्च स्वर माना गया है। यहाँ पर श्रवणेन्द्रियग्राह्य उच्चता विवक्षित नहीं होती, इसीलिए उपांशु जपादि में भी उदात्तादि स्वरों की सत्ता एवं उनका प्रयोग संगत हो पाता है। सामान्य रूप से उदात्त ही पद का मुख्य स्वर होता है, किन्तु कहीं-कहीं स्वतंत्र स्वरित भी पद का मुख्य स्वर होता है। मुख्य स्वर वाले अक्षर को छोड़कर पद के शेष अक्षरों का अनुदात्त स्वर होता है।[4] वा०प्रा० के अनुसार

---

१. आयामेनोर्ध्वगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञो भवति। -वा० प्रा० १।१०८ पर उवट।

२. आयाममार्दवाभिघाताः। -वा० प्रा० १।३१।

३. आमो नाम ऊर्ध्वगमनं शरीरस्य। -वा० प्रा० १।३१ पर उवट।

४. अनुदात्तं पदमेकवर्जम्। -पा० ६।१।१५८।

स्वरित को छोड़कर पद एक उदात्त वाला होता है।[1]

अनुदात्त

अनुदात्त का शाब्दिक अर्थ है ऊपर न उठाया हुआ। अनुदात्त का लक्षण बतलाते हुए वा० प्रा० १।१०९ में नीचैरनुदात्तः एक सूत्र उपलब्ध है जिसका अर्थ है नीची ध्वनि से उच्चारित होने वाले स्वर को अनुदात्त कहा जाता है। भाष्यकार उवट एवं अनन्त के मतानुसार गात्रों (शरीरावयवों) के मार्दव अर्थात् अधोगमन से जो स्वर प्रगट होता है, उसे अनुदात्त कहते हैं।[2]

वा०प्रा० में मार्दव शब्द का अर्थ बतलाते हुए भाष्यकार उवट ने कहा है कि— वायु निमित्तक शरीरावयवों का अधोगमन विश्रम्भ या मार्दव है।[3]

आचार्य आपिशालि ने अनुदात्त का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जब अङ्गों में शब्दानुकूल प्रयत्न लहरी मन्द होती है एवं सम्बद्ध शरीरावयवों में ढीलापन होता है और कण्ठ विवर में अपेक्षाकृत विकास होता है साथ ही साथ उच्चारण स्वर (श्वास की गति) एवं वायु में स्निग्धता होती है अनुदात्त स्वर उत्पन्न होता है।[4]

उपर्युक्त मतों पर विचार करने पर हम अनुदात्त के उच्चारण में निम्न बातें पाते हैं- (१) प्रयत्न लहरी में मन्दता होती है एवं वह अधः प्रसृत होती है। (२) वह प्रयत्नलहरी उच्चारणीय स्वरस्थान के अधोभाग में तत्तत् स्वर सम्बन्धी करण द्वारा संघर्षित होकर उदात्त की अपेक्षा उच्चारण में मार्दव या स्निग्धता उत्पन्न करती है। (३) वायु के अधः प्रसार और उच्चारण स्थान के अधोभाग में संघर्ष होने पर कण्ठविवर में अपेक्षाकृत विकास होता है। इन अधः स्थानीय उदात्त प्रतिपक्षीय क्रियाओं के कारण ही अनुदात्त को नीच स्वर माना गया है। इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार एवं वार्तिककार ने पा० १।२।२९-३० में विचार प्रतिपादित करते हुए कहा है कि उदात्त अनुदात्त के कुछ लक्षण अनवस्थित तथा अनैकान्तिक हैं क्योंकि एक ही स्वर किसी के लिए उच्च हो सकता है और किसी के लिए नीच हो सकता है। महाभाष्यकार ने यह उदाहरण दिया है कि किसी वेदाध्येता को कोई कहे क्या जोर से चिल्ला रहे हो धीरे बोलो। उसी ध्वनि को दूसरा व्यक्ति अपनी दृष्टि से

---

१. स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्। -वा० प्रा० २।१।

२. नीचैर्मार्दवेणाधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात्। -वा० प्रा० १।१०९ पर उवट।

३. मार्दवो नामाधोगमनं गात्राणाम्। -वा० प्रा० १।३१ पर उवट।

४. यदा तु मृदप्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य प्रसनं, कण्ठबिलस्य महत्त्वं, स्वरस्य च वायोर्मन्द गतित्वात् स्निग्धता भवति, तमनुदात्तं प्रचक्षते। -आ० शि० ८।२१।

कहता है क्या दाँत के भीतर बोलते हो जोर से बोलो। अतएवं उच्च ध्वनि किसी के लिए नीच ध्वनि तथा नीच ध्वनि किसी के लिए उच्च ध्वनि होती है।[१] इसीलिए उच्च नीच शब्दों का अर्थ जोर से बोलने अथवा धीमे से बोलने के आधार पर व्यवस्थित नहीं किया जा सकता है। दूसरा कारण यह भी है कि दुर्बल व्यक्ति अपना सम्पूर्ण बल लगाकर जिस ध्वनि को उच्चारित करता है बलवान् व्यक्ति के लिए वह ध्वनि ही सर्वतः मन्द रहती है। बलवान् व्यक्ति का उच्चारण धीमा होने पर भी बहुत दूर तक फैंल जाता है जबकि कमजोर व्यक्ति का उच्चः उच्चारण भी उतनी दूर तक नहीं पहुँच पाता है।[२] इन उपर्युक्त समस्याओं का समाधान करते हुए वार्तिककार ने प्रक्रम के आधार पर उच्च नीच शब्दों का प्रयोग माना है।[३] प्रक्रम का अर्थ स्थान है। तीनों स्वरों के लिए क्रमशः उरः, कण्ठ और शिर ये तीन स्थान बतलाये गये हैं। वा०प्रा० में भी तीन स्थान उल्लिखित हैं किन्तु उनमें शिर के स्थान पर भ्रूमध्य का उल्लेख किया गया है। वा०प्रा० में इन तीनों स्थानों को उदात्तादि त्रैस्वर्यों से सम्बद्ध न करके सवनों से सम्बन्धित किया गया है। प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन ये तीन सवन हैं। इन तीन सवनों में उक्त तीनों स्थानों से जो उच्चारण होता है उसकी अभिव्यक्ति में उदाहरण द्वारा पा०शि० में वाणी की भिन्नता का अच्छा स्वरूप बतलाया गया है। पा०शि० में निर्देश दिया गया है कि प्रातःसवन में सिंह की गर्जना के समान उरःस्थित स्वर से वेद का अध्ययन या पाठ करना चाहिए। माध्यन्दिन-सवन में कण्ठगत स्वर से चक्रवाक पक्षी के स्वर के समान उच्चारण करना चाहिए। तृतीय-सवन में मयूर, हंस या कोयल के स्वर के समान स्वर से बोलना चाहिए।[४]

---

१. इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तदेव हि कश्चित्प्रत्युच्चैर्भवति, कश्चित्प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित्कञ्चिदधीयानमाह-किमुच्चैरोरूयसे शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाऽधीयानपर आह किमन्तर्दन्तकेनाधिषे उच्चैर्वर्ततमिति। एव मुच्चनीचमनवस्थिपदार्थकम्, तस्यानवस्थित्वा-त्संज्ञाया अप्रसिद्धिः। -पा० महा० १।२।२९-३०।

२. तथाहि-महाप्राणो नीचैरप्युच्चारयन्स्वरेण महान्तं व्याप्नोति। अल्पप्राणस्तूच्चैरपि वदन्नल्पं देशं व्याप्नोति। -कैय्यट प्रदीप १।२।२९-३०।

३. सिद्धं तु समानप्रक्रमवचनात् (वा०)। सिद्धमेतत्। कथम्? समानप्रक्रमवचनात्। समाने प्रक्रम इति वक्तव्यम्। कः पुनः प्रक्रमः? उरः कण्ठ शिर इति। पा० म० १।२।२९-३०। प्रक्रम्यतेऽस्मिन्वर्णा इति प्रक्रमः स्थानमुच्यते। तेनायमर्थः एकस्मिन्स्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधरभागयुक्त उद्र्ध्वभागेनोच्चार्यमाणः उदात्तः। -कैय्यट प्रदीप १।२।२९-३०।

४. प्रातः पठेन्नित्यमुरः स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन। माध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्व संकूजितसन्निभेन। तारं तु विद्यात्सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्। मयूर-हंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरः स्थितेन। -पा० शि० ३६-३७।

इन सब उपर्युक्त मतों के रहते हुए भी उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित इन तीनों स्वरों का शाखानुसार उच्चारण अपने स्थान पर अक्षुण्ण है। हमें उन उच्चारणों की पुस्तकोक्त लक्षणों से तुलना नहीं करनी चाहिए किन्तु वे उच्चारण लक्षणों में किस भाषा या सूक्ष्मता से संकेतिक हैं इसका अनुसन्धान करके सूत्र शब्दों या व्याख्या ग्रन्थों का विश्लेषण करना चाहिए।

स्वरित

वा०प्रा० १।११० में विधान करते हुए कहा गया है कि उदात्त और अनुदात्त इन दोनों के धर्म वाला स्वर स्वरित कहलाता है।[1] वा०प्रा० १।११० पर भाष्य करते हुए उवट ने कहा है कि उदात्त का प्रयत्न मात्रों (शरीरावयवों) का ऊर्ध्वगमन है तथा गात्रों (शरीरावयवों) का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। इन दोनों प्रयत्नों के समाहार (मेल) से जो स्वर उच्चरित होता है उसे स्वरित संज्ञक कहते हैं।[2] वा० प्रा० १।३१ के अनुसार स्वरित का प्रयत्न अभिघात है।[3] वा० प्रा० १।३१ पर भाष्य करते हुए उवट ने कहा है कि अभिघात का अर्थ शरीर का तिर्यग्गमन है।[4] वा० प्रा० १।३२ में स्वरित के विषय में बताते हुए सूत्रकार ने कहा है शरीरावयवों के ऊर्ध्व एवं अधोगमन प्रयत्न से विशिष्ट प्रयत्न जन्य स्वरित होता है।[5] भाष्यकार उवट के मतानुसार जो यह अभिघात स्वरित है, वह उच्च एवं नीच प्रयत्न विशिष्ट है। अर्थात् गात्रों के ऊर्ध्व एवं अधोगमन से सिद्ध होता है।[6]

अब यह विचार करना आवश्यक है कि उदात्त और अनुदात्त इन दोनों धर्मों से युक्त स्वरित स्वतंत्र स्वर है अथवा केवल उदात्त एवं अनुदात्त का समाहार ही है। वास्तव में उदात्त और अनुदात्त का समाहार होने पर भी स्वरित एक स्वतंत्र स्वर है। इस तथ्य को समझाते हुए भाष्यकार उवट ने कहा है कि जिस प्रकार त्रपु एवं ताम्र के संयोगं से कांसा नमक धातु की उत्पत्ति होती है जो त्रपु और ताम्र दोनों से भिन्न स्वतंत्र एवं सत्तावान् पदार्थ

---

१. उभयवान्त्स्वरितः। -वा० प्रा० १।११०।

२. उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्नः, अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्नः, आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्यां यः स्वरः उच्चार्यते स स्वरितसंज्ञो भवति। -वा० प्रा० १।११० पर उवट।

३. आयाममार्दवाभिघाताः। -वा० प्रा० १।३१।

४. अभिघातस्तिर्यग्गमनं गात्राणाम्। -वा० प्रा० १।३१ पर उवट।

५. उच्चनीचविशेषः। -वा० प्रा० १।३२।

६. योऽयं नामाभिघातः स्वरितः स उच्चनीचविशेषः। उच्चनीचाभ्यामभिनिवर्त्यते। -वा० प्रा० १।३२ पर उवट।

है तथा जिस प्रकार गुड़ एवं दधि के योग होने पर मार्जिका की उत्पत्ति होती है जो गुड़ एवं दधि से भिन्न स्वतंत्र सत्तावान पदार्थ है उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त के संयोग से स्वरित की उत्पत्ति होती है,[१] जो उदात्त और अनुदात्त से भिन्न स्वतंत्र सत्तावान् स्वर है। वा०प्रा० १।१२६ में स्वरित स्वर में कितना अंश उदात्त का रहता है एवं कितना अंश अनुदात्त का रहता है यह बताया गया है। सूत्रकार ने वा०प्रा० १।१२६ में विधान करते हुए कहा है कि उस स्वरित में प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त होती है।[२] भाष्यकार उवट के मतानुसार-स्वरित स्वर के आदि में उदात्त का अंश समझना चाहिए जो कि स्वर की आधी मात्रा काल वाला होता है। यदि स्वरित स्वर एक मात्रा काल वाला, दो मात्रा काल वाला और तीन मात्रा काल वाला हो तो भी उनमें प्रारम्भ की आधी मात्रा उदात्त, शेष अनुदात्त की है।[३] पाणिनि के अनुसार भी स्वरित में प्रारम्भ की आधी ह्रस्व मात्रा उदात्त होती है, शेष अनुदात्त।[४] काशिका में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जब स्वरित ह्रस्व है तो आधी मात्रा उदात्त शेष आधी मात्रा अनुदात्त, जब स्वरित दीर्घ है तो आधी मात्रा उदात्त शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त और जब स्वरित प्लुत है तो आधी मात्रा उदात्त और शेष ढाई मात्रा अनुदात्त होगी।[५] अभिप्राय यह है कि स्वरित स्वर युक्त ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत वर्णों की जितनी-जितनी मात्रा होती है उस का आधा भाग उदात्त और आधा भाग अनुदात्त होता है। तदनुसार ह्रस्व में आधी मात्रा उदात्त एवं आधी मात्रा अनुदात्त, दीर्घ में एक मात्रा उदात्त एवं एक मात्रा अनुदात्त, प्लुत में डेढ़ मात्रा उदात्त एवं डेढ़ मात्रा अनुदात्त की होती है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में स्वरित स्वर के लिए स्वार, मध्यम, प्रवण आदि संज्ञाओं का भी प्रयोग किया गया है।

स्वरित के भेद

वा०प्रा०[६] तथा या०शि०[७] में स्वरित स्वर के आठ भेद बतलाये गये हैं (१) जात्य

---

१. त्रपुताम्रयोः संयोगे धात्वन्तरस्य कांस्यस्योत्पत्तिः यथा च गुड़दध्नोरेकीभावे मार्जिकोत्पत्तिः एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तिः। -वा० प्रा० १।१२३ पर उवट।

२. तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम्। -वा० प्रा० १।१२३।

३. स्वरितस्य स्वरस्यादावुदात्तं ज्ञातव्यम्। तच्च स्वरार्धमात्राकालम्। यद्येकमात्रो यदि द्विमात्रो यदि त्रिमात्रः स्वरस्तथाप्यर्धमुदात्तं परमनुदात्तम्। -वा० प्रा० १।१२६ पर उवट।

४. तस्यादि उदात्तमर्धं ह्रस्वम्। -पा० १।२।३२।

५. द्रष्टव्य, काशिका १।२।३२।

६. वा० प्रा० १।१११-१२०।

७. अष्टौ स्वरान् प्रवक्ष्यामि तेषामेव तु लक्षणम्। जात्योऽभिनिहतः क्षैप्रः प्रश्लिष्टश्च तथाऽपरः। तैरोव्यञ्जनसंज्ञश्च तथा तैरोविराम कः। पादवृत्तौ भवेदुत ताथाभाव्य इति स्वराः। -या० शि० १।७६-७७।

(२) अभिनिहित (३) क्षैप्र (४) प्रश्लिष्ट (५) तैरोव्यञ्जन (६) तैरोविराम (७) पादवृत्त और (८) ताथाभाव्य। शुक्ल-यजुर्वेद में ताथाभाव्य स्वरित नहीं होता अतः वहाँ केवल सात स्वरित के भेद मिलते हैं इन स्वरित-भेदों को मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा जा सकता है। १.संधिज स्वरित २. असंधिज स्वरित ३. सामान्य स्वरित। इसको निम्नलिखित रेखा-चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

स्वरित

- संधिज
  - अभिनिहित
  - क्षैप्र
  - प्रश्लिष्ट
- असंधिज
  - जात्य
- सामान्य
  - तैरोव्यञ्जन
  - तैरोविराम
  - पादवृत्त
  - ताथाभाव्य

उपर्युक्त स्वरित भेदों में से सात स्वरितों में पूर्ववर्ती स्वर उदात्त रहता है, यह विधान वा० प्रा० १।११२ में किया गया है।[1] तात्पर्य यह है कि जात्य स्वरित को छोड़कर अभिनिहित क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त एवं ताथाभाव्य स्वरित स्वरों में संधि से पूर्व अंश उदात्त रहता है। संधिज स्वरितों के विषय में वा० प्रा० १।११३ में विधान करते हुए कहा गया है कि तीन स्वरित स्वर (अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट) में उत्तर पदादि अनुदात्त होता है।[2] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जात्य स्वरित को छोड़कर अन्य सात स्वरित स्वर सन्धि के पूर्व, उदात्त आदि वाले होते हैं। इनमें भी अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट तीन संधिज स्वरितों में पूर्व पदान्तीय उदात्त एवं उत्तर पदादि अनुदात्त रहता है। पूर्व पदान्तीय उदात्त तथा उत्तर पदादि अनुदात्त में तत्तद वर्ण सन्धि एवं स्वर होकर सन्धिज स्वरित निष्पन्त होते हैं।

सन्धिज स्वरित

सन्धिज का शाब्दिक अर्थ है सन्धि से उत्पन्न। जो स्वरित दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न होता है, उसे सन्धिज स्वरित कहते हैं। इनमें दो स्वरों की सन्धि होती है एवं दो स्वरों के स्थान पर एक नवीन स्वर आ जाता है। स्वरों के साथ-साथ उदातादि स्वर धर्मों की भी सन्धि होती है। स्वरों के धर्मभूत उदात्तादि स्वरों की सन्धि से जो स्वरित स्वर निष्पन्न होता है, उसे सन्धिज स्वरित कहा जाता है। अब तीन सन्धिज स्वरितों का विवेचन किया जा रहा है।

---

१. उदात्तादयः परे सप्त। -वा० प्रा० १।११२।

२. त्रयो नीचस्वरपराः। -वा० प्रा० १।११३।

(१) अभिनिहित स्वरित

वा०प्रा० ४।६२ में विधान करते हुए कहा गया है कि पदान्तीय एकार तथा ओकार से परे पदादि ह्रस्व अकार का अभिनिहित या पूर्वरूप हो जाता है।[१] अभिनिहित सन्धि के फलस्वरूप निष्पन्न होने वाले स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं। वा० प्रा० १।११४ के अनुसार पदान्तीय उदात्त एकार, ओकार से परे पदादि अनुदात्त अकार का लोप होने पर सन्धि के परिणाम स्वरूप निष्पन्न स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं।[२] वा०प्रा० ४।६३ के अनुसार पूर्व पदान्तीय एकार, ओकार उदात्त होने पर एवं बाद में अनुदात्त अकार होने पर स्वरित स्वर होता है।[३] इस प्रकार के स्वरित अभिनिहित स्वरित कहलाते हैं। उदाहरण– ते। **अ॒व॒न्तु** (प०पा०) **तेँऽवन्तु** (वा०सं०पा०१९।५८)। **वे॒दः। अ॒सि॒** (प०पा०) = **वे॒दोँऽसि** (वा०सं०पा० २।२१)।

उपर्युक्त उदाहरणों में उदात्त एकार तथा ओकार पूर्व में रहने पर अनुदात्त अकार का लोप हो गया है एवं उदात स्वर स्वरित हो गया। इस स्वरित को अभिनिहित स्वरित कहते हैं।

शुक्ल-यजुर्वेद संहिता में इस नियम का एक ही अपवाद उपलब्ध है। जिसका विधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि देशे पद का उदात्त एकार अभवत् पद के परवर्ती रहने पर (अभिनिहित) स्वरित नहीं होता है।[४] उदाहरण– **दे॒शे॒। अ॒भ॒व॒त्** (प०पा०) **=दे॒शेऽभँवत** (सं०पा० ३४।११)। वा०प्रा० १।१२५ के अनुसार अभिनिहित स्वरित का तीक्ष्ण प्रयत्न है। भाष्यकारों के मतानुसार उच्चारण और हस्त प्रदर्शन दोनों में तीक्ष्णता प्रतीत होती है।[५]

क्षैप्र-स्वरित

पाणिनीय व्याकरण का यण् सन्धि ही प्रातिशाख्यों में क्षैप्र सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। वा०प्रा० में सन्धि के अन्तर्गत क्षैप्र संज्ञा का प्रयोग नहीं है किन्तु इस सन्धि का विधान किया गया है। भावि स्वर, इ, उ आदि की अपेक्षा सन्धि के परिणाम स्वरूप उत्पन्न अन्तस्थ य् व् आदि वर्ण के उच्चारण क्षिप्रता (शीघ्रता) होने के कारण इस सन्धि को क्षैप्र-सन्धि

---

१. एदोद्भ्यां पूर्वमकारः। -वा० प्रा० ४।६२।

२. एदोद्भ्यामकरो लुगभिनिहितः। -वा० प्रा० १।११४।

३. तौ चैदुदातावनुदाते स्वरितौ। -वा० प्रा० ४।६३।

४. न देशेऽभवति। -वा० प्रा० ४।६४।

५. तीक्ष्णोऽभिनिहितः परम्परं मृदुस्त्वन्यः। -वा० प्रा० १।१२५ तीक्ष्ण उच्चारणतो हस्तेन चाभिनिहितः स्वरो भवति। -वा० प्रा० १।१२५ पर उवट।

कहते हैं। इस प्रकार की सन्धि पर जो स्वरित आश्रित होता है, उसे क्षैप्र स्वरित कहते है। वा०प्रा० १।११५ में विधान करते हुए कहा गया है कि उदात्त इकार उकार का यकार तथा वकार होने पर क्षैप्र स्वरित होता है।[1] अर्थात् उदात्त धर्मवान् इ या उ असमान स्वर बाद में होने पर जब क्रमशः यकार एवं वकार हो जाता है तब उत्तरवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है। इसे ही क्षैप्र स्वरित कहते हैं। वा०प्रा० ४।४७ के अनुसार (असवर्ण) स्वर बाद में होने पर पूर्ववर्ती भावी (इकार, उकार) वर्ण अन्तःस्थ (य्, व्) हो जाता हैं।[2] वा०प्रा० ४।४९ में उपर्युक्त सन्धि स्थल में स्वर का निर्देश करते हुए किया गया है कि उदात्त धर्मवान् (इ अथवा उ) के अन्तस्थ (य्, व्) हो जाने पर उत्तरवर्ती अनुदात्त अक्षर स्वरित हो जाता है।[3] वा०प्रा० १।११५ के नियमानुसार इस प्रकार की सन्धि से निष्पन्न स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहते हैं। उदाहरण– त्रि। **अम्बकम्** (प०पा०) = **त्र्यम्बकम्** (सं० पा०) नु। **इन्द्र** (प०पा०) =**न्विन्द्र** (सं०पा० ३।५२)। इन उदाहरणों में वा० प्रा० ४।४७ से उदात्त इकार, उकार को परवर्ती असवर्ण अनुदात्त स्वर होने पर सन्धि के परिणाम स्वरूप यकार वकार हो गया है। वा० प्रा० ४।४९ द्वारा सन्धि के फलस्वरूप विहित स्वरित क्षैप्र संज्ञक है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वरित विधान १।११५ में इकार उकार वर्ण के ही अन्तस्थीभाव की चर्चा है जबकि अन्तःस्थीभाव ऋ एवं ऌ का भी वा० प्रा० ४।४७ के अनुसार विहित है। वा० प्रा० के अनुसार ऌ वर्ण पदान्तीय नहीं है। अतएवं उदाहरण की अनुपलब्धि से इन दोनों वर्णों की क्षैप्र-स्वरित (१।११५) में उपेक्षा कर दी गयी है।

क्षैप्र स्वरित के सन्दर्भ में वा०प्रा० तथा पाणिनि में एक मौलिक अन्तर दिखाई पड़ता है। सभी प्रतिशाख्यकार दो सिद्ध पदों में ही पदान्तीय इकार अथवा उकार के उदात्त यण् होने पर उत्तर पदादि अनुदात्त को स्वरित होने का उल्लेख करते हैं, एक ही पद में अन्तोदात्त शब्द और सर्वानुदात्त सुबन्त प्रत्यय के योग में स्वरित का उल्लेख नहीं करते किन्तु पाणिनि तथा उनके व्याख्याकारों ने एक ही पद में उदात्त और स्वरित यण् के पश्चात् आने वाले अनुदात्त के स्वरित होने का विधान किया है।

प्रश्लिष्ट स्वरित

पाणिनीय व्याकरण की दीर्घ-सन्धि, गुण-सन्धि एवं वृद्धि-सन्धि को प्रातिशाख्यों में प्रश्लिष्ट-सन्धि कहा जाता है। वा० प्रा० में यद्यपि प्रश्लिष्ट संज्ञा का प्रयोग नहीं किया

---

१. युवर्णा यवौक्षैप्रः। -वा० प्रा० १।११५।

२. स्वरे भाव्यन्तस्थाम्। -वा० प्रा० ४।४७।

३. उदात्तस्यान्तस्थीभावे स्वरितं परमनुदात्तम्। -वा० प्रा० ४।४९।

गया है तथापि एक स्थल पर प्रश्लेष शब्द का प्रयोग अवश्य किया गया है। प्रशिलष्ट-स्वरित इस नाम से ऐसा ज्ञात होता है कि सर्वत्र जहाँ प्रश्लिष्ट-सन्धि हुई हो, वहाँ यह प्रश्लिष्ट स्वरित होना चाहिए किन्तु ऐसी बात नहीं है। जहाँ-जहाँ प्रश्लिष्ट सन्धि होगी वहाँ-वहाँ प्रश्लिष्ट स्वरित हो, यह आवश्यक नहीं। किन्तु जहाँ-जहाँ प्रश्लिष्ट स्वरित होगा वहाँ-वहाँ प्रश्लिष्ट सन्धि अवश्य होगी। वा०प्रा० १।११६ में प्रश्लिष्ट स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि पूर्व पदान्त उदात्त धर्मव्रान् ह्रस्व इकार तथा उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार के प्रश्लेष में प्रश्लिष्ट स्वरित होता है।[2] अभिप्राय यह है कि पदान्तीय तथा उत्तर पदादि दो ह्रस्व इकारों की प्रश्लिष्ट सन्धि वा०प्रा० ४।५२ द्वारा होने पर जो स्वरित उत्पन्न होता है उसे प्रश्लिष्ट स्वरित कहते हैं। वा०प्रा० ४।१३५ के अनुसार पूर्व पदान्तीय उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार एवं उत्तर पदादि अनुदात् धर्मवान् ह्रस्व इकार की सन्धि में स्वरित हो जाता है।[3] इस स्वरित को प्रश्लिष्ट-स्वरित कहा जाता है। उदाहरण– **सुचि इव** (प०पा०) = **स्रुचीव** (सं०पा० २०।७०)। **अभि। इन्धन्ताम्** (प०पा०) =**अभीन्धताम्** (सं०पा० ११।६१)। यहाँ पर ४।५२ द्वारा पदान्त उदात्त इ की पदादि अनुदात्त इ के साथ सन्धि होकर 'ई' हो गया तथा ४।१३५ से स्वरित हो गया। यह स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहलाता है। प्रश्लिष्ट स्वरित के सामान्य विधान ४।१३५ के अपवाद स्वरूप वा०प्रा० ४।१३६ में एक विधान किया गया है। वा० प्रा० ४।१३६ के अनुसार वीक्षिताय पद का एकीभाव स्वरित होता है।[4] उदाहरण– वि। **ई। क्षिताय** (प०पा०) = **वीक्षिताय** (सं०पा०२२।८)। यहाँ पर उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् दीर्घ ईकार होने पर भी प्रश्लिष्ट स्वरित हुआ है।

असन्धिज-स्वरित (जात्य)

स्वतंत्र स्वरित के अन्तर्गत असंधिज स्वरित एक भिन्न वर्ग है। इस असन्धिज स्वरित के अन्तर्गत केवल एक स्वरित आता है और वह है जात्य-स्वरित। जो स्वरित जन्म या स्वभाव से ही स्वरित होता है उसे जात्य या नित्य स्वरित कहते हैं। वा० प्रा० १।११ के अनुसार एक पद में अनुदात्त पूर्व एवं यकार वकार के सहित स्वरित हो जात्य स्वरित कहते हैं।[3] भाष्यकार उवट के मतानुसार नीच पूर्व यह विशेषण संभावना के लक्ष्य से है

---

१. प्राग्निभ्यामनिन्धौ प्रश्लेषे। -वा० प्रा० ५।३३।
२. इवर्ण उभयतो ह्रस्वः प्रश्लिष्टः। -वा० प्रा०१।११६।
३. इवर्णमुभयतो ह्रस्वमुदात्तपूर्वमनुदात्तपरं स्वरितम्। -वा० प्रा० ४।१३५।
४. वीक्षितायेति च। -वा० प्रा० ४।१३६।
५. एकपदे नीचपूर्वः सवयो जात्यः। -वा० प्रा० १।१११।

अतएव कोई स्वर पूर्व में न होने पर भी जात्य होता है।[1] या० शि० में भी इसी प्रकार का विधान किया गया है। अभिप्राय यह है कि एक पद में अनुदात्त पूर्व में होने पर या कोई भी स्वर पूर्व में न होने पर यकार वकार युक्त स्वर जहाँ पर स्वरित होता है वहाँ पर वह जात्य स्वरित होता है। उदाहरण– (१) **अनुदात्तपूर्व-कन्या** (प०पा०) **=कन्या** (सं०पा० १७।९७) (२) **अपूर्व-स्वः** (प०पा०) **=स्वः** (सं०पा० १८।६४)।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में कन्या एवं स्वः ये एक पद हैं तथा क्रमशः यकार और वकार से युक्त है। प्रथम उदाहरण में पूर्व में अनुदात्त है अतएव यह नीच पूर्व जात्य स्वरित है। दूसरे उदाहरण में कोई स्वर पूर्व में नहीं है अतएव यह स्वरित अपूर्व जात्य स्वरित है।

जात्य-स्वरित को नित्य-स्वरित भी कहते हैं। त्रिभाष्यरत्नकार के मतानुसार जो स्वरित संहिता, पद, क्रम और जटा-पाठ आदि में सर्वत्र विद्यमान रहता है उसे नित्य-स्वरित कहा जाता है।[2] इस नित्य स्वरित की उपलब्धि संहिता, पद, क्रम आदि सभी पाठों में समान रूप से होती है। अतः नित्य इसकी अन्वर्थ संज्ञा है क्योंकि इस जात्य स्वरित का किसी नियम के प्रभाव से परिवर्तन नहीं होता तथा प्रत्येक दशा में यह अपरिवर्तनीय होता है।

कतिपय आधुनिक विचारकों के अनुसार कन्या तथा स्वः आदि स्थल मौलिक रूप से सन्धि के स्थल हैं। यथा कनी+आ=कन्या, सु अः=स्व। उनके कथनानुसार यद्यपि यहाँ अब सन्धि नहीं मानी जाती है किन्तु इन स्थलों में क्षैप्र सन्धि का प्रवेश है तथा क्षैप्र स्वरित की भाँति यहाँ भी उदात्त और अनुदात्त के मिलने से ही स्वरित स्वर होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में पदपाठ के पद सिद्ध माने जाते हैं एवं इन सिद्ध पदों के आधार पर सन्धिविधान संहितापाठ के लिए किया जाता है। अतएव कन्या एवं स्वः आदि पदपद पाठ से सिद्ध पद है अतः उनमें सन्धिविधान प्राप्त नहीं होते। परिणाम स्वरूप कन्या, स्वः इत्यादि पदों में नित्य या जात्य स्वरित ही है, क्षैप्र स्वरित नहीं है।

सामान्य-स्वरित

समान पद में अथवा पृथक-पृथक पदों में पूर्ववर्ती उदात्त के कारण परवर्ती अनुदात्त स्वर जब सामान्य स्वरित हो जाता है, तब उस स्वरित को सामान्य स्वरित कहते हैं। इसमें उदात्त ही परवर्ती अनुदात्त के स्वरित में है अतः इसे नैमित्तिक स्वरित भी कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका आश्रित स्वरित के रूप में उल्लेख किया है क्योंकि इसका स्वरित

---

१. नीचपूर्व इति सम्भवद्विशेषणम्। अपूर्वोऽपि भवति। -वा० प्रा० १।१११ पर उ० भा०।

२. सर्वत्रिति संहितापदजटास्वित्यर्थः। -तै० प्रा० २०।८ पर त्रि०।

धर्म पूर्ववर्ती एवं परवर्ती उदात्त पर ही निर्भर रहता है।[1] अतः इसे विद्वानों ने सांहितिक स्वरित या सन्निधिज स्वरित भी कहा है। संहिता में उदात्त की छाया स्वरित के रूप में दिखाई पड़ती है ऐसा मानकर आचार्य विश्वबन्धु ने इस प्रकार के स्वरित का छाया-स्वरित के नाम से उल्लेख किया है।[2] इस स्वरित के अन्तर्गत तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम पादवृत्त तथा ताथाभाव्य- इन चार स्वरितों का समावेश है।

वा०प्रा० ४।१३७ में सामान्य-स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि उदात्त अक्षर के बाद में स्थित अनुदात्त अक्षर स्वरित हो जाता है।[3] इसका तात्पर्य बतलाते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि उदात्त अक्षर से परवर्ती अनुदात्त अक्षर मध्य में व्यञ्जन वर्ण के व्यवधान होने पर भी स्वरित हो जाता है।[4] परन्तु इस विधान के अपवाद स्वरूप प्रातिशाख्य ग्रन्थों में यह विधान मिलता है कि उदात्त तथा स्वरित परे रहते पूर्ववर्ती अनुदात्त स्वरित नहीं होता है। वा०प्रा० में इस विधान का अपवादात्मक स्वरूप न होकर पुनर्विधानात्कम स्वरूप वा०प्रा० ४।१३८ में प्राप्त होता है। वा०प्रा० ४।१३८ के अनुसार उदात्त एवं स्वरित बाद में होने पर पूर्ववर्ती उदाताश्रित स्वरित अनुदात्त हो जाता है।[5] उदाहरण– (१) **स्वाहा। सोमाय** (प०पा०) =**स्वाहा सोमाय** (सं०पा० १०।५) (२) **भुवः। स्वः** (प०पा०) **भुवः स्वः** (क्रम सं० पा० ३।५)।

यहाँ पर प्रथम उदाहरण में स्वरित हा के बाद में सो उदात्त है तथा दूसरे उदाहरण में व स्वरित के बाद में स्वः स्वरित है। अतएव प्रस्तुत नियम के अनुसार पूर्ववर्ती स्वरित सं०पा० में अनुदात्त हो गया है। कतिपय आचार्यों के मत में अवग्रह में पूर्ववर्ती स्वरित उदात्त एवं स्वरित बाद में होने पर भी अनुदात्त नहीं होता है।[6] अर्थात् कुछ आचार्यों के अनुसार अवग्रह से अतिरिक्त स्थल में स्वरित से बाद में उदात्त या स्वरित होने पर पूर्व का स्वरित अनुदात्त हो जाता है, किन्तु अवग्रह में वह स्वरित उदात्त या स्वरित बाद में होने पर भी वह स्वरित स्वरित ही बना रहता है, अनुदात्त नहीं होता। उदाहरणार्थ– **तनूनपादिति तनू। नपात**। अब यहाँ पर सामान्य स्वरित के प्रकारों पर विचार प्रस्तुत

---

१. इदानीमक्षराणां व्यञ्जनभव्यहितानां यः स्वरः संहितायां भवति स उच्यते। -वा० प्रा० ४।१३७ पर उवट।
२. वेदसार परिशिष्ट (१) पृ० १४७।
३. उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्। -वा० प्रा० ४।१३७।
४. उदात्ताच्चाक्षरात् परं व्यञ्जनव्यवहितमनुदात्तमक्षरं स्वरितं भवति। -वा० प्रा० ४।१३७ पर उवट।
५. निहितमुदात्तस्वरितपरम्। -वा० प्रा० ४।१३८।
६. अनवग्रहे। -वा० प्रा० ४।१३९।

किया जाता है।

तैरोव्यञ्जन-स्वरित

वा०प्रा० १।११७ के अनुसार नाना पद में अथवा एक पद में जहाँ व्यञ्जन का व्यवधान होने पर भी पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव के कारण परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उस स्वरित को तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं।[1] उदाहरण– **इडे** (मूलरूप) = **इडे** (संपा० ८।४३)। **देवः। वः** (प०पा०) = **देवो वः** (सं०पा० १।१)।

यहाँ पर प्रथम उदाहरण में इ उदात्त है तथा मध्य में उकार व्यञ्जन व्यवहित एकार अनुदात्त है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार परवर्ती अनुदात्त एकार स्वरित हो जाता है। यह तैरोव्यञ्जन स्वरित है। दूसरे उदाहरण में देवः पद का वकार के बाद वाला अकार उदात्त है जिससे परवर्ती वः पद का अकार अनुदात्त है। दोनों स्वर वर्णों के मध्य में वकार व्यञ्जन का व्यवधान है व्यञ्जन व्यवहित होने पर भी स्वरित हो जाता है जिसे तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं।

प्रतिशाख्य-ग्रन्थों और शिक्षा-ग्रन्थों के अनुसार उदात्त के ठीक बाद में आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि उसके पर कोई उदात्त या स्वरित न हो। इस विधान के अनुसार जो अनुदात्त ठीक उदात्त के बाद आता है। वह स्वरित हो जायेगा। किन्तु यदि उदात्त के बाद और अनुदात्त से पूर्व व्यञ्जनों का व्यवधान हो जाय तो वहाँ अनुदात्त का स्वरित होना सम्भव नही, क्योंकि वह उदात्त के ठीक बाद नहीं। इस प्रकार की संभावना को दूर करने के लिए प्रातिशाख्यकार स्वर विधान में व्यञ्जनों की गणना ही नहीं करते। स्वर विधान में व्यञ्जन अविद्यमानवत् समझा जाता है।[2] पं० युधिष्ठिर मीमांसक के मतानुसार व्यञ्जन को अविद्यमान अर्थात् तिरोहित समझने के कारण ही प्रातिशाख्यों में इसका तैरोव्यञ्जन-स्वरित[3] नाम रखा गया है। तैरोव्यञ्जन के शाब्दिक अर्थ के सम्बन्ध में अनेक विचार मिलते हैं। वैदिकाभरणकार के मतानुसार तैरो (अथवा तैरस्) पद का अभिप्राय व्यवधान है, अतः जिसमें व्यञ्जन का व्यवधान हो ऐसा उदात्त पूर्व स्वरित तैरोव्यञ्जन संज्ञक होता है।[4] ऋ०प्रा० ३।१८ में भाष्यकार उवट के मतानुसार स्वर प्रसङ्ग में जहाँ व्यञ्जन तिरोहित अथवा अन्तर्हित हो जाता है वह तैरोव्यञ्जन संज्ञक होता है।[5] यहाँ यह

---

१. स्वरो व्यञ्जनयुतस्तैरोव्यञ्जनः। -वा० प्रा० १।११७।

२. स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् भवति। -महा० ६।१।२२३।

३. वैदिकं-स्वर-मीमांसा, पृ० ३४।

४. तैरोव्यञ्जन इत्यन्वर्थसंज्ञा। पदशब्दोऽत्रानुवर्तते। पदे समानपदे उदात्तपूर्वको व्यञ्जनव्यवहितो यः स्वरितः स तैरोव्यञ्जनसंज्ञो भवति। -तै० प्रा० २०।७। पर वै० आ०।

५. तिरोऽन्तर्धानं व्यञ्जनं यस्येति तैरोव्यञ्जनः। -ऋ- प्रा० ३।१८ पर उवट।

ज्ञातव्य है कि तैरोव्यञ्जन स्वरित के विधान में प्रत्यक्ष दृश्य व्यञ्जन के रहने पर भी वह अप्रभावी रहता है।

वस्तुतः तिरस् शब्द का अर्थ पदार्थ की स्थिति रहते हुए उसका अदृश्य हो जाना (छिपजाना) या अदृश्य समझ लेना है। लोप की तरह पदार्थ की सत्ता का अभाव तिरस् शब्द नहीं करता। तिरस् सम्बन्धित स्थिति को तैरस् कहा जाता है। इस प्रकार स्थिति रहते हुए भी इसे अदृश्य समझकर व्यवहार होना तैरस् पद वाच्य है।

तैरोविराम-स्वरित

अवग्रहगत मात्राकालिक विराम को तिरोहित मानकर स्वरित हो जाने को तैरोविराम स्वरित कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अवग्रह में इस प्रकार का विराम होता है।[१] क्योंकि संहितापाठ के एक पद को जब पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा दो पद्यों में पृथक् कर दिया जाता है तब उन दो पद्यों के उच्चारणों के मध्य में एक मात्रा काल का व्यवधान होता है। इस व्यवधान के परिणामस्वरूप पूर्व पद्य के अन्तिम उदात्तर स्वर का उत्तर पद्य के प्रथम अनुदात्त स्वर पर प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

किन्तु वाजसनेयिसंहिताओं के पद-पाठ में वा०प्रा० १।१४८ के अनुसार अवग्रह में भी संहितावत् स्वरविधि के विधान के अनुसार पूर्व पद्य के अन्तिम उदात्त के प्रभाव से उत्तर पद्य के प्रथम अनुदात्त को स्वरित हो जाता है। इस स्वरित की ही विशेष संज्ञा तैरोविराम की गयी है। वा०प्रा० १।११८ के अनुसार अवगृह्य पद का पूर्व पद उदात्त स्वरान्त हो जिसके प्रभाव से उत्तर पद्य का प्रथम अनुदात्त स्वरित हो जाता है, उसे तैरोविराम स्वरित कहते हैं।[२] उदाहरण– **गोपंतावितिगो पंतौ** (प०पा०) **=गो पंतौ** (सं०पा० १।१।) उदात्त और स्वरित के मध्य में अवग्रह रूप विराम का व्यवधान होने के कारण ही इस विशेष भेद को तैरोविराम स्वरित कहते हैं. अतः अवग्रह पद-पाठ में ही होता है, अतएव यह स्वरित केवल पद पाठ में ही उपलब्ध होता है। संहितापाठ में तो यह तैरोव्यञ्जन स्वरित ही माना जाता है।[३]

तैत्तिरीय संहिता में तैरोविराम स्वरित नहीं उपलब्ध होता है क्योंकि वहाँ अवग्रह को विराम माना जाता है। तथा उत्तर पद को असंहितवत् ही माना जाता है। तैरोविराम स्वरित वहीं पर होता है जहाँ पद-पाठ में उत्तर पद को संहितवत् समझा जाता है। ऋ०प्रा० ३।२४

१. समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः। -वा० प्रा० ५।१।

२. उदवग्रहस्तैरोविरामः। -वा० प्रा० १।११८।

३. अयं च पदकाल एव भवति अवग्रह वचनात्। अवग्रहाभावे तु तैरोव्यञ्जन एव। -वा० प्रा० १।११८ पर अनन्त।

में भी तैरोविराम-स्वरित का विधान मिलता है जिसे प्रोफेसर वर्मा ने अपने ऋ०प्रा० एक-परिशीलन में तैरो वग्रह संज्ञा से अभिहित किया है।[१] यहाँ पर उदात्तादनुदात्तस्स्वरितः (अ०८।४।६६) के अनुसार स्वरित नहीं हो सकता क्योंकि विराम के कारण पूर्ववर्ती उदात्त का क्षेत्र विराम के पहले ही समाप्त हो जाता है।

पादवृत्त-स्वरित

वा०प्रा० १।११९ पर भाष्यकार उवट का मत है कि दो स्वर वर्णों के मध्य में कालकृत व्यवधान को विवृत्ति कहते हैं। विवृत्ति के द्वारा व्यवहित स्वरितपादवृत्त स्वरित होता है।[२] अभिप्राय यह है कि संहिता में जहाँ पदान्तीय और पदादि दो स्वरों के मध्य सन्धि की स्थिति होने पर भी सन्धि नहीं होती है वह विवृत्ति है।[३] यह विवृत्ति दो प्रकार की होती है। (१) एक ही पद में जिसे अन्तःपद विवृत्ति कहते हैं। (२) दो भिन्न पदों में होने वाली विवृत्ति। पादवृत्त स्वरित का सम्बन्ध मुख्यतः भिन्न पदस्थ विवृत्ति के साथ है। दो स्वर-वर्णों के बीच विवृत्ति व्यवधान होने पर भी पदान्त स्वर वर्ण के उदात्त धर्म के प्रभाव से परवर्ती पदादि अनुदात्त स्वर स्वरित होता है तो इस प्रकार के स्वरित को पादवृत्त स्वरित कहते हैं। वा०प्रा० १।११९ में पादवृत्त स्वरित के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि विवृत्ति से लक्षित होने वाला (अर्थात् विवृत्ति के स्थान में होने वाला) स्वरित पादवृत्त स्वरित होता है।[४] उदाहरण– **ध्रुवा। असदन्** (प०पा०) = **ध्रुवाऽअंसदन्नृतस्य** (सं०पा०२।६)। यहाँ उदाहरण में उत्तर पद असदन् का आदि अनुदात्त अकार पूर्वपद ध्रुवा के अन्तिम उदात्त आकार के प्रभार से स्वरित हो गया है। इस स्वरित को पादवृत्त स्वरित कहते हैं क्योंकि उदात्त आ एवं अनुदात्त अ के मध्य में विवृत्ति है।

ताथाभाव्य-स्वरित

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वाजसनेयि-प्रातिशाख्य को छोड़कर अन्य प्रातिशाख्यों में इसका उल्लेख नहीं है। इस स्वरित की भी सत्ता पदपाठ में ही उपलब्ध होती है। वा०प्रा० में ताथाभाव्य स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि दो उदात्त वाले समस्त पद में दो उदात्तों के बीच अनुदात्त हो जो कि पूर्व पद के अन्त में हो तो वह स्वरित हो जाता

---

१. द्र० डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा- ऋग्वेद-प्रातिशाख्य एक परिशीलन पृ० २२४।

२. स्वरयोरनन्तरयोरन्तरं विवृतिरुच्यते, तया लक्ष्यत इति विवृति लक्षणः स पादवृत्तसंज्ञः स्वरौ भवति। विवृत्या व्यवहित इत्यर्थः। -वा० प्रा० १।११९ पर उवट।

३. द्वयोस्तु एवस्वरयोर्मध्ये सन्धिर्यत्र न दृश्यते। विवृत्तिस्तत्र विज्ञेयायऽईशे तु निदर्शनम्। - या० शि० २।९।

४. विवृत्ति लक्षणः पादवृत्तः। -वा० प्रा० १।११९।

है तो इसे ताथाभाव्य स्वरित कहते हैं।[1] उदाहरण—**तनूनप्त्रे** (सं०पा०५।५) **तनूनप्त्रऽइति तनू नप्त्रे** (प०पा०) यहाँ तनूनप्त्र इस अवगृह्य पद में तकार और नकार दो उदात्त वर्ण हैं तथा दोनों के मध्य में नू अनुदात्त है। पदपाठ में तनू पद से अवग्रह में पृथक्करण होता है एवं अनुदात्त नू स्वरित हो जाता है। इस स्वरित को ताथाभाव्य स्वरित कहा जाता है।

यह ताथाभाव्य संज्ञक स्वरित माध्यन्दिनीय संहिता में नहीं मिलता है इसका उल्लेख या०शि० में किया गया है।[2] माध्यन्दिन शाखा में वा० प्रा० १।१४८ के अनसार अवग्रह-स्थल में दो पदों के पृथक्करण एवं मध्य में विराम के व्यवधान को स्वर चिन्ता में संहितावत् माना जाता है।[3] संहितावत् मानने के परिणामस्वरूप— **तनूनप्त्र इति तनू। नप्त्रे** में अनुदात्त नु के बाद उदात्त स्वर होने के कारण वह अनुदात्त ही बना रहता है स्वरित नहीं होता है। इस ज्यों के त्यों भाव के कारण ही इस अनुदात्त को ताथाभाव्य स्वर कह सकते हैं। भाष्यकार उवट का मत है कि वा०प्रा० में जो यह ताथाभाव्य स्वरित का स्वरितों के अन्तर्गत विधान किया गया है वह माध्यन्दिन तथा काण्व-शाखा के पदपाठ को लक्ष्य कर नहीं है अपितु उन आचार्यों के मत से है जिनके मत में पदपाठीय अवग्रह स्थल का विराम असंहिता रहता है जिसके परिणाम स्वरूप संहिता व स्वरित स्वर (**तनू नप्त्र इति तनू नप्त्रे**) होता है। यतः उन शाखाओं में स्वरित होता है। अतः ताथाभाव्य स्वरित का स्वरितों के अन्तर्गत पाठ है।[4]

स्वरित-स्वर का उच्चारण प्रयत्न

विभिन्न स्वरितों के उच्चारण में किस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए इस बात का उल्लेख वा०प्रा० में किया गया है। वा०प्रा० १।१२५ के अनुसार अभिनिहित तीक्ष्ण प्रयत्न वाला स्वरित है अन्य परवर्ती स्वरित एक दूसरे की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न वाले हैं।[5] भाष्यकार उवट के मतानुसार उच्चारण की दृष्टि से एवं हस्तस्वर की दृष्टि से अभिनिहित (स्वरित) स्वर तीक्ष्ण होता है। अभिनिहित स्वरित के अतिरिक्त अन्य स्वरित क्रमशः एक

१. उदाद्यन्तौ न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः। -वा० प्रा० १।१२०।

२. माध्यन्दिनविरोधी स्यात् ताथाभाव्यस्तु यः स्वरः। स्वरौ नैवात्र दृश्येते भिन्नोदात्तानुदात्तकौ। -या० शि० १।८६।

३. संहितावदग्रहः स्वरविधौ परं च सर्वं चेदनुदात्तम्। -वा० प्रा० १।१४८।

४. यस्तु ताथाभाव्यस्य स्वरितानां मध्ये पाठः अयमन्येषामाचार्याणां मतेन। तेषां हि तनू शब्दः संहितावद् भवति अतोऽसो स्वरितो भवति। तमभिप्रायेण स्वरितानां मध्ये पाठः। -वा० प्रा० १।१२० पर उवट।

५. तीक्ष्णोऽभिनिहितः परम्परं मृदुस्त्वन्यः। -वा० प्रा० १।१२५।

दूसरे की अपेक्षा मृदु प्रयत्न वाले होते है।[1] वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त तथा तथाभाव्य इस क्रम से स्वरित रखे गये हैं। इस प्रकार वा०प्रा० के अनुसार अभिनिहित स्वरित का तीक्ष्ण प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिए, क्षैप्र का अभिनिहित की अपेक्षा कुछ मृदु प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिए। उच्चारण में क्षैप्र एवं जात्य दोनों समान प्रयत्न वाले हैं।[2] प्रश्लिष्ट का उच्चारण क्षैप्र स्वरित की अपेक्षा मृदु प्रयत्न से करना चाहिए, तैरोव्यञ्जन को प्रश्लिष्ट की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से तैरोविराम का तैरोव्यञ्जन की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से तथा पादवृत्त का तैरोविराम की अपेक्षा मृदुतर प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिए। चूँकि ताथाभाव्य स्वरित वाजसनेयियों में कम्प माना जाता है, अतः स्वरितों की सूची में पादवृत्त स्वरित को अन्तिम स्वरित मानकर इसका उच्चारण मृदुतम प्रयत्न से करने को कहा है। महाभाष्यकार द्वारा दी गयी उदात्त और अनुदात्त के उच्चारण की व्यवस्था से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्ण के उच्चारण स्थान के मध्यभाग से जब वर्ण का उच्चारण किया जाता है तब स्वरित होता है, किन्तु इस बात का महाभाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कथन नहीं किया है।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य के उपर्युक्त विवरण से ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक स्वरित भेद का उच्चारण भिन्न-भिन्न रीति से किया जाता था। परन्तु आज जो वेदाध्ययन की परम्परा चल रही है उसमें स्वरित भेदों के उच्चारण में उपर्युक्त प्रयत्नगत विशेषता एवं विभिन्नता श्रूयमाण नहीं है जिसके उच्चारण को सुनकर यह कहा जा सके यह सामान्य स्वरित है, यह क्षैप्र स्वरित है अथवा अन्य कोई स्वरित है।

कम्प

वा०प्रा० में सूत्रकार ने न तो कम्प संज्ञा का प्रयोग किया है एवं न ही कम्प का स्पष्ट विधान किया है। परन्तु ४।१३८ सूत्र के पर्यालोचन से यह प्रतीत होता है कि शुक्ल-यजुर्वेद की किसी शाखा में कम्प का प्रयोग था। भाष्यकार उवट ने माध्यन्दिन शाखा के पद-पाठ में ताथाभाव्य नामक कम्प का उल्लेख किया है। भाष्यकार द्वारा माध्यन्दिन शाखानुयायी औज्जिहायनक आचार्य की कारिका भी उद्धृत की गयी है।[3]

---

१. तीक्ष्ण उच्चारणतः हस्तेन चाभिनिहितः स्वरो भवति। ततोऽन्यो मृदुप्रयत्नो भवति। -वा० प्रा० १।१२५ पर उवट।

२. क्षैप्रे जात्यस्यान्तर्भावो द्रष्टव्यः। -वा० प्रा० १।१२५ पर उवट।

३. अतो माध्यन्दिनानां पदकाले ताथाभाव्यसंज्ञकः कम्पो भवति। तथा चोक्त मौज्जिहायनकैर्माध्य-न्दिनमतानुसारिभिः-
अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदशर्नम्।। -वा० प्रा० १।१२० पर उ० भा०।

कम्पन कम्प का शाब्दिक अर्थ है। जब दो उच्च ध्वनियों के बीच में एक निम्न ध्वनि का उच्चारण होता है तब उतार चढ़ाव के कारण निम्न ध्वनि में थर्राहट या कम्पन होता है। इसे ही कम्प कहा जाता है।

वा०प्रा० के विधानानुसार-स्वरित स्वर का उत्तरवर्ती अंश प्रकृष्ट रूप से अनुदात्त उच्चारित किया जाता है।[१] भाष्यकार उवट ने सूत्र के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वतंत्र स्वरित (अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट) के पश्चात् उदात्त अथवा स्वरित आने पर कतिपय आचार्यों के मतानुसार स्वरित का उत्तरवर्ती अंश का अनुदात्त हो जाता है। यथा– **स्वर्ण धर्मः = स्व१र्ण धर्मः।**

उपर्युक्त उदाहरण में स्व अक्षर स्वतंत्र स्वरित है जिसके बाद में उदात्त वर्ण स्थित है। ऐसी स्थिति में वा० प्रा० ४।१४० के अनुसार स्वतंत्र स्वरित के अन्तिम अनुदात्तांश को कम्प हो जाता है। इस कम्प को ऋग्वेद में स्वरित वर्ण के आगे **१** का चिन्ह लगाकर दिखाया जाता है।

उपर्युक्त कम्प विधान शुक्ल-यजुर्वेद की किसी शाखा में था जो इस समय अनुपलब्ध है। अतएव प्रस्तुत कम्प विधान के सम्बन्ध में प्रमाणों के अभाव में इससे और अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

प्रचय

वा०प्रा० में उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित इन स्वरों के अतिरिक्त प्रचय नामक स्वर का भी विधान मिलता है। वा०प्रा० में प्रचय के लिए उदात्तमय शब्द प्रयुक्त हुआ है।

प्रचय मूलरूप में अनुदात्त होता है। पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से जब अनुदात्त अनुदात्त के समान उच्चारित न होकर उदात्त के समान उच्चारित होता है तब उसे प्रचय कहते हैं। इस प्रकार प्रचय कोई स्वतंत्र स्वर नहीं है, अपितु परिस्थितिवशात् अनुदात्त ही प्रचय हो ज़ाता है। पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव के कारण ही अनुदात्त का स्वरित होता है जबकि पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव के कारण एक या एक से अधिक अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं। पा०व्या० के अनुसार संहिता में स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्तों का एक श्रुति स्वर होता है।[२] उदाहरणाथ– **इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति।** यहाँ पर इमम् पद में मकार कते अकार का 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि० १।१) सूत्र से उदात्त स्वर है मे के एकार का 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (अ० ८।१।१८) सूत्र से अनुदात्त स्वर है, किन्तु यहाँ म के उदात्त

---

१. स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते। -वा० प्रा० ४।१४०।

२. स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्। -पा० १।२।३९।

अकार के बाद में होने के कारण 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (अ० ८।४।५६) सूत्र से स्वरित स्वर हुआ है। इसके बाद वर्तमान गंगे, यमुने तथा सरस्वति इन तीनों पदों का 'आमन्त्रितस्य च' (अ० ८।१।१९) से सर्वानुदात्त स्वर हुआ है। प्रस्तुत उदाहरण में स्वरित के बाद होने के कारण इनका 'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' (अ० १।२।३९) सूत्र से एकश्रुति स्वर होता हैं। वा० प्रा० ४।१४१ के अनुसार स्वरित स्वर से परवर्ती अनुदात्त स्वर उदात्तमय होता है।[1] भाष्यकार उवट के मतानुसार स्वरित अक्षर से परवर्ती व्यवधानरहित जो अनुदात्त अक्षर होता है वह उदात्तमय होता है। उदात्तमय प्रचित एकश्रुति ये पर्यायवाची है।[2] वा०प्रा०४।१४२ में यह भी विधान मिलता है कि स्वरित से परवर्ती व्यञ्जन-व्यवहित अनुदात्त अक्षर अनेक होने पर भी उदात्तमय अर्थात् प्रचय हो जाते हैं।[3] अभिप्राय यह है कि स्वरित से बाद में स्थित व्यञ्जन व्यवहित या अव्यवहित एक दो या अनेक अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं। उदाहरण–**(१) अग्ने। अङ्गिरः (प०पा०१२/८) =अग्नेअङ्गिरः (सं०पा० १२/८)। (२) त्वाम्। अ॒द्य। ऋ॒ष॒। आ॒र्षे॒य॒। ऋ॒षी॒णा॒म्। न॒पा॒त्। अ॒वृ॒णी॒त॒ (प०पा०) त्वमंद्य ऋषऽआर्षेय ऋषीणां नपादवृणीत (सं०पा० २१/६१)।**

उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में स्वरित से परवर्ती तीन अनुदात्त प्रचय है एवं द्वितीय उदाहरण में स्वरित से परे पन्द्रह अनुदात्त प्रचय हैं।

प्रचय के विधान को बतलाकर ४।१४३ में यह निर्देश किया गया है कि उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर अनुदात्त प्रचय नहीं होता है।[4] अभिप्राय यह है कि स्वरित से परवर्ती अनुदात्त के बाद में यदि उदात्त अथवा स्वरित हो, तो अनुदात्त प्रचय नहीं होता अपितु अनुदात्त ही रहता है। उदाहरण– **तया दे॒वतया** (सं०पा० १३।२४)।

यहाँ स्वरित से बाद में स्थित अनुदात्त (दे) के बाद उदात्त है, अतः अनुदात्त प्रचय नहीं है। इसी तरह स्वरित बाद में रहने पर भी अनुदात्त प्रचय नहीं होता।

महाभाष्यकार के अनुसार प्रचय कहीं उदात्त श्रुति है, कहीं अनुदात्त श्रुति, कहीं उदात्त अनुदात्त की मध्यश्रुति है।[5]

---

१. स्वरितात् परमनुदात्तमयम् -वा० प्रा० ४।१४१।

२. स्वरिताक्षरात्परं अव्यवहितं यदनुदात्तमक्षरं तदुदात्तमयं भवति। उदात्तमयं प्रचितमेकश्रुतीति पर्यायाः। -वा० प्रा० ४।१४१ पर उवट।

३. अनेकमपि। -वा० प्रा० ४।१४२।

४. नोदात्तस्वरितोदयम्। -वा० प्रा० ४।१४३।

५. उदात्ता (एकश्रुतिः) कथं ज्ञायते? यदयमुच्चैस्तरां वा वषट्कार इत्याह। उच्चैर्दृष्ट्वा उच्चैस्तरामित्येतद्द् भवति। अनुदात्ता च (एकश्रुतिः) कथं ज्ञायते? यदयम् उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतर इत्याह। सन्नं दृष्ट्वा सन्नतर इत्येतद्द् भवति। पा० १।२।३३ पर महा०।

एकश्रुति के सन्दर्भ में काशिकाकार एवं कैय्यट का मत स्पष्ट है। इनके मतानुसार उदात्तादि स्वरों का अविभाग अथवा अभेद अथवा भेद का तिरोधान हो जाना एकश्रुति कहा जाता है, क्योंकित इसमें नीर-क्षीर के सम्मिश्रण के समान उदात्त अनुदात्त के भेद का तिरोधान हो जाता है।[१]

यद्यपि प्रचय स्वर मूलरूप में अनुदात्त है परन्तु कुछ बातों में वह उदात्त एवं स्वरित से साम्य रखता है जबकि अन्य बातों में वह उनसे भिन्न भी है। इसका विवेचन नीचे दिया जा रहा है—

उदात्त और प्रचय

(१) उदात्त की तरह प्रचय स्वर पर भी कोई चिन्ह नहीं होता है परन्तु प्रचय पहले स्वरित अवश्य रहता है।[२] (२) प्रचय उदात्तमय होता है अर्थात् प्रचय उत्क्षेपण से रहित उदात्त के समान सुना जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रचय उदात्त ही होता है अपितु प्रचय एवं उदात्त के उच्चारण में सूक्ष्म अन्तर होता है। (३) उदात्त एक स्वतंत्र स्वर है परन्तु प्रचय स्वतंत्र-स्वर नहीं है।

स्वरित और प्रचय

(१) हस्त प्रदर्शन में प्रचय और स्वरित दोनों का समान स्थान है अर्थात् प्रचय और स्वरित दोनों का ही हाथ द्वारा मध्य में प्रदर्शन होता है।

(२) जिस प्रकार ४।१३८ के अनुसार उदात्त एवं स्वरित बाद में होने पर स्वरित अनुदात्त हो जाता है उसी प्रकार वा० प्रा० ४।१४३ के अनुसार प्रचय उदात्त एवं स्वरित बाद में होने पर अनुदात्त ही रहता है।

स्वरों की सन्धि

वा०प्रा० के चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों में उदात्तादि स्वरों की सन्धि का विधान मिलता है। उदात्तादि स्वर अक्षरों पर आश्रित है। अतएव स्वरों की सन्धि का अर्थ यह है कि जब पदान्त और पदादि स्वर वर्ण के मिलने से एक स्वर निष्पन्न होता है, तब पदान्तीय

---

१. (क) स्वराणामुदात्तादीनामविभागो भेदाभेदतिरोधानमेकश्रुतिः। मा० भ० १।२।३३ पर का०वृ०।

(ख) क्षीरोदकवदुदात्तानुदात्तयोर्भेद तिरोधानमेकश्रुतिरित्यर्थः। स्वरिते तु विभागेन तयोरुपलब्धिः।-महा० १।२।३३ पर कैय्यट।

२. उदात्तोऽचिह्न एवं च प्रचयोऽपि भवेत्तथा।
परं स्वरितपूर्वस्तु प्रचयः सर्वथा भवेत्।। — सम्प्र० शि० ३९ श्लो०।

स्वर वर्ण का स्वर एवं पदादि स्वर वर्ण का स्वर ये दोनों स्वर धर्म भी मिलकर एक स्वर हो जाते हैं। अब यहाँ पर क्रमशः स्वरों की सन्धि का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है–

(१) उदात्त-सन्धि

वा०प्रा० ४।१३४ के विधानानुसार पदान्त अथवा पदादि में स्थित उदात्त की जब पदादि या पदान्त में स्थित अनुदात्त या स्वरित के साथ सन्धि होती है तो दोनों की सन्धि से निष्पन्न स्वर उदात्त होता है।[१] कहने का अभिप्राय यह है कि उदात्त विशिष्ट स्वर वर्ण की किसी भी अन्य स्वर वाले वर्ण के साथ सन्धि होने पर सन्धि के परिणाम स्वरूप उत्पन्न स्वर उदात्त ही होता है। उदाहरण– (१) **ये। अन्नेषु** (प०पा०) = **येऽन्नेषु** (सं०पा० १६।६१) यहाँ पर उदात्त (ये) एवं उदात्त (अ) की सन्धि में उदात्त ही स्वर है। (२) **प्र। अर्पयतु** (प०पा०) = **प्रार्पयतु** (सं०पा० १।१) यहाँ पर उदात्त (प्र) एवं अनुदात्त (अ) मिलकर उदात्त हो गये हैं।

वा०प्रा०४।१३४ के अपवाद स्वरूप निम्नलिखित विधान प्राप्त होते हैं। इनमें पदान्तीय उदात्त एवं पदादि अनुदात्त होने पर दोनों की सन्धि से उत्पन्न स्वर स्वरित होता है।

(१) वा०प्रा० ४।१३५ के विधानानुसार पूर्वपदान्तीय उदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार के साथ उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व इकार की सन्धि में स्वरित स्वर होता है।[२] उदाहरण– **स्रुचि। इव** (प०पा०) = **स्रुचीव** (सं० पा० २०।७१)।

उपर्युक्त उदाहरण में पूर्व पदान्तीय ह्रस्व उदात्त इकार एवं उत्तर पदादि अनुदात्त ह्रस्व इकार की सन्धि होने पर सन्धि के परिणाम उत्पन्न स्वर स्वरित हो गया है।

(२) वा०प्रा० ४।४९ के विधानानुसार पदान्त उदात्त इकार तथा उकार की पदादि अनुदात्त असमान स्वर वर्ण के साथ अन्तःस्था (य्, व्) सन्धि होने पर सन्धिस्थ अनुदात्त स्वर स्वरित होता है।[३] अर्थात् उदात्त इकार तथा उकार को यकार एवं वकार होने पर उदात्त और अनुदात्त की सन्धि में सन्धिस्थ स्वर उदात्त न होकर स्वरित होता है। उदाहरण– (१) **देवी। एतु** (प०पा०) = **देव्यैतु** (संपा० ३३।८९)। (२) **नु। इन्द्र** (प०पा०) = **न्विन्द्र** (सं०पा० ३।५२) इन उदाहरणों में क्रमशः उदात्त इकार एवं उकार की परवर्ती एकार एवं इकार के साथ सन्धि होने पर उदात्त के उत्तरवर्ती अनुदात्त स्वरित हो गये हैं।

(३) वा०प्रा० ४।६३ के अनुसार पूर्व पदान्तीय उदात्त धर्मवान् ए तथा औ के साथ

---

१. उदात्तवानुदात्तः। -वा० प्रा० ४।१३४।

२. इवर्णमुभयतोह्रस्वमुदात्तपूर्वमनुदात्तपरं स्वरितम्। -वा० प्रा०४।१३५।

३. उदात्तस्यान्तस्थीभावे स्वरितं परमनुदात्तम्। -वा० प्रा० ४।४९।

उत्तर पदादि अनुदात्त धर्मवान् अकार की अभिनिहित सन्धि (पूर्वरूप) में सन्धि के परिणाम स्वरूप उत्पन्न स्वर स्वरित होता है।[१] उदाहरण– **ते। अप्सरसाम्** (सं०पा० २४।३७)। वा०प्रा० ४।६३ द्वारा विहित स्वरित का अपवाद ४।६४ में किया गया है। वा०प्रा० ४।६४ के अनुसार देशे पद के उदात्त एकार की उत्तर पदादि अनुदात्त अभवत् के अकार के साथ अभिनिहित (पूर्वरूप) सन्धि होने पर स्वरित नहीं होता है।[२] उदाहरणार्थ– **देशे। अभवत्** (प०पा०) =**देशेऽभवत्** (सं०पा० ३४।११) यहाँ पर पूर्व विहित स्वरित का निषेध होकर सामान्य स्वर नियम 'उदात्तवानुदात्तः' (वा० प्रा० ४।१३४) के अनुसार उदात्त हो गया है।

स्वरित सन्धि

वा०प्रा० ४।१३३ के विधानानुसार पदान्तीय स्वरित धर्मवान् अच् के साथ उत्तर पदादि अनुदात्त एवं प्रचय धर्मवान् अच् की सन्धि में सन्धि के परिणाम स्वरूप उत्पन्न स्वर स्वरित होता है।[३] उदाहरण– (१) **पथ्या इव** (प०पा०) = **पथ्येव** (सं०पा० ११।५) यहाँ पर अवग्रह में– स्वरित (थ्या) के बाद में प्रचय (इव) के साथ सन्धि होने पर सन्धिज स्वर स्वरित रहता है।

(२) =**ब्रह्मा। असृज्यत** (प०पा०) = **ब्रह्मासृज्यत** (सं०पा०१४।२८) यहाँ पर पदान्तीय स्वरित अच् के साथ उत्तर पदादि अनुदात्त अच् की सन्धि में सन्धिज स्वर स्वरित है।

अनुदात्त सन्धि

उदात्त और स्वरित के साथ अनुदात्त की एकीभाव सन्धि क्रमशः उदात्त एवं स्वरित होता है। अनुदात्त एवं अनुदात्त की एकीभाव सन्धि में सर्वत्र अनुदात्त ही होता है। उदाहरण– **पश्येम। अक्षिभिः** (प०पा०) =**पश्येमाक्षिभिः** (सं०पा० २५।२१) प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वपदान्तीय मकार एवं उत्तर पदादि अकार दोनों ही अनुदात्त हैं तथा इन दोनों की दीर्घ सन्धि होकर अनुदात्त स्वर ही होता है। वा०प्रा० में इस अनुदात्त सन्धि का स्पष्ट रूपेण उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु सूत्रकार कात्यायन का यह विधान है कि आदेश के अभाव में यथास्थिति रहती है,[४] अनुदात्त सन्धि गतार्थ हो जाती है।

---

१. तौ चेदुदात्तावनुदात्ते स्वरितौ। -वा० प्रा० ४।६३।

२. न देशेऽभवति। -वा० प्रा० ४।६४।

३. स्वरितान् स्वरितः। -वा० प्रा० ४।१३३।

४. अनादेशेऽविकारः। -वा० प्रा० ४।१३१।

शुक्ल-यजुर्वेद में स्वराङ्कन पद्धति

वैदिक साहित्य में स्वरों की पहचान के लिए चिन्ह लगे रहते हैं। इन चिन्हों के आधार पर ही वेदाध्ययन होता है। स्वराङ्कन के चिन्ह सभी ग्रन्थों में समानरूप से उपलब्ध नहीं है। यहाँ पर शुक्ल-यजुर्वेद की उपलब्ध माध्यन्दिन एवं काण्व संहिता की स्वराङ्कन पद्धति को प्रस्तुत किया जा रहा है–

उदात्त

माध्यन्दिन संहिता एवं काण्व संहिता में उदात्त स्वर पर कोई भी चिन्ह नहीं होता, अतएवं उदात्त स्वर को अचिह्नित छोड़ देते हैं। यथा– **इषे।** यहाँ पर ये उदात्त है और इसे अचिन्हित रखा गया है। अचिह्नित उदात्त स्वरित चिह्न से पहले अथवा अनुदात्त से बाद में मिलता है।

अनुदात्त

माध्यन्दिन-संहिता एवं काण्व-संहिता में अनुदात्त स्वर वर्ण के नीचे पड़ी रेखा (-) लगाते हैं। यथा– **इ॒षे।** यहाँ **इ॒** अनुदात्त है जिसे पड़ी रेखा से चिह्नित किया गया है।

स्वरित

स्वरित स्वर को अङ्कित करने में काण्व संहिता एवं माध्यन्दिन संहिता में कुछ अन्तर है। काण्व संहिता में सभी स्वरितों को वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा (॑) से चिन्हित किया जाता है जैसे– **अ॒ग्निना॑। कन्या॑।**

माध्यन्दिन संहिता में सामान्य अथवा आश्रित स्वरित को तथा एकाक्षर जात्य स्वरित को पदपाठ में तो वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिन्हित करते हैं परन्तु स्वतंत्र, सन्धिज एवं असन्धिज (=जात्य) स्वरित को वर्ण के ऊपर खड़ी रेखा से चिन्हित न कर वर्ण के नीचे एक समकोण (-) के चिन्ह से अङ्कित करते हैं, जैसे– **धान्यम् योजान्विन्द्र।** यदि स्वतंत्र स्वरित के ठीक बाद कोई उदात्त अथवा स्वतंत्र स्वरित (सन्धिज एवं असन्धिज) हो तो उस स्वरित को वर्ण के नीचे अंग्रेजी के डब्ल्यू (ω) जैसे चिन्ह से अङ्कित करते हैं। यथा- **त॒न्वा शन्त॑मया।**

प्रचय

माध्यन्दिन संहिता एवं काण्व संहिता में प्रचय पर कोई चिन्ह नहीं होता है। अतएव यह अचिह्नित ही रहता है। चूँकि उदात्त एवं प्रचय दोनों ही उपर्युक्त संहिताओं में अचिन्हित रहते हैं अतएव दोनों में क्या अन्तर है यह जानना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में यह जानना चाहिए कि प्रचय सर्वदा स्वरित स्वर के बाद में रहता है अन्यत्र नहीं।

स्वरों का हाथ से प्रदर्शन

शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा में स्वरों का हाथ से प्रदर्शन भी होता है। उदात्तादि स्वरों को हाथ से प्रदर्शित करने का विधान बतलाते हुए कहा गया है कि वे उदात्तादि स्वर हाथ से प्रदर्शित किये जाते हैं।[१] उदात्तादि त्रैस्वर्यों का प्रदर्शन किस प्रकार किया जाता है इस विषय में वा०प्रा० में सर्वाङ्गीण विवेचन नहीं मिलता है अपितु कुछ विशिष्ट प्रदर्शन विधाओं का ही विवेचन किया गया है। यहाँ पर वा० प्रा० के आधार पर स्वरों के हस्त प्रदर्शन का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उदात्त

वा०प्रा० १।१२१ पर भाष्य करते हुए उवट ने बतलाया है कि उदात्त का प्रदर्शन हाथ के ऊर्ध्वगमन द्वारा होता है।[२]

अनुदात्त

भाष्यकार उवट के मतानुसार अनुदात्त में हाथ को नीचे करना चाहिए।[३]

स्वरित

सामान्यतया कर्णेन्द्रिय मूल के समानान्तर हाथ की स्थिति रखते हुए स्वरित का प्रदर्शन किया जाता है किन्तु जात्य, अभिनिहित, क्षेप्र और प्रश्लिष्ट स्वरित में स्थिति की विशेषता के अनुसार हस्त प्रदर्शन में भी विभिन्नता हो जाती है। इसका निर्देश वा०प्रा० १।१२२-२४ में किया गया है तदनुसार विवेचन इस प्रकार है (१) जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरितों में हस्त प्रदर्शन का विशेष विधान करते हुए वा०प्रा० १।१२२ का विधान है कि चार स्वरितों जात्य अभिनिहित, क्षेप्र और प्रश्लिष्ट को हाथ की तिरछी स्थिति से प्रदर्शित किया जाना चाहिए।[४] हाथ की तिरछी स्थिति कैसी होती है? इसको स्पष्ट करते हुए भाष्यकार उवट का कथन है कि पितृदानवत् हाथ की मुद्रा से चार स्वरितों का स्वर लिया जाना चाहिए।[५] वा०प्रा० १।१२२ के विधानानुसार जात्य, अभिनिहित, क्षेप्र एवं प्रश्लिष्ट स्वरितों का प्रदर्शन तिर्यक् हस्त (पितृ-पिण्ड प्रदानवत्) मुद्रा से किया जाता है। तिर्यक् हस्त से (या पितृदानवत्) स्वरणीय स्वरित के लिए स्वराङ्कन में समकोण (-) चिन्ह प्रयुक्त होता है।

---

१. हस्तेन ते। -वा० प्रा० १।१२१।

२. तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य। -वा० प्रा० १।१२१ पर उवट।

३. अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य। -वा० प्रा० १।१२१ पर उवट।

४. चत्वारस्तिर्यक्स्वरिताः। -वा० प्रा० १।१२२।

५. पितृदानवद्धस्तं कृत्वेत्यर्थः। -वा० प्रा० ४।१२२ पर उवट।

(२) अनुदात्त पूर्व वाले जात्य, अभिनिहित क्षैप्र और प्रश्लिष्ट स्वरितों के बाद में उदात्त रहने पर वा०प्रा० का विधान है कि हाथ को अनुदात्त में ऋजु निपातित करना चाहिए।[1] अभिप्राय यह है कि यदि जात्यादि स्वरितों के ठीक बाद में उदात्त स्वर हो तो हाथ को अनुदात्तवत् करना चाहिए और उसको प्रकृष्ट रूप से नीचे ले जाना चाहिए। सम्प्रदायानुसार उदात्तपर जात्यादि स्वरों में प्रथमतः हाथ को थोड़ा नीचे दाहिने ओर झुकाया जाता है और पुनः एकदम उलट कर अधोमुख कर दिया जाता है।

काण्व आचार्य का मत

माध्यन्दिन शाखा में उदात्त बाद में होने पर जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट स्वरितों का तिर्यक् हस्त प्रचालन द्वारा प्रदर्शन होता है, परन्तु आचार्य काण्व के मतानुसार काण्वशाखा में इन चारों स्वरितों में तिर्यक् हस्त प्रचालन तभी होगा जब इनके पूर्व अनुदात्त स्वर हो।[2] उदात्त पूर्व होने पर अथवा अपूर्व होने पर तिर्यक् हस्त प्रचालन नहीं होगा।[3] उदाहरण– अनुदात्त **पूर्व-वै॒ष्ण॒व्यौ** (का०सं० १।४।१), **धा॒न्य॑मसि** (का०सं० १।७)

उपर्युक्त उदाहरणों में आचार्य काण्व के मतानुसार स्वरित में हाथ को तिर्यक् करना चाहिए। भाष्यकार उवट के अनुसार काण्व आचार्य के मत में उदात्तपूर्व या अपूर्व होने पर जात्यादि स्वरितों का उच्चारण तैरोव्यञ्जनवत् हस्त प्रचालन द्वारा करना चाहिए।[4]

स्वर की दृष्टि से पदों के भेद

स्वर की दृष्टि से भाष्यकार उवट ने वैदिक पदों का वर्गीकरण किया है। वा०प्रा० २।१ के भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि समस्त वेदों में स्वरमूलक पदों का स्वरूप अर्थात् पदभक्ति ग्यारह प्रकार की है।[5] ये ग्यारह पदभक्तियाँ निम्न हैं–

---

१. ऋजुन्निहत्य प्रणिहन्यते उदात्ते। -वा० प्रा० ४।१२४।

२. अनुदात्तं चेत् पूर्व तिर्यङ्निहित्य काण्वस्यु। -वा० प्रा० १।१२३।

३. एतेषां चतुर्णा जात्यादीनां यद्यनुदात्तं पूर्व भवति तदा तिर्यग्घस्तं कृत्वा स्वरयितव्याः। काण्वाचार्यस्य मतेन उदात्तपूर्वे अपूर्वे च न भवति। -वा० प्रा० १।१२३ पर उवट।

४. उदात्तपूर्वेष्वपूर्वेषु च जात्यादिषु तैरोव्यञ्जनवद् हस्तः क्रियते। -वा० प्रा० १।१२३ पर उवट।

५. तत्र स्वरितस्य चत्वारो भेदाः भवन्ति। तद्यथा- आदि स्वरित मध्य स्वरितान्तस्वरित सर्वस्वरितानि पदानि भवन्ति। उदात्तस्य चत्वारो भेदाः भवन्ति। तद्यथा- आद्युदात्त मध्योदात्तान्दोतात्त-सर्वोदात्तानि पदानि भवन्ति। एता अष्टौ पदभक्तयोऽनेन सूत्रेणोक्ताः। द्व्युदात्त त्र्युदात्त सर्वानुदात्तानि वक्ष्यति। एवमेता एकादशपदभक्तयो भवन्ति सर्ववेदेषु। -वा० प्रा० २।१ पर उवट।

(क) उदात्तमूलक छः पदभक्ति— १. सर्वोदात्त (२) आद्युदात्त (३) मध्योदात्त (४) अन्तोदात्त (५) द्व्युदात्त (६) त्र्युदात्त

(ख) अनुदात्त मूलक एक पद भक्ति (७) सर्वानुदात्त

(ग) स्वरितमूलक चार पद भक्ति (८) सर्वस्वरित (९) आदिस्वरित (१०) मध्यस्वरित (११) अन्तस्वरित।

सर्वोदात्त पद

वा०प्रा० २।५०-५१ में सर्वोदात्त विषयक विधान किया गया है जिनमें चार पद सर्वोदात्त बतलाये गये हैं। सर्वोदात्त विषयक सूत्र निम्न हैं—

(१) वा०प्रा० २।५० के अनुसार अग्ना३इ, लाजी३न् और शाची३न् ये तीन पद त्रिमात्रिक एवं सर्वोदात्त होते हैं।[1] उदाहरण— अग्ना३ह (प०पा०) =अग्ना३इ (सं०पा० ८।१०)। लाजी३न् (प०पा०) लाजी३न् (सं०पा० २३।८)। शाची३न् (प० पा०) शाची३न् (सं० पा० २३।८)।

(२) वा०प्रा० २।५१ में विधान करते हुए कहा गया है कि प्रणव (ओङ्कार) पद तीन मात्रा वाला एवं सर्वोदात्त होता है।[2] उदाहरण— ओ३म् (प०पा०) =ओ३म् खम्ब्रह्म (सं०पा० ४०।१७)।

आद्युदात्त पद

आद्युदात्त के अन्तर्गत पद का आदि अक्षर उदात्त होता है। आदि अक्षर के उदात्त होने से पद के शेष सभी अक्षर सामान्य नियम २।२ के अनुसार अनुदात्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् वा०प्रा० ४।१३५, १३९-१४० के अनुसार उदात्त के पश्चात् वर्तमान प्रथम अनुदात्त अक्षर स्वरित तथा उससे परवर्ती अक्षर (यदि हो तो) वह प्रचय हो जाता है। पद का यह स्वरूप पदपाठ में उपलब्ध होता है।

भाष्यकार उवट के मतानुसार वा० प्रा० में आद्युदात्त स्वर का अधिकार २।२२ से प्रारम्भ होता है।[3]

पूर्वपदमूलक आद्युदात्त

(१) वा० प्रा० २।२१ के अनुसार इडा पद से परवर्ती नौ आमन्त्रित पद, स्वान

---

१. सर्वमग्नाऽइ लाजीऽञ्छाचीऽनिति त्रिमात्राणि च। -वा- प्रा० २।५०।

२. प्रणवश्च। -वा० प्रा० २।५१।

३. इतउत्तरमाद्युदात्ताधिकारः प्रवृत्तः। -वा० प्रा० २।२२ पर उवट।

पद से परवर्ती छ आमन्त्रित पद, अग्नि पद से परवर्ती चार आमन्त्रित पद, भग पद परवर्ती चार आमन्त्रित पद इन्द्र पद से परवर्ती एक आमन्त्रित पद, सिनीवालि पद से परवर्ती एक आमन्त्रित पद तथा प्रजापतये से परवर्ती ब्रह्मन् पद आद्युदात्त होते हैं।[1] उदाहरण—**इडे। रन्ते। हव्ये। काम्ये। चन्द्रे। ज्योते। अदिति। सरस्वति। महि। श्रुति। (प०पा०)= इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते अदिति सरस्वति महि विश्रुति (सं०पा० ८/४३) स्वान। भ्राजे। अङ्घारि। बम्भारि। हस्त। सुहस्ते तिसु हस्त। कृशानोऽइति कृशानो (प०पा०)= स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारि हस्त सुहस्त कृशान (सं०पा० ४/२७)।**

अग्ने। इन्द्र। वरुण। मित्र। देवाः (प०पा०) = अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः (सं०पा० ३३/४८)।

भग। प्रणेतः। प्रनेतरितिप्र नेतः। भगे। सत्यराघऽइतिसत्य राधः। भग (प०पा०)= भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां (सं०पा० ३४/३६)। इन्द्र गोमन् (प०पा०)=इन्द्र गोमन्निहायाहि (सं०पा० २६/४)।

सिनीवालि। पृथुष्टुके (प०पा०)=सिनीवालि पृथुष्टुके (सं०पा०३४/१०) प्रजापतयऽइतिप्रजा पतये। ब्रह्मन् (प०पा०) = प्रजापतये ब्रह्मन् (सं०पा० २२/४)।

(२) वा०प्रा० २।२३ के अनुसार न रिष्येम पद पूर्व में होने पर कदा पद आद्युदात्त होता है।[3] उदाहरण— **न रिष्येम कदाचन** (सं०पा० ३४।४१[2])। पाणिनीय मतानुसार सर्वेकान्यकियत्तदः काले दा (अ० ५।३।१५) इस सूत्र से दा प्रत्ययान्त है तथा प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है।

(३) वा०प्रा० २।४१ के अनुसार धनदा एवं रत्नधा पद पूर्व में होने पर परवर्ती असि पद आद्युदात्त होता है।[4] उदाहरण— **धनदाऽइतिधन-दाः। असि (प०पा०) = त्वं हि धनदा असि (सं०पा० ९/२८)।**

रत्नधाऽइति रत्न-धाः। असि (प०पा०) = त्वं हि रत्नधा असि (सं०पा० २६/२१)।

---

१. इडौत्तराणि नव स्वानोत्तराणि षडग्न्युत्तराणि चत्वारि भगोत्तराणि चेन्द्रोत्तरमेकं सिनीवाल्युत्तरं च प्रजापतये ब्रह्मन्निति च। -वा० प्रा० २।२१।

२. अत्र ब्रह्मन्नित्यामन्त्रितमाद्युदात्तं भवति। -वा० प्रा० २।२१ पर उवट।

३. कदा नरिष्येमपूर्वम्। -वा० प्रा० २।२३।

४. धनदारत्नधाभ्यां च। -वा० प्रा० २।४१।

उत्तरपदमूलक आद्युदात्त पद

(१) वा०प्रा० २।३७ के अनुसार राट् शब्द परे रहते पूर्ववर्ती यन्त्री शब्द आद्युदात्त होता है।[1] उदाहरण—**यन्त्री। राट्(प०पा०) = यन्त्री राड्यन्त्र्यसि (सं०पा०१४/२२)**

(२) वा० प्रा० २।४२ के अनुसार पौष पद बाद में न होने पर रायः पद आद्युदात्त होता है।[2] उदाहरण- **त्वे इति त्वे। रायः। मे इतिमे। रायः (प०पा०)=त्वरायो मे रायः (सं०पा० ४/२२)।**

(३) वा० प्रा० २।४४ के अनुसार बद्ध और हित पद परे रहते पूर्ववर्ती त्रिघा शब्द, आद्युदात्त होता है।[3] उदाहरण— **त्रिघा। बद्धः (प०पा०)= त्रिधा बद्धो (सं०पा० १७/९१) त्रिधा। हितन् (प०पा०)=त्रिधा हितम् (सं०पा० १७/९२)।**

(४) वा०प्रा९ २।४० के विधानानुसार शिवा, सुषदा, पयस्वती, यत्ते, मधुमतीः, वर्चस्वान्, ओजिष्ठः भ्राजिष्ठः, शुष्मिणी, भद्रवाच्याय, बन्धः, मेध्यः यमः, आदित्यः, त्रितः, सोमेन और स्वसा ये बाद में होने पर असि पद आद्युदात्त होता है।[4] उदाहरण— **असि। शिवा (प०पा०) = सुक्ष्मा चासि शिवा (सं०पा० १/२७)। सुषदा (प०पा०) = स्योना चासि सुषदा (सं०पा० १/२७) पय (प०पा०)= ऊर्ज्जस्वती चासि पयस्वती च। (सं०पा० १/२७)।**

असि। यत्। ते (प०पा०) = पृथिव्यामसि यत्ते (सं०पा० ५/९) भागः। असि। मधुमतीरितिमधुमतीः (प०पा०) =येषां भागोऽसि मधुमतीः (सं०पा० ७/१) असि। वर्च्चस्वान् (प०पा०) =देवेष्वसि वर्च्चस्वान् (सं०पा० ८/३८) असि। ओजिष्ठः (प०पा०) देवेष्योजिष्ठः (सं०पा० ८/३९) असि। भ्राजिष्ठः (प०पा०)= देवेष्वस्योजिष्ठः (सं०पा० ८/४०) असि। शुष्मिणी (प०पा०)= त्वमसि शुष्मिणी (सं०पा० १९/७) असि। भद्रवा व्यायेतिभद्र वाच्याय (प०पा०) होतरसि भद्रवाच्याय (सं०पा० २१/६१)।

असि। वन्द्यः (प०पा०) ईड्य यश्चासि वन्द्यः (सं०पा० २९/३) असि। मेध्यः (प०पा०) आशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते (सं०पा० २९/३)।

---

१. यन्त्री राट्। -वा० प्रा० २।३७।

२. रायोऽपोषे। -वा० प्रा० २।४२।

३. त्रिधा बद्धहितयोः। -वा० प्रा० २।४४।

४. असि शिवा सुषदा पयस्वती यत्ते मधुमतीर्वर्चस्वानोजिष्ठो भ्राजिष्ठः शुष्मिणी भद्रवाच्याय वन्द्यौ मेध्यो यमादित्यस्त्रितः सोमेन स्वसेत्येतेषु। -वा० प्रा० २।४०।

असि। यमः (प०पा०) = असि य मः (सं०पा० २९/१४)। असि। आदित्यः (प०पा०) = अस्यादित्यो अर्वन् (सं०पा० २९/१४)।

असि। त्रितः (प०पा०) = असि त्रितो गुह्येन (सं०पा० २९/१४)।

असि। सोमेन (प०पा०) = असि सोमेन (सं०पा० २९/१४)।

असि। स्वसा (प०पा०) = देवानामसि स्वसा (सं०पा० ३४/१०)।

पद स्वरूप मूलक आद्युदात्त

वा०प्रा० के विधानानुसार कतिपय विशिष्ट पद आद्युदात्त होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

(१) वा०प्रा० २।२२ के विधानानुसार भूति पद आद्युदात्त होता है।[1] उदाहरण— **भूत्यै जागरणम (प०पा०) = भूत्यै जागरणम् (सं०पा० ३०/१७)।**

(२) वा०प्रा० २।३९ के अनुसार सर्व, विश्व, मानुषा, आशाः, स्वाहा, वाजः, पयः तथा नमः पद आद्युदात्त होते हैं।[2] उदाहरण— **विश्वम्। भवति (प०पा०) = विश्वं भवति (सं०पा० ३२/८) मानुषा। युगा (प०पा०) = मानुषायुगा (सं०पा० १२/१११) आशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः (सं०पा० २७/७)। स्वाहा यथा— हिङ्काराय स्वाहा (सं०पा० २२/७) वाजः। व (प०पा०) = वाजश्च (सं०पा० १८/१)। पयः। पृथिव्याम् (प०पा०) = पयः पृथिव्याम् (सं०पा० १८/३६)। नमः। देवेभ्यः (प०पा०) = नमो देवेभ्यः (सं०पा० २/७)।**

(३) वा०प्रा० २।२९ के अनुसार दक्षिणा पद आद्युदात्त होता है।[3] उदाहरण— **दक्षिणा। यज्ञः (प०पा०) = दक्षिणा यज्ञः (सं०पा० १७/४०)।**

पदस्वरूप मूलक एवं अर्थप्रतिबन्धित आद्युदात्त

(१) वा० प्रा० २।२६ के अनुसार अव्यय व्यतिरिक्त अन्तः पद आद्युदात्त होता है।[4] यहाँ भाष्यकार उवट ने यह निर्दिष्ट किया है कि अन्तः शब्द दो प्रकार का वेद में प्राप्त होता है— (१) अव्ययवान् तथा (२) व्ययवान्। प्रस्तुत विधान व्ययवान् अन्तः पद

---

१. भूतिराद्युदात्तम्। -वा० प्रा० २।२२।

२. सर्व विश्व मानुषाशा स्वाहा वाजः पयो नमः। -वा० प्रा० २।३९।

३. दक्षिणा च। -वा० प्रा० २।२९।

४. व्ययवाँश्चान्तः। -वा० प्रा० २।२६।

के लिए है।[१] उदाहरण– **परः। अन्तः (प०पा०) परो अन्तः (सं०पा० २३/६२)।**

(२) वा०प्रा० २।२५ के विधानानुसार मृग का वाचक होने पर कृष्ण शब्द आद्युदात्त होता है।[२] उदाहरण– **कृष्णः। असि (प०पा०) = कृष्णोऽस्या खरेष्ठः (सं०पा० २/१)।**[३]

(३) वा०प्रा० २।२७ के अनुसार प्रधान अर्थ का प्रतिपादक होने पर वह पद आद्युदात्त होता है।[४] उदाहरण– **यस्मान्नजातः परो अन्यो असित। (सं०पा० ८/२६)।**[५]

(४) वा०प्रा० २।२८ के विधानानुसार परिमाण वाची 'मात्रा' शब्द आद्युदात्त होता है।[६] उदाहरण– **कस्य मात्रा न विद्यते। (सं०पा० २३/४७)।**[७]

(५) वा०प्रा० २।३१ के अनुसार शरीराङ्ग का वाचक कर्ण शब्द आद्युदात्त होता है।[८] उदाहरण– **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः (सं०पा० २३/४७)।**[९]

(६) वा०प्रा० २।३४ के अनुसार वीर्य (शक्ति) वाचक अन्तः शब्द आद्युदात्त स्वर को प्राप्त होता है।[१०] उदाहरण– **अन्धस्थान्धौ वो भक्षीय (सं०पा० ३/२०)।**[११]

---

१. अन्तः शब्दो द्विविधः व्ययवानव्ययवाँश्च। यस्य विभक्त्यादिभिर्विकारो न क्रियते सोऽव्ययवान्। तथा चोक्तम् ।
सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।
यस्य पुनर्विभक्त्यादिभिर्विकारः। क्रियते स व्ययवान्। -वा० प्रा० २।२६ पर उवट।

२. कृष्णो मृगसंयोगे। -वा० प्रा० २।२५।

३. अस्ति कृष्णशब्दो वर्णवचनोऽन्तोदात्तः। अस्ति कृष्णशब्दो मृगवचने आद्युदात्तः तदिहाद्युदात्तत्वात्कृष्णमृगो गृह्यते। तथा हि श्रुतिः यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो भूत्वा चचार इति। -मा० सं० २।१ पर उवट।

४. परः प्रधाने। -वा० प्रा० २।२७।

५. यस्मात्पुरुषादन्यो व्यतिरिक्तः परः उत्कृष्टः देवादिर्जातः संभूतोनास्ति। -मा० सं० ८ पर महीधर।

६. मात्रा च परिमाणे। -वा० प्रा० २।२८।

७. कस्यमात्रा परिमाणं न विद्यते। -मा० सं० २३।४७ पर महीधर।

८. कर्णः स्वाङ्गे। -वा० प्रा० २।३१।

९. हे देवाः, कर्णेभिः कर्णैः भद्रं कल्याणमनुकूलं वयं शृणुयाम। -मा०सं०२५।२१ पर महीधर।

१०. अन्धो वीर्ये। -वा० प्रा० २।३४।

११. अन्धस्थ अन्ध इत्यन्नाम। श्रुत्या तु लक्षणया वीर्यमित्युक्तम्। यानि वो वीर्याणि यानि वो महांसीति यतो यूयं वीर्यहेतुभूतमन्धः स्थ भवथ। -मा० सं० ३।२० पर उवट।

(७) वा०प्रा० २।२६ के अनुसार वर्णवाची रोहित पद समास में न स्थित होने पर आद्युदात्त स्वर को प्राप्त करता है।[1] उदाहरण—**रोहिंतो धूम्ररोहितः** (सं० पा० २४।२)।

(८) वा०प्रा० २।४५ के अनुसार भूतकाल अर्थ का प्रतिपादक होने पर सुकृत पद आद्यु दात्त स्वर को प्राप्त करता है।[2] उदाहरण—**सुकृतः कुर्तृभिंभूत्** (सं०पा०७।३९)।[3]

(९) वा०प्रा० २।३५ के अनुसार वर्णवाची एता पद आद्युदात्त होता है।[4] उदाहरण—**एता ऐन्द्राग्नाः** (सं०पा० २४।८)।[5]

लिङ्ग एवं विभक्ति मूलक आद्युदात्त

(१) वा०प्रा० २।३२ के अनुसार नपुंसक लिङ्ग में रहने पर महः पद आद्युदात्त होता है।[6] उदाहरण— **महस्थ महो वो भक्षीय** (सं०पा० ३।२०)।

(२) वा०प्रा० २।३३ के विधानानुसार नपुंसक लिङ्ग का वाचक श्रवः पद आद्युदात्त स्वर को प्राप्त करता है।[7] उदाहरण— **अग्ने तव श्रवो वयः** (सं०पा० १२।१०६)।[8]

(३) वा०प्रा० २।२४ में विधान करते हुए यह बतलाया गया है कि— पादादि, नानार्थक, अपदपूर्व, आमन्त्रित (सम्बोधन) पद आद्युदात्त होता है।[9] उदाहरण— **पादादि- अश्विना। सूनृतावतीमति सूनृता-वती (प०पा०) मधुम त्याश्विना सूनृतावती (सं०पा० ७/११) नानार्थक— देवाः। आशापाला इत्याशा पालाः (प०पा०) देवा आशापालाः (सं०पा०२२/१९) अपदपूर्व-अग्ने गृहपते (सं०पा०३/३९)**

(४) वा०प्रा० २।३८ के अनुसार आमन्त्रित विभक्ति से व्यतिरिक्त ओषधीः शब्द आद्युदात्त होता है।[10] उदाहरण— **या ओषधीः** (सं०पा० १२।७५)।

---

१. रोहितश्च केवलः। -वा० प्रा० २।३६।
२. सुकृतम्भूते। -वा० प्रा० २।४५।
३. सुकृतः साधुकृतः सत्कृतः पूजित इतयर्थः। -मा० सं० ७।३९ पर महीधर।
४. एता वर्णे। -वा० प्रा० २।३५।
५. एताः कर्बुरवर्णास्त्रय इन्द्राग्निः देवताः सप्तमे। -मा० सं० २४।८ पर महीधर।
६. महो नपुंसके। -वा० प्रा० २।३२।
७. श्रवश्च। -वा० प्रा० २।३३।
८. श्रावयति द्युलोके कृतं कर्मेति श्रवः। -मा० सं० १२।१०६ पर महीधर।
९. आमन्त्रितं च। -वा० प्रा० २।२४।
१०. ओषधीरनामन्त्रिते। -वा० प्रा० २।३८।

विकल्पित आद्युदात्त

वा०प्रा० २।६४ के अनुसार पत्तीः एवं हसः शब्द का अन्तोदात्त अथवा आद्युदात्त होता है।[१] उदाहरण– **पचन् पुत्तीः (सं०पा० २१।५९)। हसः यथात– पुंश्चली हसाय (सं०पा० ३।२०)।**

दोनों भाष्यकारों ने यहाँ आद्युदात्त स्वर के उदाहरण दिये हैं। विधान में दोनों ही स्वर विकल्प से होने पर भी शाखा भेद व्यवस्था प्रामाणिक है।[२] क्योंकि वेदपाठ में विकल्प का अवसर नहीं मिलता है।

अपवाद

(१) वा०प्रा० २।३० के अनुसार दश, विश्वकर्मा, निषद्य, इन्द्रस्य, पातु, सदः, सद्भ्यः इन पदों के बाद में होने पर पूर्ववर्ती दक्षिणा शब्द आद्युदात्त स्वर को नहीं प्राप्त होता है।[३] उदाहरण– दश यथा– **दर्श दक्षिणा दर्श प्रतीची** (सं०पा० १६।६४)। विश्वकर्मा यथा- **अयं दक्षिणा विश्वकर्मा** (सं०पा० १३।५५)। निषद्य यथा– **आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य**(सं०पा० १९।६२)। इन्द्रस्थ यथा– **पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये** (सं०पा० ३७।१२)। पातु यथा– **मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु** (सं०पा० ५।११)। सदः यथा– **यमनेत्रा दक्षिणासदः** (सं०पा० ९।३६)। सद्भ्यः यथा– **यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः** (सं०पा० ९।३५)।

(२) वा०प्रा० २।४३ में विधान करते हुए यह बतलाया गया है कि भागम् एवं ईशिषे पद बाद में रहने पर पूर्ववर्ती रायः पद का आद्युदात्त नहीं होता है।[४] उदाहरण– **रायः। भागम्** (प०पा०)**=रायो भागम्** (सं०पा० ३४।२३)। **रायः। ईशिषे**(प०पा०) **= राय ईशिषे** (सं०पा० १७।७१।

अन्तोदात्त पद

पूर्वपदमूलक अन्तोदात्त

(१) वा०प्रा० २।५९ में विधान करते हुए यह कहा गया है कि पायु शब्द से उत्तरवर्ती विशः पद अन्तोदात्त होता है।[५] उदाहरण– **पायुर्विशो अस्या** (सं०पा० १३।११)।

---

१. पत्तीर्हसयोरन्त उदात्त आदिर्वा। -वा० प्रा० २।६४।

२. वा शब्दात् उभयस्वरोऽपि प्रामाणिक इत्यर्थः। -वा० प्रा० २।६४ पर अनन्त।

३. न दश विश्वकर्मा निषद्येन्द्रस्य पातु सदः सद्भयेषु। -वा० प्रा० २।३०।

४. न भागमीशिषयोः। -वा० प्रा० २।४३।

५. पायोर्विशः। -वा० प्रा० २।५९।

(२) वा०प्रा० २।६० के अनुसार अर्यमा, उर्वशी तथा अस्ति से परवर्ती आयुः पद अन्तोदात्त होता है।[1] उदाहरण— अर्यमा यथा— **वरुणो अर्यमायुः** (सं०पा० २५।२४)। उर्वशी यथा— **उर्वश्यस्यायुरसि** (सं०पा० ५।२)।[2] अस्ति यथा— **कृष्णमस्ति। आयोष्ट्वा** (सं०पा० १५।६२)।

(३) वा० प्रा० २।६१ में विधान करते हुए कहा गया है कि रोचना, असौ, बोधा मे, पारम्, पुर एतारः, दिवः, कः, अहम्, त्वम्, महीम्, य ईशे तथा ईशानम् से परवर्ती अस्य पद अन्तोदात्त हो जाता है।[3] उदाहरण— रोचना यथा— **अन्तश्चरति रोचनास्य** (सं०पा० ३।७)। असौ यथा— **असावस्य पिता** (सं०पा० १०।२०), बोधा मे यथा— **बोधा मे यस्य** (सं.पा.१२।५२) पारं यथा—**अगन्म तमस्मारमस्य** (सं.पा.१२।७३) पुर एतारो यथा— **पुरऽएतारो अस्य** (सं०पा०१७।१४)। दिवः यथा— **एकेनाङ्गेन दिवो अस्य** (सं०पा० २३।५०)। कः यथा— **को अस्य वेद** (सं०पा० २३।५९)। अहं यथा— **वेदाहमस्य भुवनस्य** (सं०पा०२३।६०)। त्वं यथा— **ब्रह्मणस्ते त्वमस्य** (सं०पा० ३४।५८)। महीयथा— **महो महीमस्य** (सं०पा० ३३।२९) य ईशे यथा— **य ईशे अस्य** (सं०पा० २३।३)। ईशानं यथा— **ईशानमस्य जगतः** (सं०पा० २७।३५)।

उत्तर पद मूलक अन्तोदात्त

(१) वा०प्रा० २।६२ के अनुसार प्रत्नाम्, यज्ञस्य, हविषः पाहि, इत्, पातम्, मध्वः यजमानस्य, होतः, अजरासः, लोकः ये पद बाद में रहने पर अस्य पद अन्तोदात्त हो जाता है।[4] उदाहरण— **अस्य। प्रत्नाम्** (प०पा०) = **अस्य प्रत्नामनु द्युतम्** (सं०पा०३।१६)। आ। अस्य। यज्ञस्य (प०पा०)= **आस्य यज्ञस्योदृचः** (सं०पा०४।१०)। **अस्य। हविषः** (प०पा०)=**अस्य हविषस्त्मनां** (सं०पा० ६।११)। **अस्य। पाहि** (प०पा०)=**सुमना अस्य पाहि** (सं०पा० २६।२३)। = **अस्य। इत्** (प०पा०) = **अस्येदिन्द्रो** (सं०पा० ३३।९७)। **अस्य। पातम्** (प०पा०) =**अस्य पातन्धियेषिता** (सं०पा० ७।३१)। **अस्य। मध्वः** (प०पा०)=**अस्य मध्वः** (सं०पा०९।१८)। **अस्य। यजमानस्य**

---

१. आयुर्यमोर्वश्यस्तिभ्यः। -वा० प्रा० २।६०।

२. पदसंहितोदाहरणम्। -वा० प्रा० २।६० पर उवट।

३. अस्य रोचनासौ बोधा मे पारम्पुर एतारो दिवः कोऽहन्त्वम्महीं य ईश ईशानेभ्यः।
— वा० प्रा० २।६१।

४. प्रत्नां यज्ञस्य हविषः पाहीत्पातं मध्वो यजमानस्य होतुरजरासो लोकेषु च।
— वा०प्रा० २।६२।

(प०पा०)=**अस्य यजमानस्य** (सं०पा० २२।२२)। **अस्य। होतुः** (प०पा०)=**अस्य होतुः** (सं०पा० २९।३६)। **अस्य। अजरासः** (प०पा०) = **अस्याजरासो** (सं०पा० ३३।१)। **अस्य। लोकः** (प०पा०) =**अस्य लोकः** (सं०पा० ३५।१)।

पूर्वोत्तर पदमूलक अन्तोदात्त

(१) वा०प्रा० २।५५ के विधानानुसार इन्द्र तथा सोम पद पूर्व में तथा पूषा, अग्नि, वायु उत्तर पद में होने पर देवता द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है।[1] उदाहरण– **इन्द्रापूष्णोः** (प०पा०) = **इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्यैति** (सं०पा०२५।२५)। **इन्द्राग्नयोः** (प०पा०) =**इन्द्राग्न्योरुज्जिति** (सं०पा०२।१५)। **इन्द्रवायुभ्यामितिन्द्रवायु-भ्याम्** (प० पा०) = **इन्द्रवायुभ्यान्त्वेषते योनिः** (सं०पा० ७।७) **सोमापौष्णः** (प०पा०) **सौमापौष्णः** (२४।१)।[2]

(२) वा०प्रा० २।५६ के अनुसार– अग्नि पूर्व पद एवं इन्द्र उत्तर पद का देवता-द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है।[3] उदाहरण– **अग्नीन्द्राभ्याम्** (प०पा०) = **अग्नीन्द्रा-भ्यान्त्वेषते योनिः** (सं०पा० ७।३२)।

मित्रावरुणा, इन्द्रावरुणा इत्यादि।

(३) वा०प्रा० २।५७ में विधान किया गया है कि ऋक् पूर्व पद एवं साम उत्तर पद का द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है।[4] उदाहरण– **ऋक्वसामाभ्यामित्यृक् सामाभ्याम्** (प०पा०) = **ऋक्सामाभ्यांᳬसन्तरन्तः** (सं०पा० ४।१)।

अर्थप्रतिबन्धित अन्तोदात्त

(१) वा०प्रा० २।५४ के अनुसार विचार अर्थ में प्रयुक्त दो आसीत् पदों में प्रथम आसीत् पद अन्तोदात्त होता है।[5] उदाहरण– **अधः। स्वित्। आसी३त्। उपरि** (प० पा०)== **अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्** (सं०पा० ३३।७४)।

---

१. द्वन्द्वं चेन्द्रासोमपूर्व पूषाग्निवायुषु। -वा० प्रा० २।५५।

२. सोमपूर्वस्य यथासम्भवमुदाहरणम्। -वा० प्रा० २।५५ पर उवट।

३. अग्निश्चेन्द्रे। -वा० प्रा० २।५६।

४. ऋक्साम्नि च। -वा० प्रा० २।५७।

५. पूर्वमन्तोदात्तम्। -वा० प्रा० २।५४।

(२) वा०प्रा० २।५८ के अनुसार गत्यर्थक यतः शब्द अन्तोदात्त होता है।[1] उदाहरण– **यतः। धिया** (प०पा०)=**स्वर्य तोधियादिवम्** (सं०पा० ११।३)[2]।

द्व्युदात्त पद

वा०प्रा० २।४६ में द्व्युदात्त पद का अधिकार विहित है।[3] सूत्रों में विहित द्व्युदात्त पद इस प्रकार हैं–(१) वा०प्रा० २।४७ के अनुसार बृहस्पति, वनस्पति, नराशंसः, तनूनप्त्रे, तनूनपात्, नक्तोषासा, उषासानक्ता, द्यावापृथिवी, द्यावाक्षामा, क्रतूदक्षाभ्याम्, एतवे, अन्वेतवे इन पदों में दो वर्ण उदात्त होते हैं।[4] उदाहरण– **बृहस्पतिः**(प०पा०) सं०पा० १७।४०), **वनस्पतिः** (प०पा०) (सं०पा०२०।४५)। **नराशंसैः** (सं०पा०) (सं०पा० २०।३७)। **तनूनप्त्र इति तनूनप्त्रे** (प०पा०) **तनूनप्त्रे** (सं०पा०५।५)। **तनूनपादितितनू-नपात्** (प०पा०) =**तनूनपात्** (सं०पा०२०।३७)। **नक्तोषासा** (सं०पा०१२।२)। **उषासानक्ता** (सं०पा०२०।४१) **द्यावापृथिवी** (सं०पा० १७।२०)। **द्यावाक्षामा** (सं०पा० १२।२)। **एतावाउ** (सं०पा० १७।९७)। **अन्वेतवाउ** (सं० पा० ८।२३)। भाष्यकार उवट के मतानुसार देवताद्वन्द्व पद न होने के कारण इन्हें पृथक परिगणित किया गया है। सूत्रकार तथा भाष्यकारों ने उक्त पदों में कौन से वर्ण उदात्त होते हैं यह नहीं स्पष्ट किया है। इसका ज्ञान व्याकरण शास्त्र से होता है। पाणिनि ने ६।२।१४० में द्व्युदात्त स्वर के पदों को वनस्पत्यादि गण में सङ्कलित किया है। वनस्पत्यादि गण में वा० प्रा० २।४७ विहित केवल बृहस्पतिः वनस्पतिः नराशंसः और तनूनपात् ये चार पद हैं। शेष पदों का विधान आवश्यक होने के कारण उक्त चारों पदों को भी सूत्रकार ने वा० प्रा० में परिगणित किया है। पाणिनि के द्व्युदात्त स्वर विधान में पूर्व एवं उत्तर पद का जो प्रकृति स्वर है वही रहता है।

(२) वा०प्रा० २।४८ के अनुसार आमन्त्रित (सम्बोधन) विभक्ति के अतिरिक्त देवता-द्वन्द्व समास के समस्त पद द्व्युदात्त होते हैं।[5] उदाहरण– **अग्नीषोमाभ्याम्** (सं०पा० १।१०)।

---

१. यतौ गतौ। -वा० प्रा० २।५८।

२. इण् गतौ, इत्येतस्येतद्रूपम्। -वा० प्रा० २।५८ पर उवट।

३. द्विरुदात्तानि। -वा० प्रा० २।४६।

४. बृहस्पतिर्वनस्पतिर्नराशंसस्तनूनप्त्रे तनूनपान्नक्तो षासोषासानक्ता द्यावापृथिवी द्यावाक्षामा क्रतूदक्षाभ्यामेतवा अन्वेतवा इति च। -वा० प्रा० २।४७।

५. देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि। -वा० प्रा० २।४८।

त्र्युदात्त पद

वा०प्रा० में तीन उदात्त वाले पदों का भी पृथक् सूत्र में विधान किया गया है जो निम्नलिखित है– (१) वा०प्रा० २।४९ में विधान करते हुए बतलाया गया है कि इन्द्राबृहस्पतिभ्याम् और इन्द्राबृहस्पती इन पदों में तीन वर्ण उदात्त होते हैं।[1] उदाहरण– **इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्** (सं०पा० ७।२३)। **इन्द्राबृहस्पती** (सं०पा० २५।६)।

उपर्युक्त उदाहरणों में द्व्युदात्त बृहस्पति पद से इन्द्र पद का समास हुआ है, अतएव समासान्तर्गत तीनों पद अपने प्रकृति स्वर में रहते हैं। परिणाम स्वरूप प्रत्येक पद का प्रथम वर्ण उदात्त है। इस प्रकार पूरे पद में तीन वर्ण उदात्त है।

इन्द्राबृहस्पती पद द्वेवताद्वन्द्व वाचक है। अतएव 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६।२।१४१) सूत्र से इनका प्रकृति स्वर होता है।

सर्वानुदात्त पद

वा०प्रा० में सर्वानुदात्त स्वर विषयक विधान द्वितीय तथा षष्ठ अध्याय में किया गया है। सर्वानुदात्त पद में पदगत सभी स्वर वर्ण पदपाठ में अनुदात्त चिह्नित रहते हैं किन्तु संहितापाठ में पूर्ववर्ती एवं परवर्ती पदों की स्वर सन्धि के प्रभाव से प्रातिशाख्य-शास्त्र के विधानानुसार रूपान्तर भी ग्रहण कर लेते है। वा० प्रा० में सर्वानुदात्त स्वर विधान निम्नलिखित है–

१. पूर्वपदमूलक अनुदात्त

(१) वा०प्रा० २।९ के विधानानुसार गृभ, भुव, एवं अग्नि शब्द से बाद में स्थित यथा पद सर्वानुदात्त होता है।[2] जैसे– **जीवगृभ इति जीव गृभः** (प०पा०) =**जीवगृभो** (सं०पा०१२।८५)। **यथा– अक्षिभुवऽइत्यक्षि भुवः** (प०पा०)=**सत्यस्याक्षिभुवो** (सं०पा०२३।२९)। **यथा– अग्नयः। यथा** (प०पा०) = **अग्नयो यथा** (सं०पा० ८।४०)।

(२) वा०प्रा० २।११ के अनुसार अग्ने पद पूर्व में होने पर उत्तरवर्ती घृतेन पद सर्वानुदात्त होता है।[3] उदाहरण– **अग्ने। घृतेन** (प०पा०) = **अग्ने घृतेन** (सं०पा० १७।५०)।

(३) वा०प्रा० २।१२ के अनुसार प्र पूर्व में होने पर उत्तरवर्ती चिकितः पद सर्वानुदात्त

---

१. इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि। -वा० प्रा०२।४९।

२. यथा गृभोभुवोऽग्निभ्यः। -वा० प्रा० २।९।

३. अग्ने घृतेनेति च। -वा० प्रा० २।११।

होता है।[1] उदाहरण— **प्र। चिकितः** (प०पा०) **प्रचिकितो** (सं०पा० १९।५२)।

(४) वा०प्रा० २।१४ के अनुसार इह पद पूर्व में होने पर उत्तरवर्ती श्रुतम् पद सर्वानुदात्त होता है।[2] उदाहरण— **इह।श्रुतम्** (प०पा०) **ममेदिहश्रुतम्** (सं०पा०७।९)।

(५) वा०प्रा० २।१५ के अनुसार कोई भी पद पूर्व में होने पर मन्ये पद सर्वत्र अनुदात्त होता है।[3] उदाहरण— **होतारम्। मन्ये** (प०पा०) = **होतारमन्ये** (सं०पा० १५।४७)।

(६) वा०प्रा० २।१७ के अनुसार किसी भी पद से परवर्ती आमन्त्रित सर्वानुदात्त होता है यदि वह (१) ऋगूप मन्त्रों में पाद के आदि में न हो तथा (२) बहुवचन का न हो।[4] उदाहरण— **त्वम्। अग्ने** (प०पा०) **त्वमग्ने** (सं०पा० ४।१६)।

(७) वा०प्रा० २।१८ के अनुसार पदपूर्व, अपादादि एवं अनानार्थक आमन्त्रित से अव्यवहित षष्ठी विभक्त्यन्त पद एकपदवत् भाव प्राप्त करता है। फलस्वरूप सर्वानुदात्त स्वर भी प्राप्त करता है।[5] उदाहरण— **देवीः।आपः।अपाम्।नपात्** (प०पा०) =**देवीरापो अपान्नपात्** (सं०पा० ६।२७)।

अपवाद

(१) जहाँ पर आमन्त्रित के साथ षष्ठी का एकार्थीभाव न होने के कारण एकपदवद्भाव नहीं होता है उन स्थलों को सूत्रकार ने सुगमता के लिए पृथक् २।१९ सूत्र में परिगणित कर दिया है जो इस प्रकार है— **पृथिवि देवयजन्योषध्याः** (सं०पा० १।२५), **देवभूरैः** (सं०पा०८।६)। **पवित्रपते पवित्रपूतस्य** (सं०पा०४।४) **अपान्नपात्** (सं०पा० ८।२४), **नृणान्नृपते** (सं०पा० ११।२७) **सोमाग्ने:** (सं०पा० ८।५०), **सोमेन्द्रस्य** (सं०पा० ८।५०), **सोमसुवीर्यस्य** (सं०पा० ७।१४), **सोमविश्वेषां देवानाम्** (सं०पा० ८।५०), **प्रजापते यस्य** (सं०पा०१८/४४), **यस्य देव** (सं०पा० ७।७) **अग्ने तव** (सं०पा० १२।१०६), **अग्ने वाजस्य** (सं०पा० १५।३५), **अग्ने वरुणस्य** (सं०पा०२१।३) **आपो अस्माकम्** (सं०पा०४।१२)।[6] (वा०प्रा०२।१८ का

---

१. प्रचिकितश्च। -वा० प्रा० २।१२।

२. इहपूर्व श्रुतम्। -वा० प्रा० २।१४।

३. मन्ये पदपूर्व सर्वत्र। -वा० प्रा० २।१५।

४. पदपूर्वमामन्त्रितमनानार्थेऽपादादौ। -वा० प्रा० २।१७।

५. तेनानन्तरा षष्ठ्येकपदवत्। -वा० प्रा० २।१८।

६. न पृथिविदेवयजन्योषध्याः देवभूरैः पवित्रपते पवित्रपूतस्यापान्नपान्नृणान्नृपते सोमाग्नेः सोमेन्द्रस्य सोमसुवीर्यस्य सोम विश्वेषां देवानां प्रजापतये यस्य यस्य देवाग्ने तवाग्ने वाजस्याग्ने वरुणस्यापौ अस्माकम्। -वा० प्रा० २।१९।

अपवाद)। इन उदाहृत स्थलों में आमन्त्रित का षष्ठी विभक्ति के साथ एकार्थीभाव नहीं होता अतएवं सर्वानुदात्त स्वर भी नहीं होता है। भाष्यकार उवट का मत है कि इसी प्रकार के सूत्र से पृथक् अन्य उदाहरण भी संहिता ग्रन्थ से जानने चाहिए। इस प्रसंग में उवटाचार्य ने सूत्र से पृथक् एक अन्य उदाहरण यस्यौषधीः (सं०पा० १२।८६) भी प्रस्तुत किया है।[1]

(२) वा०प्रा० २।२० के विधानानुसार अधोलिखित आमन्त्रित सर्वानुदात नहीं होते हैं—**सुमङ्गल सत्यराजन्** (सं०पा० २०।४), **विकिरद्र विलोहित** (सं०पा० १६।५२), **दरिद्र नीललोहित** (सं०पा० १६।४७), **श्रेयस्कर भूयस्कर** (सं०पा० १०।२८), **अम्बे अम्बिके** (सं०पा० २३।१८), **शरव्ये ब्रह्मसंशिते** (सं०पा० १७।४५), **मरुतो अश्विना** (सं०पा० ३२।४७), **यव्ये गव्ये** (सं०पा० १३।८), **द्यावापृथिवी उरो** (सं.पा. ४।७), **अग्ना३इपत्नीवन्** (सं.पा. ८।१०), **लाजी३न्शाची३न्** (सं.पा. २३।८), **मीढुष्टम वसुदावन्** (सं०पा० १६।५१), **सहस्राक्ष शतेषुधे** (सं०पा० १६।१३) तथा **वसुपते वसुदावन्** (सं०पा० १२।४३)[2] (वा०प्रा० २।१७ का अपवाद)।

अर्थप्रतिबन्धित अनुदात्त

(१) वा०प्रा० २।३ के अनुसार असमदर्थक तथा बहुवचन, द्विवचन एवं एक वचन के प्रतिपादक क्रमशः नः, नौ और मे पद सर्वानुदात्त होते हैं।[3] उदाहरण— **स्वस्ति। नः** (प०पा०)=**स्वस्ति नः** (सं०पा० २५।१९)। **अस्थूरि। नौ** (प०पा०) **अस्थूरिणो** (सं० पा० २।२७)। **इमाः। मे** (प०पा०) = **इमा मे** (सं०पा० १७।२)।

(२) वा०प्रा० २।४ के अनुसार अस्मदर्थक होने पर मा पद सर्वानुदात्त होता है।[4] **अमागन्ताम्** (सं०पा० ९।१९)।

(३) वा०प्रा० २।५ के अनुसार युष्मदर्थक तथा बहुवचन, द्विवचन तथा एक वचन के प्रतिपादक क्रमशः वः, वाम् और ते पद सर्वानुदात्त होते हैं।[5] उदाहरण— **आवो देवास** (सं०पा० ४।५), **अयं वां** (सं०पा० ७।९) **एष ते** (सं०पा० ३।५७)।

---

१. एवमादीन्यन्यान्यपि प्रत्युदाहरणानि द्रष्टव्यानि, यथा यस्यौषधीः। -वा० प्रा० २।१९ पर उवट।

२. सुमङ्गल सत्राजन्विकिरिद्र विलोहित दरिद्रनीललोहित श्रेयस्कर भूयस्कराम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके शख्ये ब्रह्मसंशिते मरुतो अश्विना यव्ये गव्ये द्यावापृथिवी उरोऽग्नाऽइ पत्नीवाँल्लाजी ३ञ्छाची-३न्मीदुष्टम शिवतम सहस्राक्षा शतेषुधे वसुपते वसुदावन्। -वा० प्रा० २।२०।

३. नौ नौ मे भदर्थे त्रिद्विव्येकेषु। -वा० प्रा० २।३।

४. मा च। -वा० प्रा० २।४।

५. वो वान्ते त्वदर्थे। -वा० प्रा० २।५।

(४) वा०प्रा० २।६ के अनुसार युष्मदर्थ का वाचक होने पर त्वा पद सर्वानुदात्त होता है।[१] उदाहरण– **मा त्वाग्निः** (सं०पा० २५।३७)।

(५) वा०प्रा० २।७ के अनुसार पूर्व पदों के द्वारा प्रज्ञापित अर्थ के अति अनुवादक सर्वनाम पद (=अनुदेश) सर्वानुदात्त होते हैं।[२] उदाहरण–**घ्रासमस्मै** (सं०पा० ११।७५) उपर्युक्त उदाहरण में अस्मै पद मन्त्र में उक्त अश्व पद का प्रति अनुवादक सर्वनाम पद है, अतः सर्वानुदात्त होता है।

(६) वा०प्रा० २।१३ के अनुसार पाप का वाचक न होने पर एनः (सर्वनाम) पद सभी लिङ्गो एवं वचनों में सर्वानुदात्त होता है।[३] उदाहरण– पुल्लिंग– **उदेन मु०** (सं०पा० १७।५०)। स्त्रीलिङ्ग–**मैनान्तपसा** (सं०पा० १२।१५)। नपुंसक लिङ्ग– **अप्स्वेनत्** (सं०पा० १२।३५)।

(७) वा०प्रा० २।५३ के विधानानुसार विचारणा अर्थ में दो बार प्रयुक्त आसीत् पदों में द्वितीय आसीत् पद सर्वानुदात्त होता है।[४] उदाहरण– **उपरिस्विदासी३त्** (सं०पा० ३३।७४)।

विशेषपदीय अनुदात्त

(१) वा०प्रा० २।१० के विधानानुसार गिर्वणः पद सर्वानुदात्त होता है।[५] उदाहरण– **परित्वा गिर्वणोरिः** (सं०पा० ५।२९)।

(२) वा०प्रा० २।५२ के अनुसार त्रित्रासिक अन्तिम स्वर युक्त विवेशा३ पद सर्वानुदात्त होता है।[६] उदाहरण– **भुवन मा विवेशा३** (सं०पा० २३।४९)।

विधान परिशेष मूलक अनुदात्त

वा०प्रा० २।६१-६२ सूत्र में कुछ विशिष्ट पदों में अस्य पद के अन्तोदात्त स्वर का विधान है। उक्त स्थलों से अतिरिक्त अन्य स्थलों में अस्थ पद का सर्वानुदात्त स्वर का विधान करते हुए बतलाया गया है कि अस्य पद पूर्व में कथित विशिष्ट स्वर विधानों से अतिरिक्त स्थलों में सामान्यतः सर्वानुदात्त होता है।[७] उदाहरण– **षट्। अस्य** (प०

---

१. त्वा च। -वा० प्रा० २।६।

२. पूर्ववाननुदेशः। -वा० प्रा० २।७।

३. एनोऽपापे। -वा० प्रा० २।१३।

४. आसीदिति चोत्तरं विचारे। -वा० प्रा० २।५३।

५. गिर्वणः। -वा० प्रा० २।१०।

६. विवेशा३इति चानुदात्तम्। -वा० प्रा० २।५२।

७. अनुदात्तमन्यत्। -वा० प्रा० २।६३।

पा०) **षडस्य** (सं०पा० २३।५८)।

भाष्यकार उवट के मतानुसार प्रस्तुत विधान पूर्ववाननुदेशः (वा०प्रा० २।७) से सम्बन्धित है।[१]

आख्यात पदानुदात्त

आख्यात पद का स्वर विधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि आमन्त्रित पद के समान आख्यात पद भी सर्वानुदात्त होते हैं।[२] भाष्यकार उवट ने सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि आमन्त्रित पदों की सर्वानुदात्तता के लिए (१) पद पूर्वकता (२) पादादि में वर्तमानता (३) अनानार्थकता ये तीनों प्रतिबन्ध वा०प्रा० २।१७ में निर्दिष्ट किये गये हैं वे ही प्रतिबन्ध आख्यात पदों की सर्वानुदात्तता के लिए भी लागू समझने चाहिए।[३]

भाष्यकार उवट एवं अनन्त ने अनानार्थक (बहुवचन भिन्न) विशेषण को आख्यात स्वर में सम्बद्ध करते हुए भी उसके औचित्य का कोई सबल प्रमाण नहीं दिया है। अनानार्थक प्रत्युदाहरण में भाष्यकार उवट एवं अनन्त ने जो उदाहरण स्थल-**पाहि यज्ञम्** (सं०पा०२।६) दिया है, वह एक वचन का ही है। अनन्त ने पाहि यज्ञम् प्रत्युदाहरण का कारण बताते हुए लिखा है कि उदाहृत स्थल पाहि में पा धातु नानार्थक है।[४] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बहुवचन के पदपूर्व क्रिया पदों में सर्वानुदात्त स्वर प्राप्त है। उदाहरणार्थ— **क्रतवः। यन्तु** (प०पा०)**= क्रतवो यन्तु** (सं०पा० २५।१४) ऋ०सं०१।३।८ में गन्त बहुवचन क्रियापद में सायणाचार्य ने पा०८।१।२८से सर्वानुदात्त सिद्ध किया है। वा०प्रा० में बहुवचनान्त क्रियापद के लिए कोई विशेष विधान नहीं मिलता है। अतएवं आख्यात के साथ अनानार्थकता का प्रतिबन्ध लगाना उक्ति नहीं। अब सूत्रानुसारी विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

(१) वा०प्रा० ६।१ के अनुसार आख्यात् पद सर्वानुदात्त होता है, यदि वह (आमन्त्रित की तरह) किसी पद से परवर्ती अपादादि एवं अनानार्थक हो।[५] उदाहरण— **स्तेन ईशत** (सं०पा० १।१)। **पशून्पाहि** (सं०पा० १।१)।

(२) वा०प्रा०२।८ के विधानानुसार असि पद सामान्यतः सर्वानुदात्त होता है।[६]

१. पूर्ववाननुदेश इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः। -वा० प्रा० २।६३ पर उवट।

२. अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रिवत्। -वा० प्रा० ६।१।

३. यैरेव कारणेरनुदात्तमामन्त्रितं भवति तैरेव कारणेराख्यातमपीत्यर्थः। पदपूर्वमामन्त्रितमनानार्थे पादादौ इत्यामन्त्रितस्यानुदात्तत्वमुक्तं इहापि तथैव भवति। -वा० प्रा० ६।१ पर उवट।

४. इदमाख्यातं नानार्थकं अत्रपातेर्नानार्थकत्वात्। -वा० प्रा० ६।१ पर अनन्त।

५. अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवत्। -वा० प्रा० ६।१।

६. असि। -वा० प्रा० २।८।

उदाहरण– **वेर्दिरसि** (सं०पा० २।१)।

यहाँ पर अग्रिम् पद में ग्रि के इकार का प्रत्यय स्वर से उदात्त स्वर है तथा ई तिड्न्त क्रिया पद में भी के एकार का प्रत्यय स्वर से उदात्त स्वर प्राप्त है किन्तु इनका वाक्य में प्रयोग होने पर तिङ्-तिङ् पा०८।१।२८ से अतिड़न्त अग्रिम् पद के बाद वर्तमान रहने के कारण ति न्त ईळे पद का निघात (सर्वानुदात्त) स्वर होता है। यहाँ प्रकृत स्थल में स्वरित के बाद में होने के कारण प्रचय है।

अपवाद

वा०प्रा० ६।१ में पदपूर्व आख्यात पद को सर्वानुदात्त स्वर का विधान है। इसके अपवाद स्वरूप वा०प्रा० में (६।११-२३) १३ सूत्र विहित हैं इनमें अन्तिम चार सूत्र विधानों के वैदिक उदाहरण उपलब्ध नहीं है, अतएव भाष्यकारों ने लौकिक उदाहरणों को ही प्रस्तुत किया है। अपवाद के इन सूत्रों में आख्यात पद को सर्वानुदात्त स्वर के स्थान पर प्रकृति स्वर का विधान किया गया है। किन्तु सूत्रकार ने आख्यात के प्रकृति स्वर के विषय में कोई स्पष्ट विधान या निर्देश नहीं किया है।

भाष्यकार उवट के अनुसार प्रातिशाख्यशास्त्र व्याकरण एवं शिक्षा ग्रन्थों का परिपूरक शास्त्र है।[1] प्रतिशाख्यों में जो नियम अपेक्षित हैं वे व्याकरणादि, शास्त्र से अध्याहार किये जा सकते हैं। अतः व्याकरण द्वारा आख्यात पद की संरचना को दृष्टि में रखकर जो स्वर नियमतः प्राप्त होगा वही उस आख्यात का प्रकृति स्वर माना जायेगा।

अब यहाँ पर अपवाद स्वरूप परिगणित आख्यात पद का प्रकृति स्वर प्रस्तुत किया जा रहा है–

(१) वा० प्रा० ६।११ के अनुसार क्रिया पद से परवर्ती आख्यात (क्रिया पद) पद प्रकृति स्वर से रहता है।[2] उदाहरण– **मधु पिबन्तु मदन्तु व्यन्तु** (सं०पा० २१।४२) यहाँ पर तीनों आख्यात पद आद्युदात्त हैं।

(२) वा०प्रा० ६।१२ के अनुसार उदात्त सम्बोधन पद से बाद का आख्यात पद प्रकृति स्वर से रहता है।[3] उदाहरण– **अग्ने पवस्व** (सं०पा० ८।३८)। **होतुर्यज** (सं०पा० २१।२९) यहाँ पर अग्ने होतः आद्युदात्त सम्बोधन पद है. उससे परवर्ती आख्यात

---

१. वृद्धमिदं शास्त्रमन्यानि शास्त्राण्यपेक्ष्य। शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चास्मिन् शास्त्रे उभयं यतः प्रक्रियते। -वा० प्रा० १।१६९ पर उवट।

२. प्रकृत्यामाख्यातमाख्यातपूर्वम्। -वा० प्रा० ६।११।

३. उदात्ताच्चामन्त्रितादनन्तरम्। -वा० प्रा० ६।१२।

आदि उदात्त रहता है।

(३) वा०प्रा० ६।१३ के अनुसार उदात्त सम्बोधन पद से किसी एक पद का व्यवधान होने पर भी परवर्ती आख्यात पद की प्रकृति स्वर होता है।[1] उदाहरण– **ब्रह्मन्। भन्त्स्यामि** (प०पा०) **ब्रह्मन्नश्वम्भन्त्स्यामि** (सं०पा० २२।४)।

प्रस्तुत सूत्र में अपि शब्द विकल्पार्थक है, इसे दोनों भाष्यकारों ने अपने भाष्य में दिया है। फलस्वरूप आमन्त्रित पद से एकपदान्तरित आख्यात प्रकृति स्वर में न रहकर कहीं सर्वानुदात्त हो जाता है।[2] उदाहरण– **इड एह्यदित एहि** (सं०पा० ३।२७)।

(४) वा०प्रा० ६।१४ के विधानानुसार यत् शब्द के समस्त प्रत्ययान्त एवं विभक्तयान्त (यद्वृतोपपद) रूपों से सम्बद्ध परवर्ती आख्यात पद प्रकृति स्वर में रहता है।[3] **यमाहुर्मनवस्तीर्ण** (सं०पा०१५।४९)। **येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्** (सं०पा०१५।४९)। **यतो जातो अरोचथाः** (सं०पा०३।१४)। **यथायं वायुरेजति** (सं०पा०८।२८)। **यत्र ऋषयो जग्मुः** (सं०पा० १८।५८)। **यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि वकृम** (सं०पा० २०।१५)।

उपर्युक्त उदाहरणों सें सर्वत्र क्रियापद आद्युदात्त अवथा अन्तोदात्त है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आख्यात पद का यद्वृत पद से अर्थ सहकृत सम्बन्ध होना आवश्यक है। केवल मात्र पाठसन्निधि से आख्यात को प्रकृति स्वर नहीं होता है।[4]

(५) वा०प्रा० ६।१५ के अनुसार हि पद से परवर्ती आख्यात प्रकृति स्वर प्राप्त करता है।[5] उदाहरण– **आपो हिष्ठा मयोभुवः** (सं०पा० ११।५०) प्रस्तुत उदाहरण में स्थ क्रिया पद उदात्त है।

(६) वा०प्रा० ६।१६ के अनुसार हि पद यदि क्रियापद से उत्तर (परवर्ती) हो तब भी

---

१. एकान्तरादपि। -वा० प्रा० ६।१३।

२. अपिशब्देन विकल्पो ज्ञेयः। क्वचिद् भवति क्वचिन्न भवति। -वा० प्रा० ६।१३ पर उवट।

३. यद्वृत्तोपपदाव्व। -वा० प्रा० ६।१४।

४. अत्र सर्वत्र यस्य यद्वृत्तस्याख्यातपदेन सह सम्बन्धो भवति तदेवाख्यातपदं विक्रियते न तु सन्निधि मात्रेण। यथा- यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि (सं० पा० २०।१७) तथा चोक्तम्

अस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य तत्।

अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्।। -वा० प्रा० ६।१४ पर उवट।

५. हेश्च। -वा० प्रा० ६।१५।

क्रियापद प्रकृति स्वर प्राप्त करता है।[1] उदाहरण– **इन्दवो वामुशन्ति हि** (सं० पा० ७।८) यहाँ पर उशन्ति क्रियापद मध्योदात्त है।

(७) वा०प्रा० ६।१७ के अनुसार नेत् निपात से उत्तरवर्ती आख्यात (क्रिया पद) पद प्रकृति स्वर में रहता है।[2] उदाहरण– **नेत्वदपचेतयाता** (सं०पा० २।१७) प्रस्तुत स्थल में अपचेतयाता लोट् लकार का आख्यात पद है।

(८) वा०प्रा० ६।१८ के अनुसार समनसः पद से उत्तरवर्ती करत् आख्यात् पद (क्रिया पद) प्रकृति स्वर में रहता है।[3] उदाहरण– **समनसस्करत** (सं०पा० ७।२५)।

(९) वा०प्रा० ६।१९ के विधानानुसार समुच्चय (एक ही अर्थ में) प्रयुक्त दो आख्यात पदों में पहला आख्यात पद प्रकृति स्वर में रहता है।[4] उदाहरण– **शर्म च स्थो वर्म च स्थः** (सं०पा० ११।३०)। **शंचवक्ष्वपरि च वक्ष्व** (सं०पा० ८।२६)।

(१०) वा०प्रा० ६।२० के विधानानुसार वा शब्द से सम्बद्ध विचारार्थक दो क्रिया पदों में से पूर्ववर्ती क्रियापद प्रकृति स्वर में रहता है।[5] रूपोदाहरणः देवदत्तो भुङ्क्ताम् वा यज्ञदत्तो वा भुङ्क्ताम्।[6]

(११) वा०प्रा० ६।२१ के विधानानुसार अह शब्द से सम्बद्ध, विनियोग अर्थ में प्रयुक्त दो क्रियापदों में पूर्ववर्ती क्रिया पद प्रकृति स्वर में रहता है।[7] रूपोदाहरण- देवदत्तोऽह ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्तोऽह गाः पालयतु।

यहाँ पर भाष्यकार उवट ने विनियोग का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि दो व्यक्तियों का अलग-अलग कार्य में विनियुक्त कर देना ही विनियोग का अर्थ है।[8]

(१२) वा० प्रा० ६।२२ के विधानानुसार अवधारण (यथेच्छा प्रवृति में किसी एक कार्य

---

१. उत्तरेऽपि। -वा० प्रा० ६५।१६।

२. नेत्। -वा० प्रा० ६।१७।

३. समनसस्करत्। -वा० प्रा० ६।१८।

४. द्वयोः पूर्व समुच्चये। -वा० प्रा० ६।१९।

५. वा विचारणे। -वा० प्रा० ६।२०।

६. संहितायां प्रायश उदाहरणानि न लभ्यन्ते। रूपोदाहरणानि दीयन्ते। -वा० प्रा० ६।२० पर उवट।

७. अह विनियोगे। -वा० प्रा० ६।२१।

८. विनियोगो नाम द्वयोः पुरुषयोरेकस्मिन् कर्मणि एकस्य पुरुषस्य सम्बन्धः अन्यस्मिन् कर्मण्यपरस्य सम्बन्धः। रूपोदाहरणं दीयते। -वा० प्रा० ६।२१ पर उवट।

में एककर्त्ता को निर्धारित करना) अर्थ में प्रयुक्त एवं पद से सम्बद्ध दो क्रिया पदों में से पहला क्रिया पद प्रकृति स्वर को प्राप्त करता है।[1] रूपोदाहरण– देवदत्त एवं ग्रामं गच्छतु, यज्ञदत्त एवं भुङ्क्ताम्।

(१३) वा० प्रा० ६।२३ के अनुसार च, वा, ह, अह, एव ये उपवद वाक्य में प्रयुक्त न किये गये हों तब भी उनका कथञ्चित अर्थ अबबोधित होता हो तो पूर्ववर्ती क्रियापद प्रकृति स्वर में रहता है।[२]

भाष्यकार अनन्त भट्ट के अनुसार अध्येता को इस सम्बन्ध के उदाहरण वैदिक ग्रन्थों से भी समझना चाहिए।[३]

भाष्यकार उवट के अनुसार उपपद में च, वा, ह, अह, एव ये पाँच ही पद हैं किन्तु भाष्यकार अनन्त की दृष्टि से और भी उपपद हैं जिनका कथन पूर्व में हुआ है उनका भी इस विधान में समावेश हुआ है।

भाष्यकार अनन्त ने कहीं भी अन्यत्र अन्य उपपदों का कथन नहीं किया है। अतएव पंक्ति विचारणीय है। भाष्योक्त पाँच उपपदों में च का सूत्र में निर्देश नहीं है परन्तु ६।१९ में समुच्चय अर्थ का उल्लेख है। समुच्चय अर्थ में सामान्य रूप से च निपात का ही प्रयोग होता है।

भाष्योक्त ह उप पद का वा० प्रा० के सूत्रों में विधान नहीं है। निरुक्त १।५ में अह के साथ ह का विनिग्रहार्थीय में अवश्य उल्लेख है। उवटाचार्य ने वा० प्रा० ६।१९-२२ तक के संकेतिक निपातों को वा० प्रा० ६।२३ के विधान में उपपद माना है।

उपसर्ग पदानुदात्त

कतिपय विशेष परिस्थितियों में उपसर्ग अनुदात्त होते हैं। किन्तु भाष्यकारों के मत से यह ज्ञात होता है कि वा० प्रा० में उपसर्ग के अनुदात्त स्वर का विधान अपवादात्मक रूप से किया गया है।[४] अतएव सर्वप्रथम उपसर्गों का प्रकृति स्वर जानना चाहिए।

---

१. एवावधारणे। -वा० प्रा० ६।२२ अवधारणं नाम द्वयोः कर्मणोर्द्वयोश्च कर्त्रोरेकस्मिन् कर्मण्येकाकर्तावध्रियते परस्मिन्नन्यः। -वा० प्रा० ६।२२ पर उवट।

२. उपपदाप्रयोगेऽपि चा वा प्रा० ६।२३।

३. चशब्दोऽत्र लुप्तोऽपि अर्थदशायां समुच्चयत्वेनाऽवगम्यते। -वा० प्रा० ६।२३ पर अनन्त।

४. अस्य चोत्सर्गस्य उपसर्ग उपसर्गे (६।२) इत्यादिकः पुरस्तादपावादो द्रष्टव्यः। प्रकृतिस्वरस्तु व्याकरणपठितोऽत्र गृह्यते। तथा च तत्सूत्रम् निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०)। 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' (फि० ८१) वा० प्रा० ६।२४ पर उवट।

उपसर्ग का प्रकृति स्वर

वा०प्रा० ६।२४ में बीस उपसर्गों का प्रकृति स्वर बतलाने के प्रसंग में परिगणन किया गया है।[१] परन्तु उपसर्गों के प्रकृति स्वर के विषय में वा०प्रा० ६।२४ सूत्र में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। भाष्यकारों ने इस प्रसंग में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि व्याकरण ग्रन्थों में कथित आद्युदात्त स्वर ही उपसर्गों का प्रकृति स्वर है। एक अन्य कारिका उद्धृत करते हुए भाष्यकारों ने कहा है कि- परा, उप, अप, अव, प्रति, परि, अनु, अपि, अति, अधि, आङ्, प्र, सम्, निर्, दुर, उद्, नि, वि, सु और अभि इन बीस उपसर्गों में एकाक्षर नौ उपसर्ग आङ्, प्र, सम्, निर्, दुर्, उद्, नि, वि, सु सर्वोदात्त होते हैं। शेष ग्यारह उपसर्गों में से अभि उपसर्ग को छोड़कर शेष सभी आद्युदात्त होते हैं परन्तु अभि उपसर्ग अन्तोदात्त होता है।[२] अब उपसर्गों के सर्वानुदात्त स्वर का विधान प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. वा०प्रा० ६।२ के विधानानुसार उपसर्ग परे रहते पूर्ववर्ती उपसर्ग सर्वानुदात्त होता है।[३] उदाहरण— **सम्प्रच्यवदध्यम्** (सं० पा० १५।५३)।

यहाँ पर प्र उपसर्ग बाद में रहने पर पूर्ववर्ती सम् उपसर्ग सर्वानुदात्त है। इस विधान को भाष्यकारों ने उपसर्गों के समास में ही विहित किया है। पा०अ० के अनुसार उदात्त युक्त क्रिया पद के साथ जब किसी उपसर्ग पद का समास होता है तो उपसर्गपद सर्वानुदात्त होता है।[४] उदाहरण— **यो गृहाँ अभिशासति** (ऋ०वे० ६।५४।२)।

२. वा०प्रा० ६।३ के अनुसार उपसर्ग की द्विरुक्ति होने पर द्वितीय उपसर्ग सर्वानुदात्त होता है।[५] उदाहरण— **उपोपेत्युप** (सं०पा० २।३४)। यहाँ पर उप उपसर्ग द्विरुक्त है। अतएव वा०प्रा० ६।३ के विधानानुसार द्वितीय उप उपसर्ग सर्वानुदात्त है।

३. वा०प्रा० ६।४ के विधानानुसार उदात्त कृदन्त प्रत्यय बाद में होने पर अथवा उदात्त क्रिया पद बाद में रहने पर पूर्ववर्ती उपसर्ग सर्वानुदात्त होता है।[६] उदाहरण—

---

१. परोपापाव प्रति पर्यन्वप्यत्यध्याङ् प्रसन्निर्दुसन्नि वि स्वभि। -वा० प्रा० ६।२४।

२. विंशतेरुपसर्गाणामुच्चा एकाक्षरा नव।
आद्युदात्ता दशैतेषामन्तोदात्तस्त्वभीत्ययम्।। -वा० प्रा० ६।२४ पर उवट।

३. उपसर्ग उपसर्गे। -वा० प्रा० ६।२ एतच्च समासपद एव द्रष्टव्यम्। -वा० प्रा० ६।२ पर उवट।

४. गतिर्गतौ। तिङिचोदात्तवति। -पा० ८।१।७०-७१।

५. आम्रेडिते चोत्तरः। -वा० प्रा० ६।३।

६. कृदाख्यातयोश्चोदात्तयोः। -वा० प्रा० ६।४।

स्व॑राभर॑न्त (सं०पा० १५।४९), **सम्भर॑न्ति** (सं०पा० २५।२९)।

यहाँ पर क्रमशः प्रथम उदाहरण में उदात्त कृत्प्रत्यय बाद में है तथा द्वितीय उदाहरण में उदात्त आख्यात पद बाद में है अतः पूर्ववर्ती उपसर्ग सर्वानुदात्त है।

अपवाद

(१) वा०प्रा० ६।५ के अनुसार अभि उपसर्ग तथा एकाक्षर उपसर्ग सर्वानुदात्त नहीं होता यदि वह कृदन्त भिन्न पद के पदादि स्वरवर्ण के साथ सन्धि प्राप्त हो।[1] उदाहरण— **अभि। असिञ्चन्** (प०पा०) = **अ॒भ्यषि॑ञ्चन्** (सं०पा० १०।१)। **अभि। आ** (प०पा०) = **अ॒भ्यावर्तस्व** (सं०पा० १२।१०३)। यहाँ प्रथम उदाहरण में क्रियापद तथा द्वितीय उदाहरण में उपसर्ग कृदन्त भिन्न पद के तथा पूर्व का उपसर्ग इनसे सन्धि प्राप्त है अतः सर्वानुदात्त नहीं होता।

(२) वा०प्रा० ६।६ के अनुसार पूत एवं जात शब्द बाद में होने पर पूर्व में स्थित आ उपसर्ग सर्वानुदात्त नहीं होता है।[2] उदाहरण— **आ। पूतः** (प०पा०) **शू॒चि॒रापूत** (सं०पा० ४।२)। **आ। जातः** (प०पा०) = **आ जा॒तो** (सं०पा० १२।१३)।

(३) वा०प्रा० ६।७ के विधानानुसार अधि, नि, प्र और प्रति उपसर्ग क्रमशः श्रित, आत्रिणम्, भानवः और पचत पद बाद में होने पर सर्वानुदात्त होते हैं।[3] उदाहरण— अधि। श्रिताः (प०पा०) **अधि॑ श्रि॒ताः** (सं०पा० २०।३२)। **नि। अत्रिणम्** (प०पा०) **न्यु॒त्रिर्णम्** (सं०पा० १७।१६)। **प्र। भानवः** (प०पा०) = **प्र॒भा॒नवः** (सं०पा० १५।२४)। **प्रति। पचता** (प०पा०) = **प्रतिप॑च॒ता** (सं०पा० २१।६०)।

(४) वा०प्रा० ६।८ के अनुसार उज्जेषम्, आवर्ते, आपनीफणत्, सनिष्यदत्, संवतम्, प्रयाणम्, सञ्चरन्तम्, संरभध्वम्, प्रसितिम्, विक्रमस्व ये पद बाद में होने पर अनु उपसर्ग अनुदात्त नहीं होता।[4] उदाहरण— **रुज्जि॑ति॒मनूज्जैषम्** (सं०पा० २।१५)। **सूर्य॑स्या॒-वृ॒त॒मन्व॑र्ते** (सं०पा० २।२७)। **प॒था॒ङ्कऽस्यन्वा॒पनीफण॒त्** (सं०पा०९।१४)। **अनु॒संस॒निष्यदत्** (सं०पा०९।१४)। **वरि॑ष्ठामनु॒ सं॒व्व॑तम्** (सं०पा०११।१२)। **वरे॒ण्योऽनु॒प्र॒याण॑म्** (सं०पा०१२।३)। **योनि॒मनु॑स॒ञ्चर॑न्तम्** (सं०पा०१३।५)।

---

१. नाम्येकाक्षरश्च स्वरसन्धेयेऽकृति। -वा० प्रा० ६।५।

२. आ पूतजातयोः। -वा० प्रा० ६।६।

३. अधिनि प्र प्रति श्रितात्रिणंमानवः पचतेषु। -वा० प्रा० ६।७।

४. उज्जेषमावर्त आपनीफणत्सनिष्यदत्संवतं प्रयाणं सञ्चरन्तं संभरध्वं प्रसितिं विक्रमस्वेत्येतेष्वनु। -वा० प्रा० ६।८।

सखायोनु संरंभध्वन् (सं०पा० १७।३८)। **तृष्वीमनु प्रसितिन्द्रूणानः** (सं०पा० १३।९)। **पृथिवीमनु विक्रमस्व** (सं०पा० १२।५)। (वा०प्रा० ६।२ का अपवाद) है।

(५) वा०प्रा० ६।९ के अनुसार उदात्त प्र उपसर्ग बाद में होने पर आ उपसर्ग अनुदात्त नहीं होते।[1] उदाहरण– **आप्रयांतु परावतः** (सं०पा० १८।७२)। आप्रयंच्छ (सं०पा० ५।१९)। (६।२ का अपवाद) है।

(६) वा०प्रा० ६।१० के विधानानुसार अभिप्रेहि, उपसम्प्रयात, प्रत्यानतुष्व और आसुषाव पदों यथागृहीत (प्रथम) उपसर्ग अनुदात्त नहीं होते हैं।[2] उदाहरण– **अभिप्रेहि** (सं०पा०१७।४४)। **उपसम्प्रयात** (सं०पा०१५।५३)। **प्रत्यातनुष्व** (सं०पा० १३।१२)। **आ सुषाव** (सं०पा० १९।२)।

निपात पदानुदात्त

वा०प्रा० २।१६ के विधानानुसार वा, च, कम्, उ, चित्, समस्मात्, घ, ह, स्म, त्व, ईम, मर्याः, अरे, स्वित् ये चौदह पद निपात होने पर सर्वानुदात्त होते हैं।[3] उदाहरण– **वातों वा मनों वा** (सं०पा० ९।७)। **अग्निश्च पृथिवी च** (सं०पा० २६।१)। **ईमा नु कं भुवना** (सं०पा०२५।४६)। **य उ सम्भूत्याम्** (सं०पा०४०।८)। **हृदयाविधाश्चित्** (सं०पा० ८।२३)। **अघायतः समस्मात्** (सं०पा०३।२६)। **अ घाये** (सं०पा०७।३२)। **दधे ह गर्भम्** (सं०पा०२३।६३)। **हिष्माते** (सं०पा० ३।४६)। **पीयति त्वो अनुत्वो** (सं०पा० १२।४२)। **का ईमरे** (सं०पा०५५)। **आविर्भर्या** (सं०पा० १०।९)। **अजारे पिशङ्गिला** (सं०पा०२३।५६)। **अधः स्विदासीत्** (सं०पा० ३३।७४)।

---

१. ओप प्रोदात्ते। -वा० प्रा० ६।९।

२. अभिप्रेह्युपसम्प्रयात प्रत्यातनुष्वासुषाव। -वा० प्रा० ६।१०।

३. वाचकमुचित्समस्मात् घहस्मत्व ईम्मर्था अरेस्विन्निपाताश्चेत्। -वा० प्रा० २।१६।

षष्ठ अध्याय

पदपाठ-प्रकरण

संहिता के मन्त्रों के पदों को अलग-अलग कर देना ही पद-पाठ कहलाता है। प्रतिशाख्यकारों ने पदों के द्वारा संधि-नियमों के आधार पर संहिता के मन्त्रों के निर्माण की विधि को बतलाया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पहले पद-पाठ हुआ फिर संहिता-पाठ। संहिता-पाठ ही पद-पाठ का मूल है, किन्तु पदों के द्वारा संहिता-पाठ के निर्माण की विधि प्रातिशाख्यकारों के विधान की विशिष्ट विधा है। इसी कारण से इन ग्रन्थकारों ने संधि नियमों के साथ-साथ पद-पाठ के विषय में भी विधान किया है। किसी मन्त्र के अभीष्ट अर्थ का ज्ञान मन्त्रगत पदों के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। अतएव मन्त्रार्थज्ञान के लिए उनमें प्रयुक्त पदों का ज्ञान अपरिहार्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रातिशाख्यकारों ने पद-पाठ विषयक विधान किए हैं।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-संहिता के पदपाठ पर आधारित है। यह पदों को सिद्ध मानता है और सिद्ध पदों से संहितापाठ के निर्माण के लिए नियमों का विधान करता है। वा.प्रा. में पदों की सिद्धि नहीं की गई है क्योंकि वे पहले से ही सिद्ध हैं। पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग प्रातिशाख्य के विषय के बाहर की वस्तु है। यह वस्तु स्थिति होते हुए भी अभीष्टार्थ निर्धारण के लिए पदों के सामान्य स्वरूप का ज्ञान वक्ता को होना आवश्यक है। अतएव पद का लक्षण, चार प्रकार के पद एवम् उनके लक्षण, पदपाठ में इतिकरण का विधान, स्थितोपस्थित का स्वरूप, अवग्रह का विस्तृत विधान इत्यादि विषयों का प्रतिपादन वा.प्रा. के प्रथम एवं चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों तथा सम्पूर्ण पञ्चम अध्याय में किया गया है। पदपाठ सम्बन्धी नियमों का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है।

इतिकरण

पदपाठ में कतिपय परिस्थितियों में उनके विशिष्ट स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए उसके बाद में इति जोड़ा जाता है। जिसे इतिकरण कहा जाता है। इतिकरण निम्नलिखित स्थलों पर होता है—

(१) वा.प्रा. ४/१८ के अनुसार चर्चा के बाद में होने पर प्रगृह्य संज्ञक पद 'इति' शब्द

से व्यवहित हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ– द्वे इति द्वे (प.पा.) द्वे (वा.सं. १७/९१)। 'शीर्षे इति शीर्षे' (प.पा.) शीर्षे (वा.सं. १७/९१)। 'अस्मे इत्यस्मे' (प.पा.) अस्मे (वा.सं. ४/२२)। 'त्वे इति त्वे' (प.पा.) त्वे (वा.सं. ४/२२)।

(२) वा.प्रा. ४/१९ के अनुसार संहिता-पाठ में जिसका रेफ स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वह रिफित पद भी इति से व्यवहित हो जाता है।[2] उदाहरणार्थ– 'पुनरिति पुनः' (प.पा.) पुनः (वा.सं. ४/१५)। 'स्वरिति स्वः' (प.पा.) स्वः (वा.सं. ३/३७)।

(३) वा.प्रा. ४/२० के अनुसार पद की द्विरुक्ति होने पर मध्य में 'इति' शब्द आ जाता है।[3]

(४) वा.प्रा. ४/२१, ४/२२ के अनुसार क्रमपाठ में पदों की जो आवृत्ति कही गई है वह पदपाठ में भी होती है। यह निमय क्रमपाठ का अतिदेश है। यथा– 'प्रजावतीरिति प्रजावतीः' (वा.सं. १/१)। सु पद और अवसान को छोड़कर।[4]

(५) वा.प्रा. ४/२३ के अनुसार 'इति बाद में होने पर नहीं' (इस अधिकार में कहे गए) मध्यवर्ती विकार तथा आगम वाले (पद) को पहले कहकर (बाद में उस पद की आवृत्ति करनी चाहिए)।[5] उदाहरणार्थः श्रेयस्कर। श्रेयः करेति श्रेयः– कर' (वा.सं. १०/२८)। सुषाव। सुसावेति सु-साव' (वा.सं. १९/२)। 'परमेष्ठी। परमेस्थीति परमे-स्थी' (वा.सं. ८/५४) 'वृष्टिमाँ इव। वृष्टिमानिवेति वृष्टिमान् – इव' (वा.सं. ७/४०)।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इति बाद में न होने पर इस अधिकार में जिस पद के मध्य में विकार अथवा आगम हुआ है। इस अवधि से पहले अथवा बाद वाले प्राग्वचन न हो। जैसे इस अवधि से पहले यह विधान है कि चकार और छकार बाद में होने पर विसर्जनीय शकार हो जाता है।[6] जैसे– दुश्च्यवन इति दुःच्यवनः। तकार और थकार बाद में होने पर विसर्जनीय सकार हो जाता है।[7] जैसे– तवस्तरमिति तवः-तरम् इत्यादि। अब

---

१. प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु। – वा०प्रा० ४/१८.

२. रिफितं च संहितायामनिरुक्तम्। – वा०प्रा० ४/१९.

३. पदावृत्तौ चान्तरेण। – वा०प्रा० ४/२०.

४. क्रमोक्तावृत्तिः पदेषु। सुपदावसानवर्जम्। – वा०प्रा० ४/२१,२२.

५. अनितावन्तर्विकारागमं प्रागुक्त्वा। – वा०प्रा० ४/२३.

६. चछयोः शम्। – वा०प्रा० ३/७.

७. तथयोः सम्। – वा०प्रा० ३/८.

अवधि के बाद के सूत्रों के स्थल दिखलायेंगे। रेफ और ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर मकार अनुस्वार हो जाता है।[1] जैसे— संसमिति सम्-सम्। रेफ बाद में न होने पर नकार भी पद के मध्य में अनुस्वार हो जाता है।[2] जैसे— पपिवांस इति पपिवांसः। संस्कृतिः। उक्त अवधि के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सूत्रों से सम्बन्धित इन सभी स्थलों में पदों की द्विरुक्ति के पूर्व में इन पदों का कथन नहीं हुआ है। इस अवधि से बाहर (पहले अथवा बाद में) जैसा संहितापाठ में (पद का स्वरूप होता है वैसा ही) पदपाठ में (इति से पहले) होता है (अतः द्विरुक्ति के पहले पद का कथन नहीं किया जाता है।) यह अर्थ है।

(६) वा.प्रा. ४/२४ के अनुसार विश्पतीव पद को पहले कहकर तत्पश्चात् इस पद की द्विरुक्ति करनी चाहिए।[3] जैसे— आ। विश्पतीव। विश्पतीइवेति विश्पती-इव (वा.सं. ३३/४४)। यह पद इस अवधि (वा.प्रा. ३/१९-३/१५१) से बाहर है, इसलिए पृथक् सूत्र के द्वारा प्राग्वचन का विधान किया गया है।

अवग्रह

अवग्रह का तात्पर्य है पृथक्करण। पद-पाठ में समासों तथा कतिपय अन्य पदों को पृथक् कर दिया जाता है, इसे ही अवग्रह कहते हैं। पृथग्भूत पूर्व-पद तथा उत्तर-पद के मध्य में काल का व्यवधान हो जाता है। वा.प्रा. ५/१ के अनुसार यह व्यवधान ह्रस्व अक्षर के तुल्यकाल वाला अर्थात् एक मात्रा वाला होता है। वा.प्रा. के सम्पूर्ण पञ्चम अध्याय में अवग्रह के स्थलों को बतलाया गया है।

अवग्रह के स्थल

(१) वा.प्रा. ५/२ के अनुसार उत्कर्ष के वाचक तर और तम बाद में हों तथा दक्षिण शब्द समीप में न हो तो पूर्ववर्ती तर और तम से पृथक् किया जाता है।[4] जैसे— 'पूर्णतरमिति पूर्णतरम्' (प.पा.) पूर्णतरम् (वा.सं. १८/१०)। 'वह्नितमम् इति वह्नि—तमम्। 'सस्नितममिति सस्नि-तमम्' (प.पा.) सस्नितमम् (वा.सं. १/८)। उत्कर्ष अर्थ में क्यों कहा? 'कारोतरेण दधतः'। 'यदा पिपेष मातरम्'। दक्षिण सम्बद्ध न हो— यह क्यों (कहा)? 'द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्।' असमास के लिए इस सूत्र का आरम्भ किया गया है।

---

१. अनुस्वारं रोष्मसु मकारः। – वा०प्रा० ४/१.

२. नुश्चान्तः पदेऽरेफे। –वा०प्रा० ४/२.

३. विश्पतीवेति च। – वा०प्रा० ४/२४.

४. तरतमयोश्चातिशयेऽदक्षिणप्रत्यासङ्गे। – वा०प्रा० ५/२.

(२) वा.प्रा. ५/३ के अनुसार वीतम, हूतम, सूतम, गोपातम, रत्नधातम और वसुधातम ये पद तम से पूर्ववर्ती पद के साथ अवगृहीत होते हैं।[1] जैसे— 'देववीतम इति देववीतमः (प.पा.) देववीतमः (वा.सं. ११/३७)। 'देवहूतमिति देवहूतम्' (प.पा.) देवहूतम् (वा.सं.१/८)। 'इन्द्राय। सुषूतमम्। सु—सूतममिति सुसूतमम्' (प.पा.) सुषूतम् (वा.सं.६/३०)। 'सुगोपातम इति सु—गोपातमः' (प.पा.) सुगोपातमः (वा.सं. ८/३१)। 'रत्नधातममिति रत्नधातमम्' (प.पा.) रत्नधातमम् (ऋ.सं.१/१/१)। 'वसुधातम इति वसु-धातमः' (प.पा.) वसुधातमः (वा.सं.२७/१५)।

(३) वा.प्रा. ५/४ के अनुसार सर्पदेवजनेभ्यः भी पूर्व-पद से अवगृहीत होता है।[2] जैसे— 'सर्पदेवजनेभ्य इति सर्प-देवजनेभ्यः' (प.पा.) सर्पदेवजनेभ्यः (वा.सं. ३०/८)।

(४) वा.प्र. ५/५ के अनुसार तूणवध्मम् उत्तर पद से अवगृहीत होता है।[3] जैसे— तूणवध्ममिति तूणव-ध्मम् (प.पा.) तूणवध्मम् (वा.सं.३०/१९)।

(५) वा.प्र. ५/६ के अनुसार रायस्पोषदे और विजावा भी उत्तरपद से अवगृहीत होते हैं।[4] जैसे— 'रायस्पोषद इति रायस्पोष-दे' (प.पा.) (वा.सं.५/१)। 'विजावेति विजा-वा' (प.पा.) विजावा (वा.सं.१२/५१)।

(६) वा.प्रा. ५/७ के अनुसार बहुत से पदों वाले समास में समास रचना के समय बाद में आने वाले पद से पृथक्करण होता है।[5] जैसे— 'प्रजापतिरिति प्रजा-पतिः (प.पा.) प्रजापतिः (वा.सं.३१/१९)। 'प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापति— गृहीतया' (प.पा.) प्रजापतिगृहीतया (वा.सं. ३/५४)। समास के नियम के अनुसार जो बाद में आने वाला पद है उसका यहाँ ग्रहण होता है, पाठ से जो बाद में आता है, उसका यहाँ ग्रहण नहीं होता है। जैसे— 'सुप्रजा इति सु-प्रजाः' (वा.सं. ३/३७) 'सुप्रायना इति सु-प्रायनाः (वा.सं. २९/५)।

(७) वा.प्रा. ५/८ के अनुसार मत्वर्थीय प्रत्यय तथा तद्धित वत् प्रत्यय बाद में होने पर पृथक्करण होता है, यदि सम्बद्ध पद व्याकरणशास्त्र के अनुसार निष्पन्न संधि से समन्वित हो।[6] जैसे— 'मधुमदिति मधु-मत्' (वा.सं. ८/६३)। हिरण्यवदिति

---

१. वीतमहूतमसूतमगोपातमरत्नधातमवसुधातमाः पूर्वेण। – वा०प्रा० ५/३.

२. सर्पदेवजनेभ्यश्च। – वा०प्रा० ५/४.

३. तूणवध्ममुत्तरेण। – वा०प्रा० ५/५.

४. रायस्पोषदे विजावेति च। – वा०प्रा० ५/६.

५. बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा। – वा०प्रा० ५/७.

६. तद्धिति तद्धिते न्यायसंहितं चेत्। – वा०प्रा० ५/८.

हिरण्य-वत् ' (वा.सं. ८/६३)। वत् बाद में होने पर भी जैसे— वरिष्ठाम्। अनु। संवतमिति सम्-वतम्।' (वा.सं. ११/१२)। मत्वर्थीय प्रत्यय तथा तद्धित वत् प्रत्यय बाद में होने पर यह क्यों कहा? 'एतवान्। अस्य। महिमा।' व्याकरणशास्त्र के अनुसार निष्पन्न संधि वाला यह क्यों कहा? 'ऊर्जस्वन्तम्', 'पर्यस्वन्तम्', 'मरुत्वन्तम्।'

(८) वा.प्रा. ५/९/ के अनुसार शस्, त्वम्, त्रा और ताति बाद में होने पर भी पृथक्करण होता है।[1] जैसे— 'कति। होतारः। ऋतुश इत्यृतु–शः' (वा.सं. २३/५७)। त्वं यथा— 'मर्त्यस्य। देवत्वमिति देव-त्वम्' (वा.सं. ३१/१७)। त्रा यथा— 'देवत्रेति देव-त्रा। यन्तम्' (वा.सं. ६/२०)। ताति यथा— 'ज्येष्ठतातिमिति ज्येष्ठ-तातिम्। बर्हिषदम्' (वा.सं. ७/१२)

(९) वा.प्रा. ५/१० के अनुसार स्वर है पूर्व में जिसके ऐसा धातु के अर्थ को रखने वाला यकार बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[2] जैसे— 'बृषायमाणः वृषयमाण इति वृष-यमाणः' 'अधायतः अधयत इत्यध–यतः' (वा.सं. ३/२६)।

(१०) वा.प्रा. ५/११ के अनुसार भूतकाल के अर्थ का वाचक, ह्रस्व स्वर से बाद में स्थित तथा सम्प्रसारण उष् रूप में न परिणत वांस प्रत्यय बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[3] जैसे— जक्षिवांस इति जक्षि— वांसः' (वा.सं. ८/१९) 'पपिवांस इति पपि-वांसः' (वा.सं. ८/१९)। 'ससृवांस इति ससृ-वांसः' (वा.सं. ९/१९)।

(११) वा.प्रा. ५/१२ के अनुसार प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम और ऋतु से बाद में स्थित 'था' प्रत्यय को पृथक् कर दिया जाता है।[4] जैसे— 'प्रत्नथेति प्रत्न-था' (वा.सं. ७/१२)। 'पूर्वथेति पूर्व-था' (वा.सं. ७/१२) 'विश्वथेति विश्व-था' (वा.सं. ७/१२)। 'इमथेतीम-था' (वा.सं. ७/१२) 'ऋतुथेत्यृतु-था' (वा.सं. २०/६५)।

(१२) वा.प्रा. ५/१३ के अनुसार ह्रस्व स्वर और व्यञ्जन से बाद में भकार से प्रारम्भ होने वाला विभक्ति प्रत्यय होने पृथक्करण होता है।[5] जैसे— 'तक्षभ्य इति तक्ष-भ्यः' (वा.सं. १६/२७)। 'अग्निभिरित्यग्नि-भिः।' व्यञ्जनाद्भवति जैसे— 'तिष्ठद्भ्य इति

---

१. शस्त्वन्त्रातातिषु च। – वा०प्रा० ५/९.

२. धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे। – वा०प्रा० ५/१०.

३. वांसौ च भूतकाले स्वरेण ह्रस्वादनुषि। – वा०प्रा० ५/११.

४. प्रत्नपूर्वविश्वेमर्तुभ्यस्था। – वा०प्रा० ५/१२.

५. ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्ति प्रत्यये। – वा०प्रा० ५/१३.

तिष्ठत्-भ्यः' (वा.सं. १६/२३)। 'धावद्भ्य इति धावत्-भ्यः' (वा.सं. १६/२३)। ह्रस्व और व्यञ्जन से होता है ऐसा क्यों कहा? जैसे– 'रथकारेभ्य इति रथ-कारेभ्यः। कुलालेभ्यः' (वा.सं. १६/२६)। भकारादि से प्रारम्भ होने वाला विभक्ति प्रत्यय बाद में होने पर क्यों? जैसे– 'कर्णो गर्दभः' (वा.सं. २४/४०)। 'कुम्भो वनिष्ठु' (वा.सं. १९/८७)। भकारादि को आदि में क्यों? 'अग्निषु।'

(१३) वा.प्रा. ५/१४ मूर्धन्य न बना हुआ सु– यह विभक्ति प्रत्यय भी बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[1] जैसे– 'अप्स्वित्यप्–सु अग्ने सधिः' (वा.सं. १२/३६)। 'अभि प्र इद्धि निः दह हृत्स्विति हृत्–सु' (वा.सं. १७/४४)। मूर्धन्य (षकार) न होने पर यह क्यों कहा? 'ऋक्षु', 'अग्निषु'। 'स्नुषु' (वा. १७/१४)। विभक्ति यह क्यों कहा? 'असुम्'। ह्रस्व स्वर और व्यञ्जन से बाद में इसकी पूर्ववर्ती सूत्र से अनुवृत्ति हो रही है। उनसे बाद में– यह क्यों? 'यासु'।

(१३) वा.प्रा. ५/१५ के अनुसार और संख्या समास में विकल्प से पृथक्करण होता है।[2] जैसे– धूम्ररोहित इति धूम्र-रोहितः। कर्क्कन्धुरोहित इति कर्ककन्धु-रोहितः' (वा.सं. २४/२)। सङ्ख्यासमास में यथा– 'पञ्चदशेति पञ्च-दश' (वा.सं. १८/२४)। 'त्रयोदशेति त्रयः-दश' (वा.सं. १८/२४)।

(१४) वा.प्रा. ५/१६ के अनुसार अनुदात्त उपसर्ग से युक्त आख्यात बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[3] जैसे– **उपस्तृणन्तीत्युप स्तृणन्ति** (वा.सं. २५/३९)। **निर्हतस्येति नि-र्हतस्य। अवधावतीत्यव-धावति'** (वा.सं. २५/३४)।

(१५) वा.प्रा. ५/१७ के अनुसार त्र और श बाद में होने पर गिरि पद को पृथक् किया जाता है।[4] जैसे– 'शिवाम् गिरित्रेति गिरि-त्र' (वा.सं. १६/३)। 'गिरिशेति गिरि-श अच्छा। वदामसि' (वा.सं. १६/४)

(१६) वा.प्रा. ५/१८ के अनुसार इव, कार, द्विरुक्त पद और अयन बाद में होने पर पृथक्करण होता है।[5]

---

१. स्विति चानतौ। – वा०प्रा० ५/१४.

२. वर्णसङ्ख्येऽन्यतरतः। – वा०प्रा० ५/१५.

३. अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते। – वा०प्रा० ५/१६.

४. गिरित्रशयोः। – वा०प्रा० ५/१७.

५. इवकाराम्रेडितायनेषु च। – वा०प्रा० ५/१८.

जैसे— 'स्रुचीवेति स्रुचि-इव। घृतम्' (वा.सं. २०/७९)। हिङ्कारायेति हिम्-काराय' (वा.सं. २२/७)। 'यज्ज्ञायज्ज्ञेति यज्ज्ञा-यज्ज्ञा। वः' (वा.सं. २७/४१)। 'आयनायेत्या-अयनाय' (वा.सं. २२/७) 'प्रायनायेति प्र-अयनाय' (वा.सं. २२/७)।'

(१७) वा.प्रा. ५/१९ के अनुसार एक शब्द से परवर्ती समीची पद पृथक् किया जाता है।[1] जैसे— 'शिशुम्। एकम्। समीची इति सम-ईची' (वा.सं. १२/२)। एकादिति क्यों? 'स्वर्विदेति स्वः-विदः। समीची इति समीची। उरसा। त्मना'।।

(१८) वा.प्रा. ५/२० के अनुसार त्वायवः, शंयोः, बहिर्धा, अस्मयुम्, मृण्मयीम्, सुम्नया, आशुया, साधुया, धृष्णुया, विशालम् और अनुया पदों में पृथक्करण होता है।[2] जैसे— 'त्वायव इति त्वा-यवः' (वा.सं. २०/८७) शग्मम्। शय्योरिति शम्-योः' (वा.सं. ३/४३)। 'इदम्। अहम्। तप्तम्। वाः। बहिर्धेति बहिः-धा। यज्ञात्' (वा.सं. ५/११)। 'अग्निम्। भरन्तम्। अस्मयुमित्यस्म-युम्' (वा.सं. ११/१३)। 'महीम्। मृण्मयी-मिति मृत्-मयीम्। योनिम् अग्नये' (वा.सं. ११/५९)। 'धीराः। देवेषु। सुम्नयेति। सुम्न-या' (वा.सं. १२/६७)। 'तव। भ्रमासः। आशुयेत्याशु-या' (वा.सं. १३/१०)। 'आ। सीद। साधुयेति साधु-या' (वा.सं. १४/१)। 'चित्र। वज्रहस्तेति वज्र-हस्त। धृष्णुयेति धृष्णु-या। महः' (वा.सं. २७/३८)। विशालं यथा— 'विशालमिति वि-शालम्। पुरुषः' (वा.सं. १४/९)। अनुयेत्यनु-या। (वा.सं. १५/६) 'वसुभ्य इति वसु-भ्यः' (वा.सं. १५/६)।

(१९) वा.प्रा. ५/२१ के अनुसार मृगयुम, उभयादतः, अपामार्ग और किम्पूरुषम् में (पृथक्करण होता है।[3] जैसेः— 'मृत्यवे। मृगयुमिति मृग-युम् (वा.सं. ३०/७) 'ये। के। च। उभयदत इत्युभयदतः' (वा.सं. ३१/८)। 'अपामार्ग। अपमार्गेत्यपमार्ग। त्वम्। अस्मत्' (वा.सं. ३५/११)। 'पर्वतेभ्यः। किम्पूरुषम्। किम्पुरुषमिति किम्—पुरुषम्' (वा.सं. ३०/१६)।

(२०) वा.प्रा. ५/२२ के अनुसार जातूकर्ण्य के मत में पारावतान् और अग्निमारुताः पद में भी पृथक्करण किया जाता है।[4] जैसे— 'अह्नो। पाराव-तान् इति पारा-वतान्।'

---

१. एकात्समीची। — वा०प्रा० ५/१९.

२. त्वायवः शंयोर्बहिर्द्धास्मयुं मृण्मयीं सुम्नयाशुया साधुया धृष्णुया विशालमनुया। — वा०प्रा० ५/२०.

३. मृगयुमभयादतोऽपामार्गकिम्पूरुषमिति च। — वा०प्रा० ५/२१.

४. पारावतानाग्निमारुताश्चेति जातूकर्ण्यस्य। — वा०प्रा० ५/२२.

(वा.सं. २४/२५)। 'कल्माषः। अग्निमारुता इत्याग्नि-मारुताः।' (वा.सं. २४/७)।

(२१) वा.प्रा. ५/२३ के अनुसार कतिपय आचार्य अधीवासम् पद को पृथक् करते हैं।[1] जैसे— 'अधिवासमित्यधि-वासम्। या। हिरण्यानि' (वा.सं. २५/३९)।

अवग्रह के अपवाद अथवा निषेध

(१) वा.प्रा. ५/२४ के अनुसार निषेधार्थक नञ् के साथ समास होने पर पृथक्करण नहीं होता है।[2] जैसे— न रक्षसा। 'अरक्षसा। मनसा' (वा.सं. ११/२४)। न इराः। 'अनिराः। अमीवाः। निषीदन्' (वा.सं. ११/४७)। यहाँ 'नञ् के नकार का लोप होता है उत्तरपद बाद में होने पर इससे नकार लोप होता है। 'जिस नञ् के नकार लोप हो गया हो उससे परवर्ती अजादि उत्तर पद को नुट् आगम होता है' इससे नुट् का आगम होता है। निषेधार्थ— यह क्यों? अनिशित इत्यनि-शितः। असि।'

(२) वा.प्रा. ५/२५ के अनुसार निषेधार्थक नञ् से बाद में आने वाले उत्तरवर्ती आकार के साथ जो समास होता है उसमें भी पृथक्करण नहीं होता है।[3] जैसे— 'अनातताय। (वा.सं. १६/१४)। 'अनादृष्यः' (वा.सं. २७/७)।

(३) वा.प्रा. ५/२६ के अनुसार 'द्वा' से प्रारम्भ होने वाला समास पृथक् नहीं किया जाता है।[4] जैसे— 'द्वादश' (वा.सं. १८/२५)। 'द्वाविंशः' (वा.सं. १४/२३)।

(४) वा.प्रा. ५/२७ के अनुसार सङ्ख्या पूर्व में होने पर धा पद पृथक् नहीं किया जाता है।[5] जैसे— 'अष्टधा।' (वा.सं. ८/६२)। 'कतिधा।' (वा.सं. २३/५७)।

(५) वा.प्रा. ५/२८ के अनुसार स्वर-वर्ण में समाप्त होने वाले हैं पूर्व-पद जिनके ऐसे द्विवचनान्त द्वन्द्व समास पृथक् नहीं किये जाते हैं।[6] जैसे— 'मित्रावरुणा' (वा.सं. ७/९)। 'इन्द्राग्नी' (वा.सं. ७/३१)। 'अग्नीषोमयोः (वा.सं. २/१५)।

(६) वा.प्रा. ५/२९ के अनुसार जब एकाक्षर पूर्व पद में तद्धित के कारण वृद्धि हुई हो और उत्तर-पद पूर्व-पद से अव्यवहित हो तब पृथक्करण नहीं होता है।[7] जैसे—

---

१. अधीवासमित्येके। — वा०प्रा० ५/२३.

२. प्रतिषेधे नावग्रहः। — वा०प्रा० ५/२४.

३. उत्तरेण चाकारेण। — वा०प्रा० ५/२५.

४. द्वापूर्वम्। — वा०प्रा० ५/२६.

५. सङ्ख्यापूर्वश्चधा। — वा०प्रा० ५/२७.

६. द्वन्द्वानि द्विवचनान्तानि स्वरानतपूर्वपदानि। — वा०प्रा० ५/२८.

७. तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिहिते। — वा०प्रा० ५/२९.

'त्रैष्टुभेन।' (वा.सं. ११/९) 'सौभाग्यम्। पसः' (वा.सं. २०/९)।

(७) वा.प्रा. ५/३० के अनुसार अञ्च् और सह् धातु के समास में पृथक्करण नहीं होता है, यदि कृत् प्रत्यय का लोप हुआ हो।[1] जैसे— 'प्राङ्' (वा.सं. १९/३) 'प्रत्यङ्' (वा.सं.१०/३१)। 'ऋतधामा' (वा.सं.१८/३८)।'पृतनाषाट्' (वा.सं.१७/३९)।

(८) वा.प्रा. ५/३१ के अनुसार उरु और सु पूर्व में होने पर पृथक्करण का निषेध नहीं होता है।[2] जैसे— 'उरुव्यञ्चमित्युरु-व्यञ्चम्। अश्रेत्' (वा.सं. १५/२५)। सुरुच इति सु-रुचः। वेनः। आवः' (वा.सं. १३/३)। 'सुप्राङिति सु-प्राङ्। अजः' (वा.सं. २५/२५)।

(९) वा.प्रा. ५/३२ के अनुसार सम् और इदा से परवर्ती वत्सर शब्द पृथक् नहीं किया जाता है।[3] जैसे— 'संवत्सरः। असि। इदावत्सरः' (वा.सं. २७/४५)।

(१०) वा.प्रा. ५/३३ के अनुसार प्र और अग्नि के साथ इन्ध को छोड़कर अन्य शब्द की प्रश्लिष्ट संधि न होने पर पृथक्करण नहीं होता है।[4] जैसे— 'प्राणः' (वा.सं. १८/२)। 'आग्नीध्रम्। (वा.सं. १९/१८)।

(११) वा.प्रा. ५/३४ के अनुसार पाङ्क्त्रान्, उदद्रः और अब्भ्राय संशय के कारण पृथक् किए जाते हैं।[5] जैसे— 'अन्तरिक्षाय। पाङ्क्त्रान्' (वा.सं. २४/२६)। 'अपामुद्द्रो मासम्' (वा.सं. २४/३७)। 'अब्भ्राय स्वाहा' (वा.सं. २२/२६)।

(१२) वा.प्रा. ५/३५ के अनुसार जनयत्यै, ओषधयः, वृषायिषत, नहि, चन, अस्मभ्यम्, अजावयः और वलगम् पृथक् नहीं किए जाते हैं।[6] जैसे— 'जनयत्यै।' (वा.सं. १/२२)। 'ओषधयः' (वा.सं. ११/४७)। 'वृषायिषत' (वा.सं. २/३१)। 'नहि। तेषाम्। अमा। चन' 'कदा। चन। स्तरीः। असि' (वा.सं ३/३४)। 'पावकः। अस्मभ्यम्। शिवः। भव'। 'उपहूता इत्युप-हूताः। अजावयः' (वा.सं. ३/४३)। 'इदमहन्तं वलगमुत्किरामि' (वा.सं. ५/२३)।

(१३) वा.प्रा. ५/३६ के अनुसार अश्वमेध प्रकरण (वा.सं. २२-२५ एवं २९ अध्याय)

---

१. अञ्चतिसहत्योः कृल्लोपे। — वा०प्रा० ५/३०.

२. अनुरुसुभ्याम्। — वा०प्रा० ५/३१.

३. समिदाभ्यां वत्सरः। — वा०प्रा० ५/३२.

४. प्राग्निभ्यामनिन्धौ प्रश्लेषे। — वा०प्रा० ५/३३.

५. पाङ्क्त्रानुद्द्रोऽब्भ्राय संशयात्। — वा०प्रा० ५/३४.

६. जनयत्या ओषधयो वृषायिषत नह्दि चनास्मभ्यमजावयो वलगम्। — वा०प्रा० ५/३५.

को छोड़कर अन्यत्र समान शब्द पृथक् नहीं किया जाता है।[1] जैसे— 'समानः। यमसमानः' (वा.सं. ५/२३)।

(१४) वा.प्रा. ५/३७ के अनुसार वायुः, असजातः, समुद्रम्, अहोरात्रे, विश्वानरः, विश्वाहा, आग्रयणः, असपत्नाः, गोधा, गोधूमाः, आशुशुक्षणिः, न्यग्रोधः, पुरोडाशः, प्रावणेभिः, अशीतम, तस्कराः, मस्मसा, अश्वत्थे, उपस्तिः, माकिः, विश्वामित्रः, गोपाम्, प्रउगम्, अङ्गानि, कक्षीवन्तम्, अदधात्, पवीरवत्, नीहारेण, प्रावृता, घनाघनः, ईदृङ् चान्यादृङ्, शूघनासः, कुयवम्, कुचरः, प्रियङ्गवः, नीवाराः, एकादश, षोडश, चन्द्रमाः, आयुवः, व्याघ्रः, अनऽवान्, गविष्ठिरः, कपर्दिने, पुलस्तये, निर्षाङ्गिणे, कुलालेभ्यः, कमरिभ्यः, पुञ्जिष्ठेभ्यः, दीप्याय, नीप्याय, किंशिलाय, ऐलाबृदाः, शूकराय, शूकृताय, चराचरेभ्यः, पारावतान्, गोलत्तिका, आखुः, अजगरः, विपन्यवः, दाक्षायणा आयुधम्, सुरामम्, बृहस्पतिः, वनस्पतिः, नराशंसः, सुरभिः, नरिष्ठायै ये पद पृथक् नहीं किये जाते हैं।[2] जैसे— 'वायुः पूषा स्वस्तये' (वा.सं. ३३/४४)। असजातो यथा— 'यमसजातो निचखान' (वा.सं. ५/२३)। समुद्रं यथा 'समुद्रं गचछ स्वाहा' (वा.सं. ६/२१) इत्यादि।

(१५) वा.प्रा. ५/३८ के अनुसार उत्तर-पद के आदि के विषय में संशय होने से उत्तम्भन आदि पृथक् नहीं किये जाते हैं[3] जैसे— 'वरुणस्योत्तम्भनसि' (वा.सं. ४/३६)। 'उत्थाय बृहतो भव ((वा.सं. ११/६४) 'उत्थिताय स्वाहा' (वा.सं. २२/८)।

(१६) वा.प्रा. ५/३९ के अनुसार व्याकरण के नियम के अनुसार समास न होने के कारण विशौजाः पृथक् नहीं किया जाता है।[4] जैसे— 'इन्द्रोऽसि विशौजाः'।

(१७) वा.प्रा. ५/४० के अनुसार दित्यौही, तुर्यौही, पष्ठौही और हृदयौपशेन भी पूर्वोक्त कारण से पृथक् नहीं किये जाते हैं।[5]

(१८) वा.प्रा. ५/४१ के अनुसार दुष्टरः, विष्टरः, विष्टपः, विष्टभः और विष्टम्भनीम् पृथक् नहीं किए जाते हैं।[5] जैसे— 'दुष्टरः। दुस्तर इति दुस्तरः।' 'तरन् अघ्नस्य विष्टपम्।' 'विष्टम्भोऽधिपतिः' 'धात्रीं विष्टम्भनीमदिशम्।'

---

१. समानोऽनश्वमेधे। — वा०प्रा० ५/३६.

२. वायुरसजातः समुद्रमहोरात्रे----------सुरभिर्नरिष्ठाये। — वा०प्रा० ५/३७.

३. उत्तम्भनादीन्यादिसंशयात्। — वा०प्रा० ५/३८.

४. विशौजा इत्यन्यायसमासात्। — वा०प्रा० ५/३९.

५. दित्यौही तुर्यौही षष्ठौही हृदयौपशेनेति। — वा०प्रा० ५/४०.

६. दुष्टरो विष्टरो विष्टयो विष्टम्भो विष्टम्भनीम्। — वा०प्रा० ५/४१.

(१९) वा.प्रा. ५/४२ के अनुसार उपसर्ग के एक भाग (देश) का लोप होने कारण ऊवध्येम्, उगणाः, उखे, इष्कृतिः, इष्कर्तारम् और उदरम् पृथक् नहीं किये जाते हैं।[1] जैसे— 'ऊवध्यं वातं सब्वन्तदारात्' (वा.सं. १९/८४)। 'नम उगणाभ्यः' (वा.सं. १६/२४)। 'अभीन्धतामुखे (वा.सं. ११/६१)। 'इष्कृतिनमि वः' (वा.सं. १२/८३)। 'इष्कर्त्तारमध्वरस्य' (वा.सं. १२/११०)। 'प्रष्टीर्मे राष्ट्रमुदरम्' (वा.सं. २०/८)।

(२०) वा.प्रा. ५/४३ के अनुसार उपधाभूत स्वर के अनुनासिक होने से संस्कृतम्, संस्कृतिमः, माँस्पचन्याः और पूँश्चलूम् पृथक् नहीं किये जाते हैं।[2] जैसे— 'तुन्नौ संस्कृतम्' (वा.सं. ४/३४)। 'सा प्रथमा संस्कृतिः' (वा.सं. ७/१४)। 'माँस्पचन्या उखायाः' (वा.सं. २५/३६)। 'नर्माय पुँश्चलूं हसाय' (वा.सं. ३०/२०)।

(२१) वा.प्रा. ५/४४ के अनुसार कतिपय आचार्यों के मत में अनुस्वार का आगम होने से संस्कृतम्, संस्कृतिः, मांस्पचन्याः और पुँश्चलूम् में पृथक्करण नहीं होता है।[3] जैसे— 'संस्कृतम्'। 'संस्कृतिः'। 'मांस्पचन्याः'। 'पुंश्चलूम्'। काण्व आदि का यह पाठ है— यह जानना चाहिए।

(२२) वा.प्रा. ५/४५ के अनुसार परीत्तः, अवत्तानाम्, सुविताय और सग्धिः, पृथक् नहीं किये जाते हैं।[4] जैसे— 'श्येने परीत्तो अचरत्।' (वा.सं. ९/९)। 'अङ्गादङ्गादवत्ताम्' (वा.सं. २१/४३)। 'अग्निः सुदक्षः सुविताय' (वा.सं. १५/२७)। 'सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे' (वा.सं. १८/९)।

सङ्क्रम

सङ्क्रम शब्द का अर्थ है अतिक्रमण करना, परित्याग करना। तीन या तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने पर पुनरुक्त स्थलों को पदपाठ तथा क्रम-पाठ में उन्हें छोड़ दिया जाता है। वा०प्रा० में इसे सङ्क्रम शब्द से अभिहित किया गया है! सङ्क्रम के स्थलों को चतुर्थ अध्याय के चौदह सूत्रों में उल्लिखित किया गया है।

सङ्क्रम के स्थल

(१) वा.प्रा. ४/१६८ के अनुसार तीन अथवा तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने

---

१. ऊवध्यमुगणा उख इष्कृत्तिरिष्कर्त्तारमुदरमित्युपसर्गैकदेशलोपात् । – वा०प्रा० ५/४२.

२. संस्कृतं संस्कृतिर्मांस्पचन्याः पुँश्चलूमित्यनुनासिकोपधत्वात्। – वा० ५/४३.

३. अनुस्वारागमत्वादित्येके। – वा०प्रा० ५/४४.

४. परीत्तोऽवत्तानां सुविताय सग्धिरिति। – वा०प्रा० ५/४५.

पर सङ्क्रम होता है।[१] जैसे– 'वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्। स्वाहा। रुद्र। यत्। वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा रुद्र यत्। (वा.सं. १०/२०)। 'तस्मै। ते। इन्द्रो। हविषा। विधेम। बर्हिषदः। पितर (प०पा०) तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्। बर्हिषदः पितर। (वा.सं. १९/५४-५५)।

(२) वा.प्रा. ४/१६९ के अनुसार एक अनुवाक में दो पदों अथवा एक पद की भी पुनरुक्ति होने पर उनको छोड़ दिया जाता है।[२] जैसे– 'वाजः। च। मे। प्रयतिः' (प.पा.) 'वाजश्च च मे प्रयतिः' (वा.सं. १८/१)। 'मा। छन्दः। प्रमा। प्रतिमा (प.पा.) 'मा छन्दः प्रमा छन्दः प्रतिमा। (वा.सं. १४/१८)।

(३) वा.प्रा. ४/१७० के अनुसार अव्यवहित (पुनरुक्त) में सङ्क्रम होता है।[३] जैसेः– 'गन्धर्वः। त्वा। विश्वासुः। परि। दधातु। विश्वस्य। अरिष्ट्यै। यजमानस्य। परिधिः। असि। अग्निः। इडः। ईडितः। इन्द्रस्य। बाहुः। असि। दक्षिणः। मित्रावरुणौ। त्वा।' (प.पा.) गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः। इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिस्याग्निरिड ईडितः। मित्रावरुणौ त्वा। (वा.सं. २/३)।

(४) व.प्रा. ४/१७१ के अनुसार जब पुनरुक्त पद अन्य का अङ्ग होता है तब संक्रम होता है।[४] जैसेः– 'स्वाहा। यज्ञम्। मनसः। उरोः। अन्तरिक्षात्। द्यावापृथिवीभ्याम्। वातात्। आ। रभे। (प.पा.) स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्स्वाहा द्यावापृथिव्यां स्वाहा वातादरभे। (वा.सं. ४/६)।

(५) वा.प्रा. ४/१७२ के अनुसार स्वर का विकार न होने पर सङ्क्रम होता है।[५] जैसे– **तेजः। असि। शुक्रम्। अमृतम्। धाम। नाम।** (प.पा.) तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमस्धिाम नामासि प्रियं देवानाम्। (वा.सं. १/३१)।

(६) वा.प्रा. ४/१७३ के अनुसार लिङ्ग के विकार से रहित पुनरुक्त पद को छोड़ दिया जाता है।[६] जैसे– 'अग्ने। भागः। असि। दीक्षायाः। आधिपत्यम्। ब्रह्म। स्पृतम्।

---

१. त्रिपदाद्यावर्त्तमाने सङ्क्रमः। – वा०प्रा० ४/१६८.

२. द्विपदैकपदान्यप्यनुवाके। – वा०प्रा० ४/१६९.

३. अन्तरे। – वा०प्रा० ४/१७०.

४. अपराङ्गे। – वा०प्रा० ४/१७१.

५. अस्वरविकारे। – वा०प्रा० ४/१७२.

६. अलिङ्गविकारे। – वा०प्रा० ४/१७३.

त्रिवृत्। स्तोमः। इन्द्रस्य। विष्णोः। क्षत्रम्। पञ्चदशः। (प.पा.)' 'अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमऽइन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रं स्पृतं पञ्चदशः।' (वा.सं. १४/२४)।

(७) वा.प्रा. ४/१७४ के अनुसार भिन्न (असमान) पदार्थ से सम्बद्ध पुनरुक्त पद में सङ्क्रम होता है।[१] जैसे– 'आयुः। यज्ञेन। कल्पताम्। प्राणः। चक्षुः। श्रोतम्। पृष्ठम्।' (प.पा.) 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोतं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।' (वा.सं. ९/२१)।

(८) वा.प्रा. ४/१७५ के अनुसार तीन बार पुनरुक्त पद में सङ्क्रम होता है।[२] जैसे– 'इषे। ऊर्ज्जे। रय्यै। पोषाय। (प.पा.) 'इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।' (वा.सं. १४/२२)।

(९) वा.प्रा. ४/१७६ के अनुसार गूढ (प्रच्छन्न, अदृष्ट, अव्यक्त किंतु विवक्षित) पुनरुक्त में सङ्क्रम होता है।[३] जैसे– 'इयम्। ते। राट्। यन्ता। असि। यमनः। ध्रुवः। धरुणः। प.पा. 'इयं ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।' (वा.सं. ९/२२)।

(१०) वा.प्रा. ४/१७७ के अनुसार पदसमूह (एक या एकाधिक पदों की बहुत बार आवृत्ति) में सङ्क्रम होता है।[४] जैसे– 'नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये' प.पा. नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये। (वा.सं. १६/१७)। 'वाजः। च। मे। प्रसवः। प्रयतिः' (प.पा.) वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिः (वा.सं. १८/१)।

(११) वा.प्रा. ४/१७८ के अनुसार संहितापाठ में भी सङ्क्रम होता है।[५] जैसे– 'लोकन्ता इन्द्रम्' (वा.सं. १२/५४)। 'हिरण्यगर्भ' (वा.सं. ३२/३)। 'मा मा हिंसीत्' (वा.सं. १२/१०२)। 'यस्मान्न जातः' (वा.सं. ८/३६)।

(१२) वा.प्रा. ४/१७९ के अनुसार अवसान को बतलाने के लिए पुनरुक्त पदों का पुनः ग्रहण किया जाता है।[६] जैसे– 'आकूत्यै। प्रयुजे। अग्नये। स्वाहा। मेधायै। मनसे। दीक्षायै। तपसे। सरस्वत्यै। पूष्णे। अग्नये स्वाहा।'

---

१. असमाने। – वा०प्रा० ४/१७४.

२. त्रिरावृत्ते। – वा०प्रा० ४/१७५.

३. गूढे। – वा०प्रा० ४/१७६.

४. पदसमूहे। – वा०प्रा० ४/१७७.

५. संहिलायाम्। – वा०प्रा० ४/१७८.

६. अवसानार्थं पुनर्ग्रहणम्। - वा०प्रा० ४/१७९.

(१३) वा.प्रा. ४/१८० के अनुसार पदों के अविकार को बतलाने के लिए भी पुनर्ग्रहण किया जाता है।[1] जैसे— 'इषाय। ऊर्जाय। स्वरिति स्वः। स्वाहा। मूद्र्ध्ने। व्यश्नुविने।' (वा.सं. २२/३१)।

(१४) वा.प्रा. ४/१८१ के अनुसार वा.प्रा. ४/१८० में उक्त पद का परित्याग किया जाता है।[2] जैसे— 'स्वर्मूद्र्ध्ने। मूद्र्ध्ने व्यश्नुविने।' यह नियम विकल्प से लागू होता है।

कतिपय विशिष्ट पदों का स्वरूप

पद-पाठ के पद संहिता-पाठ में अपने समीपवर्ती पद के प्रभाव से विकृत हो जाते हैं और कभी-कभी उनके मूल स्वरूप को पहचानना कठिन हो जाता है। अतः सन्देह-निवारण के लिए वा.प्रा. के पच्चीस सूत्रों में संहिता के कतिपय संदेहास्पद पदों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। साधु पद के निश्चय के लिये ये विधान किये गये हैं।

(१) वा.प्रा. ४/२७ के अनुसार परि द्विषः त्वम्, त्वाम्, यदजयः, विराजति, अनिराः, अवीवृधन, परिष्ठाः, सुक्षितयः, आशाः, ओषधीः, आभाहि, अमीवाः, हि मायाः, ते और असि— ये बाद में होने पर विश्वा ऊष्म वर्ण में समाप्त होने वाला (ऊष्मान्त विश्वाः) होता है।[3] जैसे— 'येन विश्वाः परि द्विषः' (वा.सं. ४/२९)। 'विश्वास्त्वम्प्रजा उपावरोह' (वा.सं. ६/२६)। 'विश्वा यदजयः स्पृधः' (वा.सं. १९/७१)। इत्यादि।

(२) वा.प्रा. ४/२८ के अनुसार सम्भव, शुक्रः, मन्थी, पृथिवीमा और परो देवेभिः ये बाद में होने पर पृथिव्या स्वर वर्ण (आ) में समाप्त होने वाला (स्वरान्त पृथिव्या) होता है।[4] जैसे— 'पृथिवी मा विशत पृथिव्या सम्भव' (वा.सं. ४/१३)। 'सञ्जगमानो दिवा पृथिव्या शुक्रः।' (वा.सं. ७/१३)। इत्यादि।

(३) वा.प्रा. ४/२९ के अनुसार च विश्वा, वः, ब्रह्म, विश्वा, हरी, युक्ताः, ते, शफानाम् जजान और नु कम ये बाद में होने पर इमा पद स्वरान्त होता है।[5] जैसे— 'इमा च विश्वा भुवनानि' (वा.सं. ९/२४)। 'इमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्' (वा.सं. १९/५५)। इत्यादि।

---

१. अविकारार्थं च। – वा०प्रा० ४/१८०.

२. उत्सर्गश्च। – वा०प्रा० ४/१८१.

३. विश्वा ऊष्मान्तं परि द्विषस्तवं ----- मायास्तेऽसीत्येतेषु। – वा०प्रा० ४/२७.

४. पृथिव्या स्वरान्तं सम्भव शुक्रो मन्थी पृथिवीं परो देवेभिरित्येतेषु। – वा०प्रा० ४/२८.

५. च विश्वा वो ब्रह्म विश्वा हरी --- नु कमित्येतेष्विमा। – वा०प्रा० ४/२९.

(४) वा.प्रा. ४/३० के अनुसार हवेमा और उतेमा भी स्वरान्त हैं।[१] जैसे– 'जुतम्मे मित्रावरुणा हवेमा' (वा.सं. २१/९)। 'विश्वकर्मन्नुतेमा' (वा.सं. १७/२१)।

(५) वा.प्रा. ४/३१ के अनुसार विष्णो, ते, बभव, नासत्या, भिषजा, न आवोढम्, या देवाः, हविषः, नो मृडातः, न आवोढम्, या देवाः हविषः, नो मृडातः, नो अच्छ और विमुञ्च– ये बाद में होने पर ता (स्वरान्त) होता है।[२] जैसे– 'ता विष्णो पाहि' (वा.सं. २/६)। 'सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि' (वा.सं. २५/४०)। इत्यादि।

(६) वा.प्रा. ४/३२ के अनुसार ता ता शब्द भी स्वरान्त हैं।[३] जैसे– 'ता ता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ' (वा.सं. २५/४२)।

(७) वा.प्रा. ४/३३ के अनुसार हविः और दम्पती बाद में होने पर साध्या और दा स्वरान्त होते हैं।[४] जैसे– 'यहि साध्या हविरदन्तु।' 'यदाशीर्दा दम्पती।'

(८) वा.प्रा. ४/३४ के अनुसार 'धिष्ण्या वरिवोविदम्' और 'धिष्ण्या युवम्' में धिष्ण्या शब्द स्वरान्त है।[५] जैसे– 'धिष्ण्या वरिवोविदम्' (वा.सं. २०/८३)। 'तदश्विना जृणुतं धिष्ण्या युवम्' (वा.सं. २५/१७)।

(९) वा.प्रा. ४/१५३ के अनुसार आप्याय्यमानो यमः, रय्यै, धाय्यारूपम्, त्रवाय्यम्, नृपाय्यम्, पौरुषेय्या, हृदय्याय, सहरय्या, निचाय्य, सन्नाय्य तथा सन्ताय्य ये पद दो यकार वाले हैं।[६] जैसे– 'आप्याय्यमानो यमः' (वा.सं. ८/५७)। 'रय्यै त्वा पोषाय त्वा' (वा.सं. १४/२२)। इत्यादि।

(१०) वा.प्रा. ४/१५५ के अनुसार ज्योतिः, च्यवनः, श्येनः, श्यामम्, श्यामाकाः, श्येतः, ज्येष्ठः, ज्योक्, ज्या तथा छ्यति ये पद एक यकार वाले हैं।[७] जैसे– 'बृहज्ज्योति करिष्यतः' (वा.सं. ११/३)। 'दुश्च्यवनः पृतनाषाट्' (वा.सं. १७/३९)। इत्यादि।

---

१. हवेमोतेमा। – वा०प्रा० ४/३०.

२. विष्णो ते बभूव नासत्या ------- विमुञ्चेत्येतेषु ता। – वा०प्रा० ४/३१.

३. ता ता च। – वा०प्रा० ४/३२.

४. हविर्दम्पत्योः साध्या दा। – वा०प्रा० ४/३३.

५. धिष्ण्या वरिवोविदं धिष्ण्या युवमिति च। – वा०प्रा० ४/३४.

६. आप्याय्यमानो यमो रय्यै --------- सन्ताय्येति च। – वा०प्रा० ४/१५३.

७. ज्योतिश्च्यवनः श्येनः श्यामं ------ ज्याच्छ्यति। – वा०प्रा० ४/१५५.

(११) वा.प्रा. ४/१५६ के अनुसार 'जुषस्व यविष्ठ्य' और 'शोचा यविष्ठ्य' इनमें भी एक यकार है।[१] जैसे— 'तज्जुषष्व यविष्ठ्य' (वा.सं. ११/७३)। 'बृहच्छोचा यविष्ठ्य' (वा.सं. ३/३)। इत्यादि।

(१२) वा.प्रा. ४/१५७ के अनुसार स्य और ण्य भी एक यकार वाले हैं।[२] जैसे— 'कस्य' (वा.सं. २३/४७)। 'यस्य' (वा.सं. ७/२९)। 'हिरण्यम्' वा.सं. ३४/५२)।

(१३) वा.प्रा. ४/१५८ के अनुसार एक पद में पूर्ववर्ती स्वर वाले शकार, चकार और जकार के द्विच्चारित होने पर उनके बाद में एक यकार होता है।[३] जैसे— 'अश्श्याम तङ्कामम्' (वा.सं. १८/७४)। 'पश्श्येम शरदः शतम्' (वा.सं. २६/२८)। इत्यादि।

(१४) वा.प्रा. ४/१५९ के अनुसार व्यञ्जन बाद में होने पर अथवा व्यञ्जन पूर्व में होने पर शकार, चकार और जकार के बाद में यकार नहीं होता है।[४] जैसे— 'अदृश्श्रमस्य केतवः' (वा.सं. ८/४०)। 'प्रशस्तदर्शतम्' (वा.सं. ११/३७)। इत्यादि।

(१५) वा.प्रा. ४/१६० के अनुसार जातूकर्ण्य के मत से ऋषि का वाचक न होने पर 'कश्यप' में यकार नहीं होता है।[५] जैसे— 'अपामुद्रो मासाङ्कच्छपः' (वा.सं. २४/३७)।

(१६) वा.प्रा. ४/१६१ के अनुसार उच्चैः, रज्जुः और मज्जानः में भी यकार नहीं है।[६] जैसे— 'उच्चैर्घोषाय' (वा.सं. १६/१९)। 'रज्जुसन्दानमादाय' इत्यादि।

(१७) वा.प्रा. ४/१६२ के अनुसार मर्त्तो वुरीत, मर्त्तेष्वग्निः, परोमर्त्तः और ते मर्त्तः में भी यकार नहीं है।[७] जैसे— 'परो मर्त्तः परः श्वा' (वा.सं. २२/५)। 'यदा ते मर्त्तो अनु' (वा.सं. २९/१८)।

(१८) वा.प्रा. ६/२६ के अनुसार वेत्तु, वित्त्वा, अस्मद्द्रय, पात्त्रम्, अभिच्यम्, मृत्तिका, दध्वम्, दात्त्रम्, समाववर्ति, ऋद्धिः, वृद्धिः, अराद्ध्यै, अर्द्ध, शुद्ध, वुद्ध, नक्तम्,

---

१. जुषस्व यविष्ठ्य शोचा यविष्ठ्येति च। — वा०प्रा० ४/१५६.

२. स्येति ण्यत्वं च। — वा०प्रा० ४/१५७.

३. स्वरपूर्वाश्च शचजाः समानपदे द्विरुक्ताः। — वा०प्रा० ४/१५८.

४. व्यञ्जनपराश्च न। — वा०प्रा० ४/१५९.

५. कश्यपस्यानार्षेये जातूकर्ण्यस्य। — वा०प्रा० ४/१६०.

६. उच्चररज्जुमज्जानश्च। — वा०प्रा० ४/१६१.

७. मर्त्तो वुरीत मर्त्तेष्वग्निः परो मर्त्तस्ते मर्त्त इति च। — वा०प्रा० ४/१६२.

निष्ण्ण, स्विन्न, अन्न और सन्न– इनमें दो-दो स्पर्श हैं।[१] जैसे– 'प्रति त्वा पर्वती वेत्तु' (वा.सं. १/१९)। 'वित्त्वा गातुमित' (वा.सं. २/२१)। इत्यादि।

(१९) वा.प्रा. ६/२७ के अनुसार क्ष, वृ., चि, श्वि, स, त, य से बाद में स्थित त्र में दो स्पर्श नहीं होते हैं, एक ही स्पर्श होता है।[२] जैसे– 'क्षत्रस्य योनिरसि' (वा.सं. १०/८)। 'वृत्रं वधेत्' (वा.सं. १०/८)। 'चित्रं देवानाम्' (वा.सं. ७/४२)। 'श्वित्र आदित्यानाम्' (वा.सं. २४/३९)। 'सत्रस्य ऋद्धिः' (वा.सं. १३/३१)। 'यत्र पूर्वे परेताः' (वा.सं. १३/३१)।

(२०) वा.प्रा. ६/२८ के अनुसार ईध्र्याय, वार्ध्रीनस और उद्र में दो स्पर्श नहीं होते हैं, यदि ये गतिशील द्रव्यों के वाचक हों।[३] जैसे– 'नमो वीध्र्याय च' (वा.सं. १६/३८)। 'वार्ध्रीनसस्ते' (वा.सं. २४/३९)। 'अपामुद्रो मासां कश्यपः' (वा.सं. २४/३७)।

(२१) वा.प्रा. ६/२९ के अनुसार उपेत्स्थितः, उत्त्तम्भनम्, उत्त्तभान, उत्त्थाय, उत्त्थिताय में तीन स्पर्श होते हैं।[४] जैसे– 'क्रयायोपोत्त्थितोऽसुरः' (वा.सं. ८/५५)। 'वरुणस्योत्त्तम्भनम्' (वा.सं. ४/३६) इत्यादि।

(२२) वा.प्रा. ६/३० के अनुसार बर्हिरङ्ङक्ताम्, भद्रेण पृङ्ङक्तम्, पङ्ङ्क्तिः, समङ्ङ्धि, परिवृङ्ङ्धि, पाङ्ङ्त्रान् में तथा आरपन्ती को छोड़कर इस प्रकार के अन्य पदों में एक स्पर्श के पूर्व में दो अनुनासिक होते हैं।[५] जैसे– 'सम्बर्हिरङ्ङ्क्ताम्' (वा.सं. २/२२)। 'सम्मा भद्रेण पृङ्ङ्क्तम्' (वा.सं. ९/४)। इत्यादि।

●

---

१. वेत्तु वित्त्वास्मद्ध्र्यक् ---------- निषण्णस्विन्नान्नसन्नाश्च।। – वा०प्रा० ६/२६.

२. न क्षवृचिश्विसतयेभ्यस्त्रैकम्। – वा०प्रा० ६/२७.

३. ईध्र्यायवार्ध्रीनसोद्राश्चराश्चेत्। – वा०प्रा० ६/२८.

४. उपेत्स्थित उत्त्तम्भनमुत्त्तभानोत्त्यायोत्त्थितायेति त्रीणि। – वा०प्रा० ६/२९.

५. बर्हिरङ्ङ्क्ताम्भद्रेण पृङ्ङ्क्तं ---- पूर्वोवारपन्तीवर्जमिति च। – वा०प्रा० ६/३०.

सप्तम अध्याय

क्रमपाठ-प्रकरण

संहिता-पाठ और पद-पाठ के बाद में क्रम-पाठ का स्थान है, क्रमपाठ द्वारा संहिता तथा पद-पाठ—दोनों का ज्ञान एक साथ ही हो जाता है, क्योंकि क्रमापाठ में संहितस्थ पद तथा पद-पाठ—दोनों का स्वरूप साथ ही दिखलायी पड़ता है। वा.प्रा. के चतुर्थ अध्याय के सोलह सूत्रों और सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में क्रम-पाठ का विधान किया गया है।

क्रमपाठ का प्रयोजन

सूत्रकार कात्यायन ने क्रम-पाठ का प्रयोजन स्मृति बतलाया है। तात्पर्य यह है कि क्रम-पाठ, संहिता-पाठ और पद-पाठ के विषय को दृढ़स्मरण (पक्का) बना देता है। अतएव संहिता-पाठ और पद-पाठ की दृढ़ता के लिए क्रम-पाठ का अध्ययन किया जाता है। भाष्यकार उवट का कथन है कि सूत्रकार ने प्रयोजन का यह दिग्दर्शनमात्र किया है। क्रम-पाठ के प्रयोजन अन्य तो बहुत हैं। यथा—

(१) दो-दो पदों की वर्ण-संहिता और उदात्त आदि स्वरों की संहिता का ज्ञान क्रम-पाठ से ही होता है।

(२) संहिता के अवसानों का ज्ञान क्रम-पाठ से होता है।

(३) क्रम-पाठ शिष्टों के मध्य में सम्मान प्रदान करता है।

(४) क्रम-पाठ अध्ययन सिद्ध तत्त्व है। अतः यह अध्ययन पुण्यप्रद होता है।

क्रम-पाठ के निर्माण के नियम

(१) वा.प्रा. ४/१८३ के अनुसार क्रम-पाठ में अपृक्त पदों को छोड़कर दो-दो पदों को मिलाता है। उत्तरवर्ती पद के साथ उसके उत्तरवर्ती पद को मिलाता है। यह क्रम अवसान तक चलता है।[१] जैसे— 'उप त्त्वा। त्वाग्ने। अग्ने हविष्मतीः। हविष्मतीर्घृताचीः। घृताचीर्हय्यन्त। यन्त हर्य्यत। हर्य्यतेतिहर्य्यत (क्र.पा.) उप त्वागते हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत (वा.सं. ३/४)।

---

१. द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमावसानादपृक्तवर्जम्। — वा.प्रा॰ ४/१८३.

(२) वा.प्रा. ४/१८४ के अनुसार अपृक्त-संज्ञक पद है मध्य में जिनके ऐसे तीन पद मिलाये जायें तो वह त्रिक्रम कहा जाता है।[१] जैसे– 'सोमाय हंसान्। हंसान् आ लभते। आ लभते।' (क्र.पा.) सोमाय हंसानालभते। (वा.सं. २४/२२)। 'उदु त्वा। ॐ इत्यूँ। त्वा विश्वे देवा' (क्र.पा.) उदुत्वा विश्वेदेवा (वा.सं. १२/३१)।

(३) वा.प्रा. ४/१८५ के अनुसार आकार के साथ (उसके) उत्तरवर्ती पद को दूसरी बार मिलावे।[२] जैसे– 'सोमाय हंसान्। हंसान् आलभते। आ लभते।' (क्र.पा.) सोमाय हंसानालभते। (वा.सं. २४/२२)।

(४) वा.प्रा. ४/१८६ के अनुसार मो षू णः और अभी षु णः भी तीन-तीन पदों के क्रम वर्ग हैं।[३] जैसे– 'मो षू णः। मो इति मो। सु नः। न इन्द्र।' (क्र.पा.) मो षू ण इन्द्र (वा.सं. ३/४५)। 'अभी षु णः। सु नः। नः सखीनाम्' (क्र.पा.) अभी षु णः सखीनाम् (वा.सं. २७.४१)।

(५) वा.प्रा. ४/१८७ के अनुसार सु पद के पूर्व में अपृक्त-संज्ञक पद हो और बाद में नकार हो तो चार पदों का क्रम वर्ग बनाया जाता है।[४] जैसे– 'ॐ इत्यूँ। सु नः। न ऊतये' (क्र.पा.) ऊर्ध्वं ऊ षु णः (वा.सं. ११/४१)।

(६) वा.प्रा. ४/१८८ के अनुसार सु पद के पूर्व में अपृक्त-संज्ञक पद हो और बाद में मकार हो तब भी कतिपय आचार्य चार पदों का क्रम-वर्ग बनाते हैं।[१] जैसे– 'महीमू षु मातरम्। ॐ इत्यूँ। सु मातरम्। मातरं सुव्रतानाम्' (क्र.पा.) महीम् षु मातरं सुव्रतानाम् (वा.सं. २१/५)।

(७) वा.प्रा. ४/१८९ के अनुसार सु पद के साथ उसके उत्तरवर्ती (पद) को दूसरी बाद मिलाता है।[२] जैसे– 'मो षू णः। मो इति मो। सु नः' (वा.सं. ३/४५)। 'अभी षु णः। सु नः। नः सखीनाम्' (वा.सं. २७/४१)।

क्रम-पाठ में स्थितोपस्थित

क्रम-पाठ में दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाए जाते हैं। प्रत्येक पद का दो क्रम-वर्गों

---

१. अपृक्तमध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः। – वा.प्रा. ४/१८४.

२. पुनराकारेणोत्तरम्। – वा.प्रा. ४/१८५.

३. मो षू णाभी षु णौ च। वा.प्रा. ४/१८६.

४. चत्वार्यपृक्तपूर्वे नकारपरे सौ। – वा.प्रा. ४/१८७.

५. मकारपरे चैके। – वा.प्रा. ४/१८८.

६. पुनः सुपदेनोत्तरम्। – वा.प्रा. ४/१८९.

में उच्चारण होता है। प्रत्येक पद पहली बार क्रम-वर्ग के अन्त में आता है। प्रत्येक पद पहली बार क्रम-वर्ग के अन्त में आता है और दूसरी बार क्रम-वर्ग के आदि में आता है। प्रथम क्रम-वर्ग में पद का अन्तिम वर्ण सर्वदा अविकृत रूप में दिखलाई पड़ता है और द्वितीय क्रम-वर्ग में पद का प्रथम वर्ण सर्वदा अविकृत रूप में दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार अधिकांश स्थलों में सामान्य क्रम-वर्गों में ही पदों के मूल रूप दिखलाई पड़ जाते हैं। किन्तु कतिपय स्थलों में पदों के मूल रूप सामान्य क्रम-वर्गों में दिखलाई नहीं पड़ते हैं। वहाँ सामान्य क्रम-वर्ग बनाने के अनन्तर मध्य में इति रखकर सम्बद्ध पद का द्विरुच्चारण किया जाता है। इसे स्थितोपस्थित कहते हैं। वा.प्रा. स्थितोपस्थित के अधोलिखित स्थल विदित हैं—

(१) वा.प्रा. ४/१९० के अनुसार उत्तरवर्ती पद के साथ संहित (मिलाये हुए) पूर्ववर्ती पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए, यदि पूर्ववर्ती पद अवग्रह के योग्य है।[१] जैसे— 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे। श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ-तमाय' (क्र.पा.) श्रेष्ठतमाय कर्मणे (वा.सं. १.१)

(२) वा.प्रा. ४/१९१ के अनुसार शाकटायन 'सु' पद में स्थितोपस्थित पाठ मानते हैं।[२] जैसे— मो षू णः। मो इति मो। स्विति सु' (वा.सं. ३/४५)। यहाँ पर स्थितोपस्थित पद के स्वरूप को बतलाने के लिए किया गया है। वेष्टक के बिना भी पद का स्वरूप ज्ञात होता है, इसलिए शाकटायन का मत ठीक नहीं है।

(३) वा.प्रा. ४/१९२ के अनुसार पद के मध्य में दीर्घ होने पर उस पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[३] जैसे— 'मामहन्तामदितिः। ममहन्तामिति मम हन्ताम्' (क्र.पा.) मामहन्तामदिति (वा.सं. ३३/४२)।

(४) वा.प्रा. ४/१९३ के अनुसार मूर्धन्यभाव के स्थल में स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[४] जैसे— सिषासन्तो वनामहे। सिसासन्त इति सिसासन्तः' (वा.सं. २६/१८)।

(५) वा.प्रा. ४/१९४ के अनुसार प्रगृह्य-संज्ञक पद में स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[५] जैसे— 'अमी रोचने। अमी इत्यमी। रोचने दिवः'' (वा.सं., १३/८)।

---

१. पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य। — वा.प्रा. ४/१९०.

२. सुपदे शाकटायनः। — वा.प्रा. ४/१९१.

३. अन्तःपददीर्घीभावे। — वा.प्रा. ४/१९२.

४. विनामे। — वा.प्रा. ४/१९३.

५. प्रगृह्ये। — वा.प्रा. ४/१९४.

(६) वा.प्र. ४/१९५ के अनुसार संहिता पाठ में जिसका रेफ-स्वरूप ज्ञात नहीं होता है उस रिफित पद में स्थितोपस्थित पाठ किया जाता है।[१] जैसे– 'नेष्टः पिब। नेष्टरिति नेष्टः। पिब ऋतुना' (वा.सं. २६/२१)।

(७) वा.प्रा. ४/१९६ के अनुसार अवसान में स्थित पद में भी स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।[२] जैसे– 'अग्नये जातवेदसे। जातवेदस इति जात-वेदसे' (वा.सं. ३/२)।

क्रम-पाठ में इति के साथ सन्धि

परिग्रह (स्थितोपस्थित, वेष्टक) में प्रथम पठित पद के अन्तिम वर्ण के साथ इति की सन्धि कैसे की जानी चाहिए इसका विधान वा.प्रा. के सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में किया गया है। सूत्रों के अध्ययन से यह विषय सरलता से समझा जा सकता है।

(१) वा.प्रा. ७/१ के अनुसार अवसान में विद्यमान वर्णों के परिग्रह का विधान किया जायेगा।[३]

(२) वा.प्रा. ७/२ के अनुसार प्लुत से अन्य कण्ठ्य स्वर (अ, आ) का एकार के रूप में परिग्रह करे।[४] जैसे– 'यच्छन्तां पञ्च। पञ्चेति पञ्च' (वा.सं. १/९)। इत्यादि।

(३) वा.प्रा. ७/३ के अनुसार इ वर्ण का ईकार के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[५] जैसे– 'पशून् पाहि। पाहीति पाहि' (वा.सं. १/१)। 'अश्विना सूनृतावती। सूनृतावतीति सू-नृतावती' (वा.७/११)।

(४) वा.प्रा. ७/४ के अनुसार उवर्ण का वकार के रूप में परिग्रह करे।[६] जैसे– 'तव द्युम्मान्युत्तमानि सन्तु। सन्त्विति सन्तु' (वा०सं० ३३/१२)।

(५) वा.प्रा. ७/५ के अनुसार 'औकार' का भी वकार के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[७] जैसे– 'अभिषिञ्चाम्यासौ। असावित्यसौ।' (वा.सं. ९/३०)।

(६) वा.प्रा. ७/६ के अनुसार ह्रस्व कण्ठ्य (स्वर अकार) है पूर्ववर्ती वर्ण जिसका ऐसे

---

१. रिफितेऽनिरुक्ते। – वा.प्रा. ४/१९५.

२. अवसाने च। – वा.प्रा. ४/१९६.

३. अथावसानानि। – वा.प्रा. ७/१.

४. कण्ठ्यस्वरमेकारेण परिगृह्णीयात् प्लुतवर्जम्। – वा.प्रा. ७/२.

५. इवर्णमीकारेण। – वा.प्रा. ७३.

६. उवर्णं वकारेण। – वा.प्रान्न ७/४.

७. औकारं च। – वा.प्र. ७/५.

अरिफित विसर्जनीयान्त (पद) का विवृत्ति के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[1] जैसे— 'होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः। ईड्य इतीड्यः' (वा.सं. ३/१५)।

(७) वा.प्रा. ७/७ के अनुसार दीर्घ कण्ठ्य (स्वर आकार) है पूर्ववर्ती वर्ण जिसका ऐसे विसर्जनीयान्त (पद), एकारान्त, ऐकारान्त, प्लुत तथा प्रगृह्य पद का विवृत्ति के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[2] जैसे— 'यतो जातो अरोचथाः। अरोचथा इत्यरोचथाः।' (वा.सं. ३/१४)। 'मन्त्रं वोचेमाग्ये। अग्नय इत्यग्नये' (वा.सं. ३/११)। 'उभा राधसः सह मादयध्यै। मादयध्या इति मादयध्यै' (वा.सं. ३/१३)। 'भुवनमा विवेशा३। विवेशा इति विवेशा३' (वा.सं. २३/४९)। 'अन्यान्या वत्समुपधापयेते। धापयेत इति धापयेते' (वा.सं. ३३/५)।

(८) वा.प्रा. ७/८ के अनुसार कतिपय आचार्यों के मत से औकार में समाप्त होने वाले पद का भी विवृत्ति के रूप परिग्रह करना चाहिए।[3] जैसे— 'अभिषिञ्चाभ्यसौ। असा इत्यसौ।'

(९) वा.प्रा. ७/९ के अनुसार अकण्ठ्य स्वर (भावी) है पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) जिसका ऐसे विसर्जनीयान्त (पदों) का एवं रिफित विसर्जनीयान्त (पदों) का रेफ के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[4] जैसे— 'अग्निमीळे पूर्वचित्तिन्नमोभिः। नमोभिरिति नमःभिः' (वा.सं. १३/४३)।

(१०) वा.प्रा. ७/१० के अनुसार प्रथम स्पर्श में समाप्त होने वाले पद का तृतीय स्पर्श के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[5] जैसे— 'विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्। अस्मदित्यस्मत्।' (वा.सं. २१/३)। 'सममृतत्वमानट्। आनडित्यानट्' (वा.सं. १७/८९)।

(११) वा.प्रा. ७/११ के अनुसार पञ्चम स्पर्श में समाप्त होने वाले पद का पञ्चम स्पर्श के रूप में परिग्रह करना चाहिए।[6] जैसे— 'वर्त्ती रुद्रा नृपाय्यम्। नृपाय्यमिति नृपाय्यम्।' (वा.सं. २०/८१)।

---

१. ह्रस्वकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तमरिफितं विवृत्या। — वा.प्रा. ७/६.
२. दीर्घकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तमेकारान्तमैकारान्तं प्लुतं प्रगृह्यं च। — वा.प्रा. ७/७.
३. औकारान्तं चैके। — वा.प्रा. ७/८.
४. भाव्युपधरिद्विसर्जनीयान्तानि रेफेण। — वा.प्रा. ७/९.
५. प्रथमान्तं तृतीयेन। — वा.प्रा. ७/१०.
६. उत्तमान्तमुत्तमेन। — वा.प्रा. ७/११.

कला प्रकाशन
बी. 33/33 -ए-1- न्यू साकेत कालोनी
बी. एच. यू., वाराणसी-5

कला प्रकाशन

बी. 33/33 -ए-1- न्यू साकेत कालोनी
बी. एच. यू., वाराणसी-5